काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन

गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि में नारी और मानव-जीवन में उसका महत्त्व

(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

डॉ० ज्ञानवती त्रिवेदी
रीडर, हिन्दी विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशक
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–५

प्रथम संस्करण, १९६७

मूल्य : १० रुपये

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी ५

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।

श्री माँ के चरणों में

—'ज्ञानेश्वरी'

उपक्रम

विश्वकवि गोस्वामी तुलसीदास का काव्य सार्वभौम है। उन्होंने जो कुछ लिपिबद्ध किया है वह विशेष देश और विशेष काल में होते हुए भी देशकाल की सीमा से मुक्त, मानवमात्र के सर्वकालव्यापी जीवन के लिए है। उसमें मानव जीवन के उन मूल तत्त्वों और सिद्धान्तों का विश्लेषण है जो उसे कभी भी और कहीं भी प्रेरणा प्रदान कर परमपद तक पहुँचा सकते हैं। मानव-स्वभाव सर्वत्र एक ही प्रकृति द्वारा निर्मित और एक से विकारों एवं वासनाओं से आबद्ध रहता है। वे ही उसका जीवन विशिष्ट दिशाओं में मोड़कर उसे भिन्न-भिन्न मार्गों पर अग्रसर कर विभिन्न लक्ष्यों तक ले जाया करते हैं। अत. उसे एक निर्दिष्ट परमलक्ष्य की ओर उन्मुख करने के लिए उसकी भावनाओं, विकारों और विचारों को एक निर्दिष्ट साँचे में ढालना चाहिए, इस विचार से तुलसीदास ने मानव मात्र को परमलक्ष्य तक पहुँचाने के लिए 'श्रुति सम्मत हरि-भक्ति पथ' को ही सर्वाधिक प्रशस्त सिद्ध किया। उनके विचार से उसी मार्ग पर चलकर मानव वह परित्राण प्राप्त कर सकता था जो विश्व-संताप-शमन हेतु उसका चिर-अभीप्सित प्राप्य रहा है। कवि और मनीषी ही नही, लोक-द्रष्टा और पथ-प्रदर्शक, सच्चे समाजसेवी के नाते तुलसीदास ने अपने इस लक्ष्य में कितनी सफलता प्राप्त की इसका प्रमाण तो समय है। दीर्घकाल से उनके काव्य की जो प्रतिष्ठा होती रही है और आज भारतीय संस्कृति की प्रतिकूल प्रकृति वाले देशों में भी बढ़ती जा रही है उससे उनका महत्त्व स्वत-सिद्ध है।

आधुनिक युग में उनका महत्त्व पश्चिमी विद्वानों ने भी पहचाना और एच० एच० विल्सन, गार्सा द तासी, एफ० एस० ग्राउस और ग्रियर्सन प्रभृति विद्वानों ने उनका अपनी दृष्टि से मूल्यांकन किया। ऐसे प्रकाण्ड विद्वान् और लोकप्रिय महात्मा का जीवनवृत्त लिपिबद्ध करने की उनकी विशेष इच्छा थी और उस समय उपलब्ध सामग्री के आधार पर अपने-अपने ढग से उन्होंने उसका विचार किया। हिन्दी के अनेक विद्वानों ने भी अपने-अपने शोध और अनुमान के बल पर यह कार्य आगे बढ़ाया।

हिन्दी के उत्थान का युग आया और उसके प्रमुख लेखकों एवं विद्वानों ने गोस्वामी जी की प्रशंसा एवं आलोचना में कोई कसर उठा नहीं रखी।

ऐसा कोई प्रमुख विद्वान् न बचा जिसने उनके संबंध में कुछ न कुछ लिखकर अपनी लेखनी कृतकृत्य करने का प्रयत्न न किया हो। उनके जीवन और काव्य पर हर दृष्टि से विचार किया गया। उनकी कृतियों की प्रामाणिकता एवं काल-क्रम, उनके ऊपर आर्ष ग्रन्थ-प्रभाव, उनके दार्शनिक मत, धार्मिक मत, सामाजिक मत एवं उनके काव्य-सौष्ठव पर एक से एक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों का प्रणयन होता रहा। इन सबका वृहत् परिचय डा० राजपति जी दीक्षित ने अपने शोध-प्रबन्ध 'तुलसीदास और उनका युग' के 'निवेदन' में बड़े धैर्य के साथ दिया है। उसमें उल्लिखित नामों के अतिरिक्त इधर कुछ और कृतियाँ भी प्रकाशित हुई हैं। यहाँ उन लोगों का विवरण आवश्यक है जिन्होंने प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध विवेचना की है। सच पूछिए तो इस संबंध में गम्भीरतापूर्वक मनन और विवेचन करने की प्रेरणा विद्वानों के हृदय में नहीं हुई। फलतः इस विषय पर उनके बहुमूल्य विचार सामने नहीं आ सके। संभवतः इस कारण कि या तो उन्होंने तुलसीदास की लोक-दृष्टि, धर्म-भावना, भक्ति-निरूपण, काव्य-सौष्ठव आदि को उनकी आलोचना में प्रधानता दी और इस विषय को गौण ठहराने के कारण इसके लिए उन्हें अवकाश ही नहीं मिला अथवा इस पथ पर पैर रखते ही 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी' ने सम्मुख उपस्थित होकर उनकी गति को अवरुद्ध और साहस को शिथिल कर दिया। इस प्रकार कुछ लोगों ने तुलसीदास की धवल-कीर्ति में उनकी इस भावना को कालिमा रूप मान, उसके विस्तार का प्रयत्न छोड़, उससे विरत हो जाना ही उचित समझा।

स्वर्गीय आचार्य गुरुवर पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने गोस्वामी जी का मूल्यांकन जिस गंभीरता और विद्वत्ता से किया, वह सर्वविदित है। उसी ढंग की आलोचना स्वर्गीय आचार्य पं० चंद्रबली जी पांडे एवं आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र की रही। श्रद्धेय आचार्यों की दृष्टि तुलसीदास के अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों पर ही केन्द्रित रही और उन्हें स्वतंत्ररूप से उनकी नारी-संबंधी विचारधारा को अपनी आलोचना का विषय बनाने का अवकाश नहीं रहा। श्री पांडे जी ने अवश्य ही 'तुलसी की जीवन भूमि' में अपने पांडित्य-पूर्ण विवेचन के परिणामस्वरूप तुलसीदास की पत्नी एवं उनके विवाह के सम्बन्ध में कुछ नवीन विचार प्रस्तुत किए। डा० राजपति दीक्षित के शोधप्रबन्ध 'गोस्वामी तुलसीदास और उनका युग' में उस विशाल युग की व्यापक छानबीन में लगी हुई दृष्टि नारी-जीवन के वृहत् क्षेत्र की ओर जाने का अवसर नहीं पा सकी और इने-गिने शब्दों में इसका संकेत मात्र ही वहाँ हो सका। 'संत

'तुलसीदास और उनके संदेश' में उन्होंने तुलसी की सतदृष्टि से ही इस प्रश्न को परखने का प्रयत्न किया और नारी-निन्दा का ही कुछ उल्लेख करके इसे समाप्त कर दिया।

इस प्रकार इस विषय पर पूर्ण गंभीरता और विस्तार से विचार नहीं हो सका, परन्तु 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी' का आकर्षण लेखको और आलोचकों को इस सबध मे दो-चार शब्द कहने के लिए बाध्य करता ही रहा और तुलसीदास की नारी-निन्दा की चर्चा बराबर सुनाई पडती रही। प्रारंभिक लेखकों मे इस विषय पर सबसे बृहत् प्रयास प० रामचद्र दुबे का है। उन्होंने अपने निबंध 'गोस्वामी तुलसीदास जी और नारी-जाति' मे इस समस्या पर विचार किया है।[1] नारी-जाति के विविध पक्षों और उससे सम्बद्ध अन्य प्रश्नो पर विचार न कर उनका सारा ध्यान कतिपय विद्वानों द्वारा तुलसीदास पर किए गए नारी-निन्दा के आरोप का परिहार करने में ही केन्द्रित हो गया है और मिश्रबंधुओं एवं बाबू शिवनन्दन सहाय के विचारों को उद्धृत कर उनका खण्डन करने का प्रयत्न ही वहाँ प्रमुख है। इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र प्रकाशित लेखो अथवा तुलसीदास सम्बन्धी अनेक पुस्तक-पुस्तिकाओ में जहाँ कहीं नारी-विषयक कुछ विवेचन है वहाँ लोगो की दृष्टि नारी-पात्रो के चरित्र-चित्रण अथवा विशेषरूप से नारी-निन्दा पर ही टिकी है। इस कोटि के विचारको ने हेर-फेर के साथ नारी-निन्दा के परिहार के लिए ही अपनी लेखनी उठाई और नाना प्रकार से, विविध कारणो का उल्लेख कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि एक विरक्त संत होने के नाते स्त्री को त्याज्य मानकर ही उन्होंने ऐसा किया है। इसका समर्थन किया गया कि नारी-निन्दा करके तुलसीदास ने कोई अपराध नहीं किया। अन्य संतों एव नीतिकारों की घोर नारी-निंदा परक एवं कटु उक्तियों की तुलना तुलसीदास के वाक्यों से करके उन्हें हल्का सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया। कवि के द्वारा अनेक आदर्श नारी पात्रों के चित्रण एवं उनके प्रति उसकी पूज्य भावना का समर्थन भी इसी दृष्टि से किया गया है।

तात्पर्य यह कि या तो विद्वानों ने इस विषय को एक प्रकार से अछूता ही रहने दिया अथवा इस संबंध में थोड़ा-बहुत प्रयत्न यदि हुआ तो वह चरित्र-चित्रण एवं नारी-निंदा के प्रश्न तक ही परिमित रहा। सच पूछिए तो इस

---

१ देखिए 'तुलसी-ग्रंथावली' भाग ३।

प्रश्न पर भी खुलकर और जमकर विचार करने का भरपूर प्रयास नहीं ही हुआ। नारी का आध्यात्मिक और लौकिक स्वरूप क्या है, उसका मानव के अन्तर और बाह्य जगत् से क्या संबन्ध है और पुरुष के जीवन में नारी का क्या योग तथा महत्त्व है, इस संबंध में गहराई में प्रवेश कर तुलसीदास की विचारधारा पकड़ने और परखने की चिन्ता साहित्य के किसी विचारक अथवा तुलसीदास के किसी उपासक को नहीं हुई। किसी भी देश और किसी भी काल में किसी भी समाज में मानव के उत्कर्ष एवं अपकर्ष में नारी की महत्ता सर्वमान्य है। परन्तु तुलसीदास को युगप्रवर्तक और समाज-उद्धारक की उपाधि से एक स्वर से विभूषित करते हुए भी किसी विद्वान् का इस दृष्टि से उनके मूल्यांकन का विचार अथवा प्रयास न करना चिंतनीय है। जिसे हम युगद्रष्टा मानकर दावे के साथ कहें कि मानव-जीवन का कोई भी क्षेत्र उसकी दृष्टि से अछूता नहीं रहा और उसने सभी प्रकार से समाज और लोक के कल्याण का प्रयत्न किया, उसके संबंध में हम यह कभी न विचारें कि मानव-जाति और समाज के प्रमुख अंग नारी के महत्त्व का उसने कभी कोई मूल्यांकन किया या नहीं, तो यह उदासीनता या उपेक्षा सांस्कृतिक युग में कम से कम अच्छी तो नहीं मानी जा सकती। अतः इस दृष्टि से यह प्रबन्ध तुलसीदास के बृहत् आलोचना-साहित्य की कमी को पूर्ण करने का वांछित प्रयास है।

मानव-जीवन में स्त्री का योग असंदिग्ध रूप से प्रधान है। उसके बिना न सृष्टि संभव है और न उसका संचालन ही। पुरुष को तो उसके बिना लोक-जीवन नितान्त नीरस और व्यर्थ भी जान पड़ता है। स्त्री संसार की सबसे बड़ी विभूति है, सौन्दर्य का आकर है, शक्ति का केन्द्र है। प्रकृति और पुरुष के योग से निर्मित सृष्टि ब्रह्म और माया की अभिव्यक्ति है जिसके कण-कण में वे व्याप्त रहते हैं। जीव का अवतरण इसी के मध्य होता है। जीव-जगत् और ब्रह्म की यह गुत्थी सुलझाना ही दार्शनिकों का कर्तव्य रहा है। वह इसलिए कि इसे सुलझा लेने पर उस परम तत्त्व का बोध हो सकता है जो सभी का मूल है और जिसे प्राप्त करना मानव का परम पुरुषार्थ है। इस प्रकार से परम तत्त्व की प्राप्ति में प्रयत्नशील दार्शनिकों में से अधिकांश ने संसार को समझने के लिए संसार का त्याग अथवा इससे विराग को ही सर्वप्रथम आवश्यक ठहराया। कुछ ने इस विराग को इस हद तक पहुँचाया कि उसमें अनुराग के लिए किसी प्रकार से कोई स्थान नहीं रह गया। परन्तु

बहुतों ने संसार से विरक्त होकर भगवान् में अनुरक्त होना ही उचित समझा। विचारणीय है कि संसार का हर प्राणी न तो उससे विरक्त होकर उसे त्याग सकता है और न ऐसा होने पर संसार का क्रम ही चल सकता है। अतः व्यक्ति और लोक के कल्याण के लिए समाज के प्रत्येक प्राणी द्वारा संसार का सर्वथा त्याग अपेक्षित नहीं है। लोक की उपेक्षा कर लोक का कल्याण किस प्रकार संभव है? उसे आँखों से ओझलकर उसके दोष किस प्रकार देखे जा सकते हैं कि उनका परिहार हो? उसके कल्याण के उद्देश्य से उसमें प्रवेश कर, उसके गुण दोष परखकर संग्रह-त्याग बुद्धि से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करके ही उसे उत्कृष्ट बनाया जा सकता है। सामान्य प्राणी यदि संसार के मध्य इस पथ का अनुसरण नहीं करता तो वह इस भ्रम-जाल के पार नहीं हो सकता, उसी में पड़ा भटकता रहेगा।

अखिल लोक-कल्याण के हेतु ऐसे ही राज-मार्ग का निर्धारण लोकद्रष्टा का कार्य होता है। तुलसीदास ने यही किया है और यह बतला दिया है कि दर्शन को जीवन में ढालना ही दर्शन की सफलता और उसके विवेचन का लक्ष्य है। हमने दर्शन के विवेचन द्वारा जीव, जगत् और ब्रह्म-तत्त्व को समझ लिया परन्तु यदि उसे केवल शास्त्रों की अछूती संपत्ति अथवा वाणी-विलास का ही विषय रहने दिया तो हमारी प्रतिभा और परिश्रम का क्या सदुपयोग हुआ? तत्त्व-दर्शन तभी सफल है जब वह जीवन-दर्शन के रूप में हमारे समक्ष आए और जीवन-क्रम के रूप में ढलने के लिए प्रयुक्त हो। लोकद्रष्टा तुलसीदास की सबसे बड़ी देन यही है और है उनकी समग्र साधना की सम्पत्ति भी, जिसका उपयोग लोकहित के लिए करना ही उन्होंने श्रेयस्कर सिद्ध किया है। "कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई[1]॥" के अनुसार उन्होंने अपनी विचार-सम्पत्ति को मुक्तहस्त से सर्वजनसुलभ बना दिया है।

इस दृष्टि से तुलसीदास के काव्य का अध्ययन करने पर स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उन्होंने जो ब्रह्म को मानव तन धारण कर, पृथ्वी पर अवतरित हो लोक-लीला में लीन होते दिखलाया है, उसका लक्ष्य यही है कि इसे भली-भाँति समझ लिया जाए कि किस प्रकार परम तत्त्व भी संसार के लौकिक जीवन में व्याप्त होकर अपनी लीला किया करता है। उसका पृथ्वी पर

---

१ 'मानस', बाल० १८,९।

अवतरण बिना माया अथवा नारीतत्त्व के संभव नहीं है। यह मनु-शतरूपा के प्रसग मे सिद्ध कर दिया गया है। दंपती वरदान माँगते है केवल पुत्र रूप मे उसकी प्राप्ति का, और वरदान मिलता है :—

"आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥"[1]

क्योकि पुत्रवधू के बिना पुत्र-सुख अपूर्ण रहेगा। इस प्रकार नारीतत्त्व का महत्त्व प्रमाणित कर दिया जाता है।

दर्शन को जीवन मे ढालने के लिए दोनों को ही समझने की आवश्यकता है। जीव, जगत् और ब्रह्म के स्वरूप-बोध के साथ यह भी जान लेना अनिवार्य है कि मानव-जीवन का स्वरूप और उसका महत्त्व क्या है तथा उसका परम लक्ष्य एवं उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है। इन्हें स्पष्ट करने के लिए गोस्वामी जी ने न तो कोई दर्शन-ग्रंथ लिखकर उसकी व्याख्या करना उचित समझा और न लौकिक एवं सामाजिक जीवन की आलोचना के किसी ग्रंथ का प्रणयन करके ही उसका उपदेश दिया। सृष्टि और जीवन की उत्पत्ति और सचालन करने वाले से बढ़कर इसे बतलाने का अधिकारी दूसरा कौन हो सकता है कि इसका संचालन मानव किस प्रकार करे? उनके विचारानुसार वही अवतरित होकर यह मार्ग-दर्शन करता है कि अपनी लीला के हेतु निर्मित सृष्टि मे वह प्राणी को किस प्रकार जीवन-यापन करते देखना चाहता है। अतः वह स्वयं मानव-जीवन का आदर्श प्रस्तुत करता है। जब-जब मानव अपने धर्म से च्युत होता और सृष्टि विनाशोन्मुख होने लगती है, तब-तब वह नाना शरीर धारण कर उसे सँभालने का प्रयत्न करता और अपनी लीला का क्रम अविच्छिन्न रखने के साथ ही मानव का पथ-प्रदर्शन भी करता रहता है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी दृष्टि से मानव-जीवन को देखा है और अन्यों को भी यही दृष्टि प्रदान करने का प्रयास किया है। इसीलिए उनकी कृतियों मे अध्यात्म और काव्य का विलक्षण मेल है। जो ब्रह्म दर्शन का विषय है उसे घट-घट वासी मानकर हर व्यक्ति के हृदय का विषय बना देना उनका लक्ष्य है। यह कार्य शास्त्रार्थ द्वारा नही, सरस काव्य द्वारा ही सभव था और महाकवि ने किया भी यही है। उन्होंने इस क्षेत्र में सर्वथा अनोखा और अनूठा कार्य यह किया कि ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण शास्त्रानुमोदित शुष्क तर्क के आधार पर न कर एक कथा के द्वारा

---

१ 'मानस', बाल० ५६.४

बड़े सरस और हृदयग्राही रूप में मानव के घट मे उतार दिया और ब्रह्म का मनुष्य रूप में अवतरण दिखलाने के लिए दर्शन को काव्य मे अवतीर्ण कर दिया।

अध्यात्म और काव्य का यह अभिन्न योग तुलसीदास के कविकर्म की अद्भुत विशेषता है। उन्होंने अध्यात्म का अमृत काव्य के स्वर्णपात्र में प्रस्तुत कर दोनों में विशेषता उत्पन्न कर दी है। पात्र बिना भी अमृत अलौकिक रस-संपन्न रहता है। रस-पान पात्र बिना भी हो सकता है पर वह पूरा-पूरा गले के नीचे सरलता से नहीं उतरता। स्वर्ण-पात्र में प्रस्तुत होने पर उसकी शोभा के साथ उसे पान करने वाले का गौरव और सम्मान भी बढ़ता है। बहुमूल्य स्वर्णपात्र अमृतयुक्त होने पर अमूल्य हो जाएगा। इसी प्रकार तुलसीदास का बहुमूल्य काव्य अध्यात्म के योग से अमूल्य हो गया है। अन्य प्रसंग मे उद्धृत उनकी यह उक्ति उनके 'मानस' के संबंध मे भी सत्य सिद्ध होती है :—

"जलु पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति की रीति भलि।
बिलग होइ रसु जाइ कपट खटाई परत पुनि[1]॥"

'मानस' में अध्यात्म और काव्य का क्षीर-नीर योग है। बिरले 'संत हंस' ही इसमे से केवल अध्यात्म रूपी क्षीर का पान किया करते है। पर इसका जल कोई हेय पदार्थ नहीं। वह तो जीवन ही है और काव्य मे लोक-जीवन का महत्त्व कम नहीं है। तुलसीदास ने इस जीवन मे अध्यात्म का पय मिश्रित कर उसे 'भगति मधुरता' से युक्त कर अत्यन्त शीतल और संत.पहारी रस के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। दोनो को अलग-अलग करके उनके पान का प्रयत्न करना उस रस को नष्ट कर देना है। ऐसा करने से क्षीर अथवा नीर दोनों से ही रस बिलग हो जाता है। दोनो का रूप विकृत हो जाता और सब खटाई मे पड जाता है। अत: अध्यात्म पक्ष को बिलग कर तुलसीदास के काव्य—विशेष रूप से 'मानस'—का अध्ययन करना केवल उन्ही के साथ अन्याय नहीं अपनी बुद्धि के साथ भी अतिचार है। जो कवि बारबार यह घोषित करता है कि राम ही ब्रह्म है और उनके स्वरूप का निरूपण 'मानस' का लक्ष्य है, उसके काव्य का मूल्यांकन अध्यात्म को हटाकर करना कम से कम किसी सहृदय का कर्त्तव्य नही हो सकता। आज के युग में समालोचना भी लेखक के व्यक्तित्व को भी महत्त्व दे रही है। अत. किसी कवि की मूल विचारधारा

---

१ 'मानस', बाल० ६२।

की उपेक्षा कर उसका मूल्यांकन कहाँ तक उचित है, कहा नही जा सकता। इसलिए कवि के विचारो का परिशीलन करते समय उसके अध्यात्म-पक्ष का विचार करना अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए उसकी नारी सम्बन्धी दृष्टि पर विचार करते हुए उसके अध्यात्म पक्ष पर बराबर ध्यान रखा गया है और उसे सम्यक् रूप से समझने का प्रयास किया गया है। माया पर विचार इसी दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है और उसे यहाँ सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

किसी भी कवि अथवा लेखक की रचना को उसके विचारो एव सिद्धान्तों के प्रकाश मे समझना श्रेयस्कर है। कवि की दृष्टि का बोध उसके द्वारा अभिव्यक्त विचारों अथवा उसके द्वारा प्रस्तुत काव्य-सामग्री से होता है। महाकवि तुलसीदास ने यथास्थान अपने काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों को व्यक्त कर यह संकेत कर दिया है कि मेरा काव्य किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए। 'मानस' के प्रारम्भ मे ही खुले रूप में कवि की निश्छल घोषणा है :—

"नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषा निबन्धमतिमंजुलमातनोति[1]॥"

ज्ञात हो गया कि नाना निगम, आगम, पुराण और अध्यात्म-रामायण से उपलब्ध सामग्री का कवि ने 'क्वचिदन्यतोऽपि' के साथ योग कर अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया है। 'क्वचिदन्यतोऽपि' से तात्पर्य उपर्युक्त श्लोक मे इंगित सामग्री के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों के साथ कवि के भावो, विचारों एवं अनुभवो की उस विभूति से भी है जो उसने उक्त ग्रन्थों के मनन, चिन्तन एवं सत्सग तथा लोक-जीवन के अनुभवो से सचित की है। इसका उपयोग उसके विचार से किस रूप में श्रेष्ठ है यह भी बडे ही स्वच्छ रूप मे प्रस्तुत कर दिया गया है :—

"मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकबि कबित बुध कहही। उपजहिं अनत अनत छबि लहही॥
× × ×
हृदय सिधु मति सीपि समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जौं बरखै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकता मनि चारू॥

१ 'मानस' बाल० श्लोक ७

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहि रामचरित बर ताग।
पहिरहि सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग[1] ॥"

यहाँ काव्य का स्रोत, उसके सर्जन का लक्ष्य और उसकी सफलता का रहस्य समझाया गया है। मणि-माणिक्यादि की शोभा अपने उत्पत्ति-स्थान में नही, युवती के शरीर अथवा राजमुकुट में ही खिलती है। उसी प्रकार सत्काव्य की शोभा कवि के नहीं सामाजिक के हृदय में होती है। अतः सुजन-समाज में समादृत काव्य ही सफल काव्य है। इस प्रकार के काव्य का प्रणयन कैसे होता है यह भी बड़े ही अर्थ-गर्भ अप्रस्तुत द्वारा व्यक्त किया गया है। हृदय सागर, सुमति सीप, शारदा स्वाति और इनके योग से उत्पन्न मुक्ता ही कविता है। कवि के हृदय-सागर में उद्भूत असंख्य भाव-राशि में से सुमति द्वारा चयन किए हुए और वाग्देवी की कृपा से कान्तिमान भाव-मुक्ता ही काव्य में स्थान पा सकते हैं। निष्कर्ष यह कि सत्कवि की भावधारा. दैवीप्रेरणा होने पर ही विवेक से नियन्त्रित हो काव्य के पुनीत क्षेत्र मे प्रवेश पाती है, यहाँ-वहाँ चाहे जिस रूप मे बिखरती नही रहती। अत. भावमुक्ताओ का उचित उपयोग यही है कि उन्हें रामचरित के सूत्र मे युक्तिपूर्वक बिद्ध कर पिरो दिया जाए। तभी सुजन-समाज के हृदय मे उसकी प्रतिष्ठा होती है और फलस्वरूप वह स्वय ही इसके द्वारा शोभा और प्रेम को प्राप्त करता है। तुलसीदास का इष्ट यही है और उन्होने किया भी यही है। अध्ययन, मनन, सत्संग एवं लोक-जीवन से प्राप्त भाव-सामग्री ने शारदा के 'बर बारि बिचार' की वर्षा में प्रक्षालित हो जो रूप धारण किया, उन भाव-मुक्ताओं को ही रामचरित के सूत्र मे पिरोकर गोस्वामी जी ने उस मानसमुक्ताहार का प्रणयन किया, जिसमे हर मुक्ता अपने रूप रग के अनुसार उपयुक्त स्थान पर पिरोया हुआ उसकी शोभा-वृद्धि कर सज्जनों के मन को आकृष्ट करता रहता है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि तुलसीदास ने भाव और विचार को अलग करके नही देखा है। उनकी समस्त विचार-सामग्री रामचरित में अनुस्यूत है और उसी में प्रवेश कर खोजने पर हमे उसकी उपलब्धि हो सकती है। उसी के आधार पर उनके दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों की खोज विद्वज्जन करते रहे है। प्रस्तुत प्रबन्ध से सम्बद्ध उनके विचारों एवं भावो की प्राप्ति भी उनके राम-चरितगान के अन्तर्गत ही हो सकती है। कथा के विभिन्न पात्रो के स्वरूप-दर्शन में, उनके कथन अथवा कवि की उक्तियो के द्वारा ही हम जान सकते हैं

---

१ 'मानस', बाल० १५-१-३ ८, ९, १६.।

कि कवि ने नारीतत्त्व का निरूपण किस प्रकार से तथा उसकी अभिव्यक्ति का दर्शन किस रूप में किया है; नारी के आध्यात्मिक और लौकिक महत्त्व का उसने क्या मूल्यांकन किया एवं समाज और व्यक्ति के जीवन में उसका क्या योग देखा है। उपर्युक्त परिपाटी से ही इस विचारधारा को समझने का प्रयत्न यहाँ किया गया है। रामचरित के वृहत् सूत्र में आबद्ध किसी एक विशेष विचारधारा से सम्बद्ध सामग्री को कवि की वाणी का विश्लेषण करके ही प्राप्त किया जा सकता है। इस कारण व्याख्यात्मक शैली अपनानी पड़ी है। कवि की उक्तियों में एक से अधिक संकेतों की व्यंजना मिलती है। अत ऐसी उक्तियाँ एक से अधिक स्थानों पर उद्धृत करनी पड़ी है और इसमे पुनरुक्ति की आशंका नही रही है। उदाहरणार्थ निम्नांकित दोहा है :—

"दीपसिखा सम जुवति तनु मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि कामु मदु करहि सदा सत्सग[1] ॥"

नारद-राम-वार्ता का महत्त्व भी कई दृष्टियों मे है। अतः उक्त प्रसंग मे नारद के प्रति कहे गए राम के वचनो का उद्धरण अनेकत्र हुआ है।

सर्वमान्य है कि तुलसीदास युगद्रष्टा और युगप्रवर्तक थे। मानव-जीवन में नारी के स्थान के महत्त्व की उपेक्षा कोई भी विचारक नहीं कर सकता। फिर उस युग में तो यह प्रश्न बड़े विकट रूप में संमुख उपस्थित था। 'मानस' के कलियुग-वर्णन में तत्कालीन समाज की दुर्दशा का प्रतिबिम्ब पूरा नही तो विशेषांश मे अवश्य है। सामान्य रूप से भी मानव के लिए नारी का परित्याग कर किसी भी क्षेत्र में आगे बढना संभव नहीं है। अतः नारी का स्वरूप बिना समझे और उससे सबद्ध तत्कालीन समस्याओं का विचार बिना किए मानव के उत्थान का कोई भी पथ निर्दिष्ट करना किसी भी मनीषी के लिए संभव नहीं था। जिस समाज की मूल शक्ति ही निर्बल पड़ गई हो उसका उत्थान किसी अन्य शक्ति द्वारा सम्भव नहीं हो सकता था। लोकद्रष्टा ने भी प्रत्यक्ष देख लिया कि नारी के उत्थान में ही समाज का उत्थान और उसके उत्कर्ष मे ही मानव-जीवन का उत्कर्ष सन्निहित है।

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।"

की व्याप्ति को उन्होंने खूब समझा और इसे मनुष्य का राक्षसत्व दूर कर उसका देवत्व जागरित करने का मूल मंत्र बनाया। नारी की पूजा का

१ 'मानस॰' अरण्य॰ ४०

वास्तविक अर्थ क्या है और जीवन में उसका व्यवहार और निर्वाह किस रूप में होना चाहिए इसका पाठ पढ़ाने के लिए उन्होंने 'मानस' मे नारी के आध्यात्मिक और लौकिक रूप की प्रतिष्ठा की।

"जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना[१]॥"

द्वारा राम के स्वरूप का प्रतिपादन 'मानस' का लक्ष्य घोषित किया गया था। अतः राम के स्वरूप-प्रतिपादन के साथ उनकी अभिन्न शक्ति माया का स्वरूप-प्रतिपादन उसमे अनिवार्य रूप से समाविष्ट हुआ और यह हुआ नारी के आध्यात्मिक रूप का निरूपण। 'माया रूपी नारी' की जो घोषणा राम के द्वारा हुई और जिसका समर्थन उनके अनन्य भक्त काकभुशुंडि ने 'नारि बिस्व माया प्रकट' कहकर किया उसे उनके अनन्य सेवक तुलसीदास ने उनके ही 'चरित' मे चरितार्थ करके प्रमाणित कर दिया। राम के लौकिक चरित के अतर्गत नारी के भी विविध लौकिक रूपों का चित्रण कर यह स्पष्ट कर दिया गया कि वह किस प्रकार माता, पुत्री, बहन और पत्नी एवं अन्य रूपो मे श्रद्धा और आदर की अधिकारिणी है, और अपने स्नेह और ममता से मानव को सत्पथ पर अग्रसर कर सकती है। उसका अवलम्ब जीवन का वह अवलम्ब है जिसके सहारे केवल लोक-यात्रा ही सफलता से पूर्ण नही होती, परलोक-साधना और परम लक्ष्य की प्राप्ति भी सभव हो सकती है। इसे अनेक आख्यानों, प्रसंगों, विभिन्न पात्रो एवं उक्तियों द्वारा भाँति-भाँति से स्पष्ट कर दिया गया है।

नारी के शरीर और उसकी अन्तरात्मा का वह प्रकाश क्या है और कैसे प्राप्त होता है, जिससे मोहान्धकार दूर होता और जडता से मुक्त हो चेतन का अनुभव कर सत् और आनन्द की प्राप्ति की जाती है, यह भी 'दीपशिखा' के आलोक में प्रत्यक्ष कर दिया गया है। वहाँ पुरुष के लिए यह भी संकेत कर दिया गया है कि नारी की कामना शरीर-सुख की वासना से न कर शुद्ध सात्त्विक भावना से करो तो उसी में तुम उस मातृशक्ति को प्राप्त कर लोगे जिसके एक अंश की आभा बाहर प्रस्फुटित होकर तुम्हे अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। नारी भी उसी प्रकार परम शक्ति का एक रूप है जिस प्रकार तुम हो। तुम भी सच्चिदानन्द के अंश हो और वह भी। अब चाहे उसके रूप में अपने शुद्ध-प्रबुद्ध रूप को देखो अथवा अपने रूप मे उसे देखो, दोनों

---

१ 'मानस', उत्तर ६० ६।

एक ही हैं। यह समझ लो कि घट-घट वासी का रूप तुममें समान रूप से व्यक्त हो रहा है। स्वयं को पहचानो और यह पहचानो कि तुम्हारा अवतरण संसार में किस हेतु हुआ है। अपने आत्माराम को राम का साक्षात् कराओ और उसी का अनुसरण करो जो तुम्हारे और सभी के भीतर कूटस्थ है परन्तु राम के रूप में प्रकट हो लोक-लीला कर रहा है। देखो कि उसने नारी को किस रूप में देखा और उसके प्रति कैसा व्यवहार किया है। अपने जीवन में उसी पथ का अनुसरण करने पर तुम्हें बाहर के साथ अन्तर में भी उसी के दर्शन होंगे और उसकी सच्ची अनुभूति कर तुम भी 'हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम'[1] की प्राप्ति कर सकोगे। लोक के साथ परलोक भी बनेगा। प्रभु की लोक लीला के भागी बन उसमें उचित योग देकर उनके सच्चे सेवक का कर्तव्य कर सकोगे।

इस प्रकार नारी के आध्यात्मिक एवं लौकिक स्वरूप के साथ उसके महत्त्व का निदर्शन कर गोस्वामी जी ने लोक-कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है और राम तक पहुँचने का मार्ग इसी लोक जीवन के मध्य से जाता हुआ प्रत्यक्ष दिखा दिया है। जीवन के सामान्य कर्तव्यों का पालन करते हुए भी सच्चे भक्तियोग द्वारा किस प्रकार राम तक पहुँचा जा सकता है, यह भी 'मानस' के अंतर्गत दिखलाया गया है। संसार का परित्याग कर, ज्ञान, योग अथवा भक्ति को अपनाकर सन्यास और साधना द्वारा ही नहीं, सीधे और सरल राम-प्रेम से किस प्रकार जीवन सफल किया जा सकता है, इसका सूत्र एक दोहे में प्रस्तुत है :—

"प्रीति राम सों नीतिपथ चलिय राग रिस जीति।
तुलसी संतन्ह के मते इहै भगति की रीति ॥"[2]

इस प्रकार प्रस्तुत प्रबंध में तुलसीदास के काव्य को उन्हीं की विचारधारा के प्रकाश में समझने का प्रयत्न है। अन्य विद्वानों ने भी अनेक क्षेत्रों में इसी प्रकार उनके सिद्धान्तों को पकड़ने का प्रयत्न किया है; परंतु नारी के प्रदेश में आकर वे भी हिचकने लगे हैं। मर्यादावादी कवि ने नारी की मर्यादा का सर्वत्र ध्यान रखा है और तत्संबंधी अपनी धारणाओं, भावों एवं मान्यताओं को मर्यादा के आवरण में ही प्रस्तुत किया है। कवि की दृष्टि में नारीतत्त्व का जो रूप है, लोक-जीवन में जैसी उसकी अभिव्यक्ति है तथा मानव-जीवन

---

१ 'दोहा०' ७।
२ 'वही' ८६।

में उसका जो महत्त्व है, सभी का प्रतिपादन विविध नारी-पात्रों के चित्रण एवं सरस काव्य में कर दिया गया है। इन्हीं के परिशीलन और पर्यवेक्षण से हमें कवि के विचारों का सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

प्रस्तुत प्रबंध का विषय है —

"गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि में—नारी तथा मानव-जीवन में उसक महत्त्व।"

इसलिए इसके दो खंड हैं। प्रथम, गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि में नारी क्या है और द्वितीय, उनकी दृष्टि में मानव-जीवन में उसका महत्त्व क्या है? परन्तु ऊपर जो कुछ निवेदन किया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों पक्षों पर अलग-अलग दो पृथक् विषयों के रूप में विचार करना संभव नहीं है। उसमें पुनरुक्ति होने की पूरी संभावना है। नारी के स्वरूप-बोध के अन्तर्गत ही उसके महत्त्व का बोध भी समाविष्ट है। अत दो खण्डों के रूप में इस विषय का परिशीलन उचित नहीं समझा गया और सर्वत्र उन दोनों का समाहार कर दिया गया है।

इस विषय पर सभी दृष्टियों से गम्भीर और विशद् विवेचन किसी विद्वान् के द्वारा नहीं हुआ है। अत: प्रस्तुत प्रबंध इस दिशा में सर्वथा और आद्योपान्त मौलिक प्रयास है। इसमें प्रसंगवश काव्य-सम्बन्धी जो अन्य विचार व्यक्त किए गए हैं, उनके प्रसंग में विद्वानों के विचारों को उद्धृत कर, उनका खण्डन-मण्डन कर शोधप्रबंध की कलेवर-वृद्धि नहीं की गई है। विचारस्वातन्त्र्य के युग में उसकी आवश्यकता नहीं समझी गई। विज्ञ विद्वान् अन्य आलोचकों के विचारों से परिचित हैं ही। उनके अवलोकनार्थ यहाँ उतना ही प्रस्तुत करने का प्रयास है जितना अपने स्वतंत्र चिन्तन एवं मनन का परिणाम है। तुलसीदास के यहाँ 'यथामति' की पूरी छूट एवं उसका पूर्ण अधिकार है। यहाँ भी 'यथामति' उनके काव्य को सुलझाकर समझने-समझाने और हृदयंगम करने-कराने का प्रयास है। जहाँ तक हो सका है विचारसम्पत्ति को शोधप्रबन्ध की परिमित परिधि में समेटा गया है। अनेक भावमुक्ता लुभावने होते हुए भी शोध की मर्यादा तथा विस्तारभय से अछूते छोड़ दिए गए हैं। अनन्त राम की अनन्त लीला के अन्तर्गत न जाने कितनी उद्भावनाएँ और विचार इसमें आते-आते भी नहीं आ सके और किसी अन्य अवसर की प्रतीक्षा में बाहर ही रह गए हैं।

प्रथम अध्याय में नारी के आध्यात्मिक स्वरूप का विवेचन है। 'माया

रूपी नारि' को प्रायः माया के त्याज्य रूप में ही ग्रहण किया जाता है। गोस्वामी जी ऐसे सूक्ष्मदृष्टि-संपन्न विचारक के प्रत्येक कथन पर पूर्णरूपेण विचार किए बिना किसी प्रकार का निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है। अतः माया के स्वरूप का जो विवेचन उन्होंने किया है उसे दृष्टिगत रखते हुए 'मायारूपी नारि' को समझने का प्रयत्न यहाँ है। माया किस प्रकार नारी के रूप में जगत् मे व्याप्त हो सामान्य एवं विशेष रूप में क्रियाशील होकर पुरुष के जीवन में योग देती है, इसे रामचरित मे जिस प्रकार चरितार्थ किया गया है, उसी की विवेचना इस अध्याय का विषय है। अतः यहाँ माया का स्वरूप, उसके भेद, तथा नारी के विभिन्न रूपों में उसकी अभिव्यक्ति का विश्लेषण है। इस क्षेत्र मे यह नितान्त नवीन और मौलिक प्रयास है।

राम के स्वरूप के निरूपण के साथ ही भक्ति-निरूपण और भक्ति का प्रचार भी कवि का ध्येय रहा है। मृतप्राय हिन्दू जाति के लिए रामभक्ति को ही संजीवनी समझ भक्त शिरोमणि संत ने उसे ऐसे सर्वसुलभ रूप में प्रस्तुत किया कि वह एक बार फिर हिन्दू-जीवन में प्राण फूंक सके। उनके विचार मे जीवन के पुरुषार्थ एवं परमार्थ का सर्वश्रेष्ठ साधन राम-भक्ति ही है, जिसका मूल है राम-प्रेम। ज्ञान तथा योग की ख्याति और व्याप्ति उस समय हो रही थी। तुलसीदास ने दोनों को मान्यता देते हुए उन्हें राम-प्रेम के बिना हेय और रामप्रेमप्रधान होने पर ही श्रेय के रूप मे स्वीकार किया। नारी तो उस समय कहीं की नहीं रह गई थी। इस समाज-उद्धारक मनीषी ने परमार्थ साधन के प्रमुख मार्गों—भक्ति, ज्ञान एवं योग—में नारी को सर्वोच्च आसन की अधिकारिणी के रूप मे प्रस्तुत किया। इस दृष्टि से उन्हे नारीजाति का महान् उद्धारक मानने में किसी को संकोच न होगा। द्वितीय अध्याय में इसी का विवेचन है और महाकवि के काव्य एवं सिद्धान्त का यह पक्ष अनावृत करने का प्रयास किया गया है, जिसकी ओर अब तक किसी विचारक की दृष्टि नहीं गई थी। वास्तव में तुलसीदास के भक्ति-पथ पर स्वतंत्र रूप से प्रबन्ध लिखने की आवश्यकता है। यहाँ प्रस्तुत प्रसंग से सबद्ध अंश पर ही विचार किया जा सका है।

ऊपर कहा जा चुका है कि आध्यात्मिक के साथ लौकिक जीवन का समन्वय तुलसीदास की सबसे बडी देन है। सामाजिक जीवन में नारी का महत्त्व क्या है, उसका योग किस रूप में है और किस रूप में उसकी प्रतिष्ठा समाज के उत्कर्ष का मूल हो सकती है इसका निदर्शन मानस' का

महत्तम अंग है। इसका विश्लेषण तृतीय अध्याय में हुआ है। विविध नारी-पात्रों के चरित्र-चित्रण ही यहाँ उद्दिष्ट नहीं है। महाकवि की प्रभूत साहित्यिक आलोचनाओं में चरित्र-चित्रण के प्रसंग में नारी पात्रों को भी बहुत स्थान मिला है। उसे दृष्टिगत कर यहाँ विवेचन नहीं हुआ है। अतः उनका उद्धरण कहीं नहीं है। यहाँ अपनी शोध-दृष्टि से जो विशेषताएँ परिलक्षित हुई हैं और उनका जो आध्यात्मिक, लौकिक एवं सामाजिक महत्त्व है उसी पर विवेचना केन्द्रित की गई है। इसीसे कुछ रमणीय प्रसंगों का विस्तार नहीं हो पाया है। मातृत्व का विश्लेषण करते हुए, उसके सहज वात्सल्य-भाव की जो झाँकी 'गीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली' में मिलती है उसका संकेत मात्र पर्याप्त था, विस्तार नहीं। कारण, दृष्टि उसी पक्ष पर केन्द्रित है जो अन्य लोगों के दृष्टिपथ में नहीं आ पाया है।

राम-कथा का प्रमुख आधार वाल्मीकीय एवं अध्यात्म रामायण ही है। अन्य रामचरित संबंधी ग्रंथों से भी कवि प्रभावित है। हमारा लक्ष्य इस प्रबंध में कथा के स्रोतों की छानबीन अथवा तुलसीदास के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन नहीं है। यह तो अनुसंधान का एक स्वतंत्र विषय है। प्रस्तुत विषय में तुलना विशेष दृष्टि से आवश्यक होने पर ही उसका आश्रय लिया गया और ऐसे अवसरों पर उक्त दोनों रामायणों का उल्लेख है।

नारी के प्रेय अथवा श्रेय होने में उसके जिस रूप सौन्दर्य का प्रधान योग है उसे भी यहाँ स्थान मिलना चाहिए। 'दीपशिखा' की यह आभा कैसी है, किस रूप में पुरुष को आकृष्ट करती है और किस रूप में उसका दर्शन एवं ग्रहण अपेक्षित है, यह भी विचारणीय है। गोस्वामी तुलसीदास ने नारी के रूप-लावण्य का चित्रण बहुत मर्यादा के साथ किया है, इसे सभी मानते हैं। परन्तु उस रूप में दीपशिखा की ज्योति देखने वाले कवि के मानस-पटल पर उसके अंग-प्रत्यंग की इस आभा की कैसी छटा अंकित है, इसे देखने का अभिलाष किसी के हृदय में नहीं हुआ। नारी-सौन्दर्य के किस रूप पर कवि की दृष्टि ठहर गई है, उसे उसने किस आँख से देखा, किस रूप में काव्य में उतारा और किस आँख से उसे देखने का आदेश दिया है, इसका विवेचन भी अनिवार्य है। नारी की रूप-ज्वाला में स्वयं को पतंगा बना देने वाले नर-समाज के लिये इसकी आवश्यकता है। अस्तु, इस विषय का विचार चतुर्थ अध्याय में किया गया है। प्रसंगवश इसका विवेचन अन्यत्र भी हुआ है।

पंचम अध्याय में उस विषय की चर्चा है जिसमें तुलसीदास की नारी-भावना का गठबंधन सा हो गया है। तुलसीदास की नारी-भावना का नाम लेते ही बड़े विद्वान् से लेकर छोटे विद्यार्थी तक के मुख से अनायास ही 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी' का उद्घोष बराबर सुना। उससे क्लेश हुआ। तुलसीदास के विशाल हृदय और उदार व्यक्तित्व से इसका मेल होते न देख, इस क्षेत्र में प्रवेश कर, निष्पक्ष हो, चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर निरीक्षण किया तो आँख खुल गई और नारी-निन्दा कहीं नजर न आई। जिसके राम ने नारी को माया कहा[1] और कहा माया आदिशक्ति[2] को भी, उसके सेवक ने नारी में माया की सम्पूर्ण शक्ति देखी तो आश्चर्य क्या? इसीलिए उसमें माया के दोनों पक्ष—विद्या और अविद्या—चरितार्थ होते दिखाई दिए जिन्हें देख और परख कर ही जीवन का संचालन करना पुरुषार्थ है, यह बतलाया गया। साथ ही उसके अविद्या रूप की हेयता भी स्पष्ट कर दी गई। उसकी विशेष चर्चा प्रथम अध्याय में की गई है। ऐसी उक्तियाँ भी दिखलाई पड़ती हैं जिनमें नारी-निन्दा परिलक्षित होती है। इन्हें कहाँ तक प्रसंग-प्राप्त उचित उक्ति और कहाँ तक कवि द्वारा नारी-निन्दा कहना उचित है, इसका विचार इस अध्याय में हुआ है। ऊपर कहा जा चुका है कि तुलसीदास की नारी-भावना के विचारकों ने अपनी दृष्टि नारी-निन्दा के क्षेत्र में ही परिमित रखी है। जिस प्रकार के तर्क इस संबंध में दिए जाते हैं उनका संक्षेप में उल्लेख हो चुका है। अत उनसे भिन्न अपनी व्यक्तिगत दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार किया गया। यहाँ इतना और भी निवेदन करना अप्रासंगिक न होगा कि हमने सर्वत्र अपनी विचारधारा पर ही विवेचना को केन्द्रित रखा है। इस कारण अन्य लेखकों के विचारों का बार-बार उल्लेख कर उनके खण्डन-मण्डन में लगना उचित नहीं समझा।

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है तो कवि समाज का प्रतिनिधि। कवि के व्यक्तित्व में छनकर ही समाज की छाया काव्य में प्रतिबिम्बित होती है। अतः वह कवि के व्यक्तित्व के रंग में रंगकर ही वहाँ तक पहुँचती है। यह रंग सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म बुद्धि और सूक्ष्म दृष्टि का विषय हो सकता है।

---

१ 'माया रूपी नारि', 'मानस', अरण्य०, ३७।

२ 'आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥'

वही, बाल०, १५१. ४

तुलसीदास के व्यक्तित्व की असाधारणता में किसी को संदेह नहीं है। उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विश्लेषण और उसकी छाया का अन्वेषण हमारा लक्ष्य नहीं है। हमें उसके उसी पक्ष से काम है जिसका प्रस्तुत विषय से संबंध है। इसी का सम्यक् विचार छठे अध्याय में किया गया है।

विभिन्न अध्यायों के इस संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत प्रबंध का प्रत्येक अध्याय नवीन दृष्टि से लिखा हुआ और स्वतन्त्र रूप से अध्ययन का परिणाम है। अतः प्रबन्ध आदि से अन्त तक मौलिकतापूर्ण है। इसमें अनुमित स्थापनाओं से विद्वानों की सहमति अथवा असहमति उनकी व्यक्तिगत मान्यताओं के कारण हो सकती है, परन्तु प्रयास की मौलिकता असंदिग्ध है।

प्रबन्ध के प्रणयन के सम्बन्ध में कुछ निवेदन कर देना अनुचित न होगा। इसकी प्रेरणा का मूल स्रोत है गुरुवर आचार्य चन्द्रबली पांडे द्वारा गुरुवर आचार्य पण्डित रामचन्द्र जी शुक्ल की इच्छा की चर्चा—'शुक्ल जी की इच्छा थी कि कोई इसी ही सूरसागर की नारी-भावना पर शोध करे।' उनकी स्मृति एवं उक्त वचनों से निरन्तर इस पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्राप्त होती रही। अस्तु, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशन न कर, गुरु-चरणों में श्रद्धा से नतशिर होना ही उचित है। कालान्तर में अध्ययन, मनन एवं प्रणयन होता रहा। और गुरुवर आचार्य पण्डित विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र के विद्वत्तापूर्ण निर्देशन में यह शोधप्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत हुआ। इसमें उनकी जिस कृपा एवं सद्भावना का सौभाग्य प्राप्त हुआ उसके लिए शब्दों में कृतज्ञता-ज्ञापन सम्भव नहीं है।

अन्त में दो शब्द और। वह यह कि सन्तशिरोमणि द्वारा 'विश्वरूप रघुवंशमणि' की उपासना में विरचित मानस-रत्नाकर में जो अखिल लोक कल्याणकारिणी रत्नराशि है उसके कतिपय मुक्ता ही इस प्रबन्ध में प्रकट हो सके हैं। महाकवि की निम्नांकित वाणी में किसी कृति की सफलता की कसौटी निर्धारित है :—

"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥"

इस कृति का लक्ष्य भी यही रहा है। उनके 'मानस' में यथाशक्ति अवगाहन कर प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित जो मुक्ता प्राप्त हुए उन्हें 'यथामति' केवल साहित्य-

मर्मज्ञों के समक्ष ही नहीं, समस्त मानसप्रेमी सुजनसमाज के सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। आशा है इनकी कान्ति में शोध-कर्ताओं को विचार की नवीन दिशा मिलेगी एवं इन्हे हृदयंगम कर सहृदयों को आनन्द लाभ होगा। अनन्त रामचरित के सूत्र मे बद्ध मुक्तामणियों की लड़ी अनन्त है। अस्तु, इस क्रम में भविष्य मे कुछ और भी सुधी पाठकों को भेंट करने की आशा बनी है। जब राम पूरी करें।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय
गुरुपूर्णिमा, सं० २०२०

ज्ञानवती त्रिवेदी

विषयानुक्रमणिका

संकेत-सूची

'मानस'-राम-चरित-मानस

मानस के अवतरण श्री पं० विजयानन्द त्रिपाठी द्वारा सम्पादित संस्करण से दिए गए हैं। चौपाइयों अथवा छन्दों की गणना पूर्वागत दोहे की संख्या से की गई है। गोस्वामी जी की शेष रचनाओं के अवतरण नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'तुलसी ग्रन्थावली' से दिए गए हैं। अतः पृष्ठों की संख्या न देकर छन्दों की संख्या दी गई है।

'बाल०'—बालकाण्ड,
'अयो०'—अयोध्याकाण्ड
'अरण्य०'—अरण्यकाण्ड,
'किष्कि०'—किष्किन्धाकाण्ड
'सुन्दर०'— सुन्दरकाण्ड,
'लंका०'—लंकाकाण्ड
'उत्तर०'—उत्तरकाण्ड

बाल्मीकि-रा०	—बाल्मीकि-रामायण।
अध्यात्म-रा०	—अध्यात्म-रामायण।
विनय०	—विनय-पत्रिका।
गीता०	—गीतावली।
दोहा०	—दोहावली।
बरवै०	—बरवै-रामायण।
कविता०	—कवितावली।
श्रीकृष्ण गी०	—श्रीकृष्णगीतावली।
क० ग्र०	—कबीर ग्रन्थावली।
'बीजक'	—बीजक कबीर।

अध्याय 9

नारी और माया

गोस्वामी तुलसीदास का 'राम-चरित-मानस' एक अनुपम महाकाव्य है। काव्य और अध्यात्म का अद्वितीय समन्वय ही उसे विश्व-साहित्यमें अप्रतिम स्थानका अधिकारी बनाता है। लोकद्रष्टा कवि ने कहने को तो 'मानस' की रचना 'स्वान्तस्तम: शान्तये' ही की है, परन्तु जिसने अति विनम्र रूप से 'पायो परम विश्राम' की घोषणा कर दी हो, उसके हृदय मे तमका निवास कैसे सम्भव था ? तुलसीदास ने राम-कृपा से अपने अन्त:करण में कूटस्थ ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया था। फलतः उनका अन्त:करण विश्वात्मा का अन्तःकरण बन गया और उनके हृदय का विश्व-हृदय से पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो चुका था। अतः उनके अन्तस् का तम विश्व में व्याप्त वह मोहान्धकार है जो जीवात्मा मात्र को आवृत किये हुए है। प्रकाश के अभाव में उसे दूर न कर सकने के कारण वह अपना स्वरूप पहचानने मे असमर्थ होने से उस शाश्वत ज्योति से भी वंचित रहता है जो उसी के हृदय मे प्रज्वलित होती और जड़-चेतन की ग्रन्थि के मिथ्यात्व का बोध करा देती है। उन्होंने इस विश्वव्यापी मोहान्धकार को दूर करने के लिए आगम, निगम और पुराणों की 'रुचिराकर' से 'सुमति कुदारी' द्वारा भक्ति-चिन्तामणि प्राप्त की। यही अनुपम रत्न उस मानस-मुक्ताहार का सुमेरु है, जिसे उन्होंने रामचरित के सूत्र मे पिरोकर सज्जनों को भेंट किया है। इस महाकाव्य को वेदमत और लोकमत के घेरे में आबद्ध कर ऐहिकामुष्मिक मार्ग का सच्चा पथ-प्रदर्शक बनाया गया है। इससे लोक का मोहजन्य अन्धकार दूर होगा, जड़-चेतन की ग्रन्थि छूटती और राम का रूप प्रत्यक्ष होता है।

गोस्वामी जी ने जो 'निर्गुन राम' और 'दशरथ सुत' राम की अभिन्नता

का डटकर खण्डन हो चुका था और उसका प्रचार जारी था[1]। इस प्रकाश में दृष्टिगोचर हो गया कि 'निर्गुन राम' ही सगुण राम और दशरथ-सुत भी है। उसके इस स्वरूप के दर्शन के लिए भक्ति-चिन्तामणि की आवश्यकता है। उसकी प्राप्ति से मन के साथ जगत् का अन्धकार भी दूर होता और घट-घट वासी ब्रह्म और दशरथ-सुत का भेद मिट जाता है। इतना ही नहीं, वह सृष्टि के अणु-अणु में प्रसारित होकर विश्व को 'सीय-राममय' कर देता है। तुलसीदास का आदेश यही है कि यदि 'सीय राममय' जग की सच्ची अनुभूति करनी है तो भक्ति-चिन्तामणि की उपलब्धि कर उसके प्रकाश में देखो कि निर्गुण क्या है, सगुण क्या है, जगत् क्या है और तुम्हारा वास्तविक रूप क्या है। इसका बोध कोरे तर्क-जाल से नहीं हो सकता। बुद्धिमानी यही है कि दर्शनशास्त्र की भूलभुलैया में न पड़कर भक्ति-पथ का अनुसरण कर उसी राम को प्राप्त करो जो केवल प्रेम से मिला करता है। उनका उद्घोष था—

"रामहि केवल प्रेमु पियारा। जानि लेउ जो जाननि हारा[2]॥"

उनका आग्रह यही था कि देखो आज का सबसे पटु निर्गुणिया सन्त भी शास्त्रज्ञ पण्डितों को चुनौती दे रहा है :—

"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुवा पंडित भया न कोइ।
एकै आषिर पीव का पढ़ै सुपण्डित होइ[3]॥"

और समझा रहा है :—

"सो साईं तन में बसै भ्रम्यौ न जाणै तास।
कस्तूरी के मृग ज्यूँ फिरि फिरि सूँघै घास[4]॥"

---

१ कबीर का कथन प्रसिद्ध है :—
"दशरथ सुत तिहूँ लोक ही जाना। राम नाम का मरम है आना॥"
'बीजक' शब्द १०९

तथा
"ना दशरथ घर औतरि आवा, नां लंका का राव सतावा।
देवै कूख न औतरि आवा, नां जसवै लै गोद खिलावा॥"
क० ग्र०, पृ० २४१

और भी 'बीजक' शब्द ८।

२ 'मानस' अयो० १३६.१।

३ क० ग्रं० 'कथनी बिना करनी कौ अंग' ४

४ पढी कस्तूरिय मृग कौ अंग १

इस प्रकार गोस्वामी जी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कबीर द्वारा जिस 'निर्गुन राम' का मण्डन और सगुण राम का खण्डन किया गया उसका स्वरूप क्या है, उसकी प्राप्ति के साधन—प्रेम का वास्तविक रूप क्या है तथा उसकी उपलब्धि के लिए कबीर द्वारा जिस साधना का निर्देश किया गया उसमें और भक्ति-चिन्तामणि की साधना में क्या भेद है और दोनों में कौन विशेष श्रेयस्कर है।

कबीर और तुलसी की तुलना के विस्तार का यहाँ स्थान नहीं तथापि दोनो के माया सम्बन्धी विचारों को देखना आवश्यक है। कबीरदास निर्गुणिये संतो के शिरोमणि हैं। अतः उनकी धारणा में ही सन्त-सम्प्रदाय की विचारधारा का सूत्र प्राप्त हो जाता है। सन्तमत में 'निर्गुण राम' की प्राप्ति में माया को सबसे बड़ा बाधक माना गया है। वहाँ किसी तार्किक प्रणाली से माया के दार्शनिक स्वरूप का प्रतिपादन न कर उसे 'महाठगिनि'[1] कहा गया और समझाया गया है कि माया छल करके जीव को बन्धन में बाँधती और परमात्मा से विमुख किया करती है।[2] कंचन और कामिनी ही उसके प्रमुख अस्त्र हैं।[3] उससे बचना साधक का कर्त्तव्य है।

तुलसीदास की विचारधारा इससे नितान्त भिन्न है। उनके मतानुसार निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है।[4] माया उसकी आदिशक्ति और

---

१ 'बीजक' शब्द ५९।

२ "जाणौं जे हरि को भजौं मो मनि मोटी आस।
हरि बिच घालै अन्तरा माया बड़ी बिसास ॥५॥"
"कबीर माया पापणी हरि सूं करै हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की कहण न देई राम ॥४॥"

क० ग्रं० 'माया कौ अंग'

और भी, देखिए, वही ६, 'बीजक' शब्द ५९।

३ "कामिणि काली नागिणी तीन्यू लोक मंझारि।
राम सनेही ऊबरे विषयी खायो झारि ॥१॥"
"एक कनक अरु कामिनी दोउ अगिनि की झाल।
देखें ही तन प्रजलै परस्यां है पैमाल ॥१२॥"
और भी देखिए, वही साखी २, ८, १०, ११, १५

४ "सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥"

मानस' बाल० १२० १ २

उसकी प्राप्ति मे सबसे बड़ी सहायिका है। वही जीव को बद्ध एवं मुक्त करने वाली है। 'तुलसिदास यह जीव मोह-रजु जोइ बाँधै सोइ छोरै'[१] की व्यंजना यही है। माया वह आदिशक्ति है जिसके कारण पूर्ण, त्रिगुणातीत, निर्विकल्प और निर्विकार ब्रह्म 'एकोऽहं बहु स्याम' के सकल्प से युक्त होता और उसी का प्रसार कर लोक-लीला मे लीन होता है। इस लीला में उसके साथ उसकी कार्य-साधिका माया भी अनन्त रूप धारण कर सर्वत्र व्याप्त रहती है। उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय की लीला इसी प्रकार सचालित होती रहती है। इस जगत्-जाल मे जीव की जो दशा होती है, यहाँ प्रत्यक्ष है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी ।।
सो माया बस भएउ गोसाई। बँध्यौ कीर मरकट की नाई ।।

+ + +

जीव हृदय तम मोह बिसेखी। ग्रंथि छूटि किमि परै न देखी[२] ।।"

माया द्वारा बद्ध, मोह तम से आवृत जीव अपना चेतन रूप न देख सकने के कारण स्वयं को जड़ बधन मे बद्ध समझता है। प्रभु-कृपा से ही ज्ञान-दीपक अथवा भक्ति-चिंतामणि की प्राप्ति होती और उसे इससे मुक्ति मिलती है।

विचारणीय है कि गोस्वामी जी ने जो 'माया रूपी नारि'[3], और 'नारि बिस्व माया प्रगट'[४] की घोषणा की है उसका रहस्य क्या है और उसे 'मानस' में किस प्रकार चरितार्थ किया गया है। निर्गुणिये सतो ने माया को जिस रूप मे चित्रित किया उसके निराकरण का प्रयत्न संत तुलसीदास के द्वारा किया गया और उन्होने माया अथवा मातृशक्ति को ही राम-प्राप्ति का मुख्य साधन ठहराया। इसका प्रतिपादन किसी दर्शन-ग्रन्थ द्वारा न करके 'राम-चरित मानस' जैसे अद्भुत महाकाव्य द्वारा किया गया और उसके अंतर्गत ही यह चरितार्थ हुआ है। इसके निरूपण की चर्चा विशिष्ट पात्रों द्वारा विशिष्ट प्रसंगों में कर दी गई है। यह भी 'मानस' की एक विचित्रता है जिसका सकेत 'कथा प्रबन्ध विचित्र बनाई'[५] में प्राप्त होता है। अतः 'मायारूपी नारि' को भली-भाँति समझे बिना यह हृदयंगम करना कठिन होगा कि गोस्वामी जी की दृष्टि में नारी क्या है और मानव-जीवन मे उसका योगदान क्या है। इसके लिए पहले विचार कर लेना है कि उनकी दृष्टि में माया का स्वरूप

१. 'विनय पद १०२।
२. 'मानस' उत्तर ११६.२७।
३. वही, अरण्य, ३७।
४. वही, उत्तर ११५।
५. वही, बाल० १०.२

क्या है, उसकी अभिव्यक्ति किन रूपों में होती है, वह कब हानिप्रद और कब लाभप्रद होती है, तथा उसके किस रूप से बचना और किस रूप को प्राप्त करना श्रेयस्कर है। तभी यह बोध हो सकता है कि 'मायारूपी नारि' जब 'नारि बिस्व माया प्रगट' के रूप में समझ आती तब उसके किस रूप से अनासक्ति और किस रूप की प्राप्ति हमें राम से मिला सकती है। इस प्रकार जो नारी नरक का द्वार[1] कही गई वही स्वर्गापवर्ग ही नहीं, भक्ति का परमानन्द प्राप्त करनेमें भक्त की सहायिका और रक्षिका हो जाती है।

माया के सम्बन्ध में विचार करते हुए श्री शंकराचार्य तथा श्रीरामानुजाचार्य के तत्सम्बन्धी विचारों का संक्षेप में उल्लेख आवश्यक है, क्योंकि तुलसीदास के आलोचकों में यह मतभेद चला करता है कि वे अद्वैतवाद के समर्थक हैं अथवा विशिष्टाद्वैत के और पंडितजन उनके तत्सम्बन्धी विचारोंका उल्लेख कर अपने-अपने पक्ष के समर्थन में निरत रहते हैं[2]। उक्त दोनों सम्प्रदायों का मुख्य मतभेद संक्षेप में इस प्रकार है :—

"माया की विभिन्न कल्पना

माया शंकर तथा रामानुज दोनों ही आचार्योंके द्वारा व्याख्यात है, परन्तु इन दोनों की माया विषयक कल्पना नितान्त भिन्न है। ध्यान देने की बात है कि रामानुज के मतानुसार यह सृष्टि वास्तविक है, सच्ची है और

---

१. 'द्वार किमेकं नरकस्य नारी का स्वर्गदा प्राणभृतामहिंसा।'
शंकराचार्य कृत प्रश्नोत्तरी, श्लोक ३
और भी —
"नारी कुंड नरक का बिरला थंभै बाग।
कोई साधू जन ऊबरै सब जग मूवा लाग ॥ १५ ॥"
क० ग्र०, 'कामी नर कौ अंग'

२. 'गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार'—गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, तु० ग्र०, भाग० ३।
'गोस्वामी तुलसीदास और अद्वैतवाद'—जयरामदास, कल्याण, वेदांक।
'गोस्वामी श्री तुलसीदास के दार्शनिक तत्त्व'—पं० विजयानन्द त्रिपाठी, कल्याण, जुलाई, १९३७।
और भी देखिए 'तुलसीदास और उनका युग'—डॉ० राजपति दीक्षित, पृ० २७५।

इसीलिए वे माया को ईश्वर की वास्तविक सृष्टि करने की शक्ति मानते हैं। ईश्वर की शक्ति माया है जो इस वास्तव जगत् की रचना करती है। रामानुज के मत में इस प्रकार ब्रह्म में अवस्थित अचित् तत्त्व में (और इस ब्रह्म में भी) विकार उत्पन्न होता है। शंकर के मत में ब्रह्म में कोई वास्तव विकार या परिवर्तन नहीं होता। विकार केवल प्रातिभासिक होता है, वास्तविक नहीं। शंकराचार्य भी माया को ईश्वर की शक्ति मानते हैं, परन्तु यह ईश्वर का नित्य स्वरूप नहीं है। माया तो ईश्वर की इच्छा मात्र है जिसको वे जब चाहें छोड़ सकते हैं। फलतः रामानुज माया को ईश्वर की सर्जन-शक्ति मानते हैं जो वहाँ नित्य निवास करती है। शंकर उसे ईश्वर की अनित्य इच्छा मानते हैं जो वहाँ कभी रहती है और कभी नहीं रहती। जिस प्रकार अग्नि में दाहकता शक्ति भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्म से भी माया-शक्ति भिन्न नहीं होती। वह ब्रह्म से अभिन्न और अछेद्य है। यही माया रामानुज के मत में ब्रह्म में परिणाम पैदा करती है, परन्तु शंकर के मत में केवल विवर्त की जननी है, विकार की नहीं[1]।"

तुलसीदास के माया सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करने पर यही प्रतीत होता है कि उन्होंने उक्त दोनों सम्प्रदायों में से किसी एक मत की पुष्टि और उसका प्रतिपादन ही अपना लक्ष्य नहीं बनाया, प्रत्युत उक्त दोनों विचार-धाराओं के प्रकाश में विशेष दृष्टि निर्धारित कर तदनुसार जीवन का संचालन करते हुए, भक्ति द्वारा—तत्त्व विवेचन के द्वारा नहीं—भगवत्प्राप्ति को ही अपना इष्ट माना है और उसी के लिए 'मायारूपी नारि' पर विचार किया है। यहाँ उनके माया सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण वाञ्छनीय है।

'मानस' के प्रारम्भ में ही राम की वन्दना है :—

> "यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा :
> यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।
> यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
> वंदेऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्[2]॥"

जिसकी माया के वशीभूत अखिल विश्व है उस राम की वन्दना में प्रकारान्तर से माया की भी वन्दना है। 'मानस' में आद्योपान्त माया की चर्चा

---

१ 'भारतीय दर्शन'—प० बलदेव उपाध्याय, पंचम संस्करण, पृ० ४५२।

२ 'मानस', बाल०, श्लोक ६।

व्याप्त है और स्थल-स्थल पर विभिन्न प्रकार से उसके स्वरूप तथा कार्य एवं उससे आबद्ध जीव के मुक्त होने के उपायों का भी स्पष्टीकरण है। यह भी बताया गया है कि यह 'माया रूपी नारि' जब विश्व में नारी रूप में प्रकट होती है तब उसके गुण और अवगुण कहाँ तक उसमें अवतरित होते और 'नारि बिम्ब माया प्रगट' को चरितार्थ करते हैं।

भक्त तुलसीदास जीव, जगत् और ब्रह्म के तात्त्विक विवेचन के झमेले में उलझना ठीक नहीं समझते।

"कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै॥"[1]

का संकेत यही है। उनके विचारानुसार इस फेर में न पड़कर देखना यह चाहिए कि जब परात्पर ब्रह्म 'बिप्र धेनु सुर संत हित'[2] मनुज-शरीर धारण कर भूतल पर अवतरित होता और लोक-लीला में लीन होता है तब हम भी अपने परलोक के साथ इहलोक को किस प्रकार सँभालें कि उसे इसी लोक में प्राप्त कर पग-पग पर परमानन्द का अनुभव करते रहें। ब्रह्म के मनुज-देह धारण करने पर माया भी पृथ्वी पर अवतरित होती है। जब वही जीव को बद्ध और मुक्त करने वाली है और इसी लोक-जीवन में, लोक-लीला में लीन प्रभु की प्राप्ति हमारा इष्ट है, तब हम भी माया के उसी रूप द्वारा उसे क्यों न प्राप्त कर सकेंगे जो उसी की भाँति मनुज-देह में प्रकट हो रही है। वह प्रकट हो रही है—नारी के रूप में ही। उसका यही प्रबल रूप बड़े-बड़े ज्ञानियोंको भी परास्त और मार्गच्युत कर देता है[3]। इसी पर विजय पाने से प्रभु की प्राप्ति होती है। हमें प्रभु को पाना है इसी जीवन में, जीवन के कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए, उनका परित्याग करके नहीं। अतः जो नारी का परित्याग नहीं, उसका स्वरूप समझकर उसका उचित सम्मान करता है तथा उससे अपने जीवन में स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही साधता है, उसी का जीवन सफल है। नारी को दूषित दृष्टि से देखना माया द्वारा भ्रांत हो पथभ्रष्ट हो जाना है। उसके वास्तविक महत्त्व से परिचित होना माया का महत्त्व समझ लेना है।

---

१ 'विनय', पद १११।

२ 'मानस', बाल० १६७।

३ "जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह मन करई॥"
वही उत्तर०, ५८।५

'मानस' में नारी के इन विविध रूपों की उत्तम झाँकी है, जिसके द्वारा चरितार्थ कर दिया गया है कि माया किस प्रकार नारी के रूप में विश्व में व्याप्त हो रही है और विश्व का रूप न समझने के कारण ही उसका भी यथार्थ रूप दृष्टि से ओझल हो जाता है। इसीलिए मंदोदरी ने रावण को 'बिस्व रूप रघुबंस मनि'[1] का बोध कराने का प्रयत्न किया कि विश्व-रूप भगवान् को समझो तब ज्ञात होगा कि सीता एक 'स्यामा' मात्र है अथवा वह शक्ति है जो राम के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने पर विरोधी कार्य किया करती है। यदि उसके रामोन्मुख करने वाले जगदम्बा रूप का आश्रय लोगे तो राम की कृपा प्राप्त कर परमानन्द लाभ कर सकोगे परन्तु यदि उसे केवल कामिनी मानकर अपने सुख का साधन बनाना चाहोगे तो वही तुम्हारे लिए कालरात्रि हो जाएगी। सीता के वास्तविक रूप को पहचानना ही राम-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। मन्दोदरी का यह उपदेश व्यर्थ हुआ क्योंकि मोहग्रस्त रावण के तामसी शरीर द्वारा भक्ति सम्भव नहीं थी। फलतः उसके लौकिक जीवन का अन्त और सर्वनाश हुआ। आध्यात्मिक दृष्टि से रावण का रूप कुछ भिन्न दिखाई देता है। उसने विचार किया था कि यदि राम का अवतार हो गया है तो मैं विरोध द्वारा ही उन्हें प्राप्त कर सकता हूँ।[2] उसने राम से विरोध किया किन्तु जगज्जननी के हरण के समय उन्हें मन ही मन प्रणाम किया।[3] अशोक वाटिका में उनसे जो कुछ कहा वह उस विरोध की पराकाष्ठा थी। राम से डटकर युद्ध किया और अन्त में उन्हीं में लीन हो गया।[4] अद्वैत की यह प्राप्ति अति दुर्लभ है। 'बयर भाव मोहि सुमिरत निसिचर'[5] के विचार ने अकारण दयालु प्रभु को अन्य निशाचरों को भी मुक्त करने के लिए बाध्य कर दिया, परन्तु वे प्रभु की सेवा के अधिकारी नहीं हुए। वे विश्व में प्रभु के दर्शन न

---

१ 'मानस,' लंका०, १४-१५।

२ "खरदूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥
सुर रंजन [illegible] महि भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥
[illegible] प्रान तजें भव तरऊँ॥
[illegible] देहा। [illegible] मंत्र दृढ़ एहा॥"

मानस, अरण्य० १६ २-५

३ '[illegible]' [illegible]

४ "[illegible] चतुरानन॥"

वही, लंका० १०२ है

५ [illegible], ४८.४।

कर सके—जग को प्रभुमय नहीं देख सके। वे लोक-सेवक न होकर विश्वद्रोही थे। यद्यपि उनका कल्याण हुआ तथापि वे भगवान् को प्रिय न हो सके। अतः उनकी मुक्ति मे उनकी साधना की सफलता नहीं, प्रभु-कृपा की पराकाष्ठा अवश्य दृष्टिगोचर हुई। इस प्रकार सिद्ध हो गया कि लोक-जीवनमे प्रभु द्वारा स्थापित आदर्शो की अवहेलना और केवल आध्यात्मिक जीवन में मोक्ष-प्राप्ति का उपाय आसुरी साधना का उदाहरण है, भक्ति का नहीं। ऐसे साधक ने माया को नही पहचाना और माया ने इसी जीवन मे उसे राम का साक्षात्कार नही कराया। इस प्रकार लौकिक जीवन और आध्यात्मिक साधना का समन्वय न हो सका। 'मानस' मे यह समन्वयपूर्ण जीवन स्पष्ट किया गया है। भक्त राम का अनुसरण करना चाहता है, रावण का नहीं। अत कोरा अध्यात्म लेकर वह आगे नही बढता। वह तो निर्वाण की उपेक्षा करता और 'जनम जनम रति रामपद'[१] की कामना करता है। राम का अनन्य भक्त वही है जो इसी जीवन में, इसी लोक मे राम को प्राप्त कर लेता है। प्रभु राम की वाणी है :—

"सो अनन्य जाके अस मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत[२]॥"

सचराचर रूप स्वामी का सेवक होना ही उनका अनन्य भक्त होना है, तब सचराचर की उपेक्षा कर उन्हे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? सचराचर-रूप-विश्व मे नारी-रूप मे प्रकट माया विश्व-प्रपंच में उलझाने तथा उससे निर्लिप्त रहकर विश्व में प्रभु का साक्षात् कराने का साधन है। इसे हृदयंगम करने के लिए उसके उभय रूपों—विद्या और अविद्या को समझना आवश्यक है।

गोस्वामी जी ने तत्वतः अद्वैत सिद्धात को मान्यता देते हुए भी उसकी प्राप्ति जनसाधारण के लिए सुगम नही मानी है। यह भी अतिदुर्लभ है कि ज्ञान द्वारा कैवल्य-पद का अधिकारी हो जाने पर भी व्यक्ति सगुण मे रमने का आकाक्षी हो एवं उसी के दर्शन विश्व में करते हुए लोक-सेवा को चरम लक्ष्य मानकर 'जनम जनम रति राम पद' का अभिलाषी बना रहे। परन्तु उनकी दृष्टि में इष्ट होना चाहिए यही। इसीसे उन्होंने बारम्बार प्रकारान्तर से मुक्ति

---

१ 'मानस' अयो० २०४।

२ वही किष्कि० ३

से बढ़कर भक्ति को ठहराया है[1]। यहाँ तक कह दिया है कि भक्ति के बिना ज्ञान अज्ञान और योग कुयोग है[2] तथा भक्ति का अधिकारी धर्मशील, विरक्त, ज्ञानी और 'जीवन्मुक्त ब्रह्मपर प्रानी' से भी दुर्लभ होता है।[3] अत: उन्होंने अद्वैत की प्राप्ति को चरम लक्ष्य न मानकर भक्ति की प्राप्ति को परम धर्म ठहराया और इसीलिए अद्वैत के सिद्धान्तों के साथ सगुण भक्ति के सिद्धान्तो का समन्वय किया है।

मानसकार के मतानुसार माया ब्रह्म की आदिशक्ति है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की शक्तियाँ भी उसी के अंश से उत्पन्न होती हैं[4]। वही विभिन्न शक्तियों के रूप में विश्व में व्याप्त हो रही है। वह सर्वत्र पुरुष-तत्त्व के साथ स्त्री-तत्त्व के रूप में वर्तमान और इसीलिए नर के साथ नारी रूप में वर्तमान है। राम जब नटवत् लीला करते हैं तो वही नटी अथवा नर्तकी का कार्य किया करती है[5]। सृष्टि संचालन में विद्या और अविद्या के रूप में वही क्रियाशील है। वह जीव को भव बंधन में बाँधकर नाना नाच नचाती, कृपा के रूप में उसे बन्धनमुक्त करती तथा भक्ति के रूप में प्राप्त हो उसे राम के

---

१ 'मानस' लंका० ७।

२ "जोग कुजोग ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू।"

'वही, अयो०, २९०.२

३ "नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्मब्रत धारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिराग रत होई॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवन मुक्त ब्रह्म पर प्रानी॥
सब तें सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥"

वही, उत्तर. ५३.१–७

४ "बाम भाग सोभित अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि जग मूला॥
जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥"

वही, बाल. १५०.२–४

५ "व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड॥"

वही, उत्तर० ७१

सम्मुख पहुँचा देती है। नारी के रूप मे प्रकट होकर भी यह सब कार्य किय करती है। वस्तुत: माया, भक्ति, कृपा और नारी एक ही शक्ति के विविध रूप है जो विभिन्न क्षेत्रों में देखे और समझे जाते है। सर्वप्रथम आदिशक्ति माया के स्वरूप-दर्शन की ओर बढ़ना चाहिए।

इसका परिचय 'मानस' के आरम्भ मे ही मिल जाता है। तपोनिष्ठ दम्पती मनु और शतरूपा[1] अखण्ड तपस्या मे लीन हुए हैं, एक ही अभिलाष से :—

"उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथ बादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥
संभु बिरंचि बिस्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा[2]॥"

ब्रह्मा, विष्णु और महेश के अनेक बार प्रकट होकर वर-याचना का आदेश देने पर भी जब ये अपने निश्चय पर दृढ़ रहते है तब ब्रह्म-वाणी होती है कि वर माँगो। उसे श्रवण कर प्रफुल्ल हृदय दम्पती याचना करते है :—

जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन[3]॥"

"जो माया सब जगहिं नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥"
'मानस', उत्तर० ७१, १, २

"भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप।
जथा अनेक भेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावै आपुनु होइ न सोइ॥"
वही ७२

"नट कृत विकट कपट खगराया। नट सेवकहिं न व्यापै माया॥"
वही १०३, ८

१ मनु-शतरूपा के सम्पूर्ण प्रसंग के लिए देखिए वही, बाल० १४६.१—१५६.६
२ वही, १५८.३—८। ३ वही, १५०, ४—६।

भक्तों की प्रेमपूर्ण अनुनय पर जब "सच्चिदानंद ब्रह्म" द्रवीभूत हो प्रकट होता तो अकेले दर्शन नहीं देता है। उसके साथ उसकी अभिन्न शक्ति भी प्रकट होती है :—

"बाम भाग सोभित अनुकूला। आदिसक्ति छबि निधि जगमूला।।
जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी।
भृकुटि बिलासु जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई[1]।।

बरदान देते हुए[2] प्रभु के वचन हैं :—

"आदि सक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया[3]।।"

मनु-शतरूपा के सम्पूर्ण प्रसंग मे स्पष्ट कर दिया गया है कि 'मायारहित[4]' त्रिगुणातीत परात्पर ब्रह्म जब भक्तों की पुकार पर द्रवीभूत हो सगुण रूप धारण करता है तो माया सहित ही अवतरित होता है। जो माया उसकी अभिन्न शक्ति होने से अब तक उसमे अंतर्निहित रही वही अब उससे पृथक् रूप मे प्रत्यक्ष हो रही है। उसके रामरूप में प्रकट होने पर वह सीता-रूप में आविर्भूत होती है[5]। महर्षि वाल्मीकि इसी से स्तुति करते हुए सीता को माया कहते है :—

"श्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीश माया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की।।"

गोस्वामी जी सीता को बराबर 'माया' ही कहते है और उनकी वंदना 'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्[7]' कहकर करते है। अतः सीता सृष्टि की मूल वह माया शक्ति है, जिसके अंशसे अगणित लक्ष्मी, सरस्वती तथा पार्वती उत्पन्न हुआ करती हैं।

---

१. 'मानस' बाल० १५२, २-४
२. वही, १५४·१।
३. वही १५६·४।
४. अनेक स्थलों पर राम को माया से परे अथवा 'मायारहित' कहा गया है यथा 'मायारहित मुकुंद,' वही, बाल० ११०, ६।
५. इसीलिए कहा गया है—
"गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।"
वही, २३।
६. वही, अयो० १२५·६, १०।
७. वही, बाल० वन्दना श्लोक ५।

माया को राम की दासी[1] और नर्तकी[2] भी कहा गया है। भक्तों की पुकार पर विश्व के महानाटक में अवतीर्ण होकर नाना भाँति की लीला करने वाले नट हैं राम और उनकी सहयोगिनी है माया नटी :—

"जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव दिखावै आपुन होइ न सोइ[3] ॥"

और :—

"जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा ॥
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खग राजा। नाच नटी इव सहित समाजा[4] ॥"

इस नर्तकी का नृत्य विलक्षण है। इसके प्रभाव में समस्त ब्रह्माण्ड है और यह नचाती है ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश तक को[5]। इसने नारद[6] और काकभुशुंडि[7] सदृश अनन्य भक्तों को नचाया है और 'महाज्ञानी गुनरासी'

---

१ "सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।" 'मानस' उत्तर० ७१।

२ 'माया खलु नर्तकी बिचारी।' वही, ११५ ४।

३ वही, ७२ अन्यत्र राम को 'नट के समान नहीं, नट ही कहा गया है। देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध, पृ० १५, टिप्पणी ४, ५।

४ 'मानस' उत्तर० ७१. १-२

५ "शिव बिरंचि कहुं मोहै को है बपुरा आन।" वही, उत्तर० ६२
और भी
"मन महुं करइ बिचार बिधाता। माया बस कबि कोबिद ज्ञाता ॥
हरि माया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा ॥"
'वही ५९, ३, ४।
राम इसी माया द्वारा ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश को नचाते हैं—
"जगपेखन तुम देखनि हारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे ॥"
वही, अयो० १२६.१।

६ देखिए नारद-मोह प्रसंग 'मानस', बाल० १३२.८-१४३। और भी, वही, उत्तर० ५८.४-६।

७ "व्यापा मन आनत खगराया। रघुबर प्रेरित ब्यापी माया ॥"
'वही ७७.१ और भी
"यह सब गुप्त चरित मैं गावा। हरिमाया जिमि मोहि नचावा ॥"
वही, ८८.४

गरुड़[1] तक इसके पंजे से नहीं बच सके। सारा संसार इसके चक्कर में पड़ा नाच रहा है, पर यह नाचती है राम के इशारे से ही :—

"जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे।
भृकुटि बिलास नचावै ताही। अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही।।"[2]

राम की आज्ञा से माया अपने समस्त समाज सहित नाचती है और माया के नचाने से सारा विश्व नाचता है। यही नित्य होने वाला महानृत्य अथवा महारास है। माया का समाज है मोहजन्य काम, क्रोध, लोभ आदि। इनके वशीभूत हो भ्रम में पड़ना ही नट के कपट को न समझ माया के चक्कर में पड़कर नाचना है। प्रभु का सच्चा सेवक उनकी कृपा से इस रहस्य को जान लेता और नाच से बच जाता है। तब तो वह उस लीला का आनन्द लेता रहता है जिसमें बड़े-बड़े ज्ञानी भी चक्कर खाते दिखाई पड़ते हैं। बात यह है कि जिस प्रकार नट के इन्द्रजाल से दर्शक-समाज के चमत्कृत हो जाने पर भी नट के सेवक पर उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, उसी प्रकार मायाजन्य जगत् के भ्रमजाल से राम का सेवक मुक्त रहता है[3]। मोहग्रस्त गरुड़ को काकभुशुंडि ने निम्नांकित शब्दों में यही समझाया है :—

"नट कृत बिकट कपट खगराया। नट सेवकहि न ब्यापै माया[4]।।

भगवान् शंकर का भी पार्वती से यही कहना है :—

"सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला। जापर होइ सो नट अनुकूला[5]।।

कारण यही है कि माया नटी का सारा नृत्य वस्तुतः राम के द्वारा संचालित है। इसी से कहा है :—

---

१ "ज्ञानी भगत सिरोमनि त्रिभुवन पति कर जान।
ताहि मोह माया नर पावर करहिं गुमान।।"

'मानस', उत्तर० ६२

२ वही, बाल० २०४ ४,५।

३ इसीलिए गोस्वामी जी दृढ़तापूर्वक सेवक-सेव्य-भाव का समर्थन करते हैं।
"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि।।"

वही, उत्तर० ११९

४ वही, उत्तर० १०३ ८।

५ वही, अरण्य० ३२.४।

"नट मरकट इव सबहि नचावत। राम खगेस बेद अस गावत[1]" ॥

और

"उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं[2] ॥"

जिन शक्तियों के द्वारा माया इस नृत्य का संचालन करती है उन्हें 'माया कटक' अथवा माया का परिवार[3] कहा गया है। माया-कटक का स्वरूप यहाँ चित्रित है :—

"व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड[4] ॥"

'कामादि' के अन्तर्गत हैं मोहजन्य काम, क्रोध, लोभ, मद और मात्सर्य

---

१ 'मानस', किष्किन्धा० ६, २४ राम को अन्यत्र भी नट कहा गया है—
"नट इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतंत्र राम भगवाना।"
वही, लंका ७२. १२

२ वही, किष्कि० १० ७।

३ माया के परिवार का विस्तृत उल्लेख 'मानस' के उत्तरकांड में है।
दे० ६६.७—७१

"नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमवादी ॥
मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही ॥
तृस्ना केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा ॥
ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार ॥
केहि कै लोभ बिडम्बना कीन्हि न एहि संसार ॥
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि ॥
मृगलोचनि के नयन सर को अस लागि न जाहि ॥
गुन कृत सन्यपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही ॥
जोबन ज्वर केहि नहिं बलकावा। ममता केहि कर जसु न नसावा ॥
मच्छर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा ॥
चिंता साँपिनि को नहिं खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया ॥
कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लागि घुन को अस धीरा ॥
सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ॥
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा ॥"
वही, उत्तर० ६९.६—७०.७

४ वही, उत्तर० ७१।

आदि। इनमे तीन अति प्रबल हैं जिनकी शक्ति का वर्णन राम ने लक्ष्मण से इस प्रकार किया है :—

"तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिज्ञान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥
लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि[1]॥"

इनमे भी काम अति भयावह है :—

"लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्हकै जग लीका।
एहि के एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी[2]॥"

इस कटक की विलक्षणता यह है कि अपने ही सेनापति मोह के संरक्षण मे माया स्वयं नारी रूप में आ उपस्थित होती है :—

"काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि[3]॥"

और तब इस पर विजय पाना ज्ञाननिधान ऋषि-मुनियों के लिए भी कठिन हो जाता है :—

"सोउ मुनि ज्ञान निधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि।
बिबस होहिं हरिजान नारि बिस्व माया प्रकट[4]॥"

माया की इसी सेना के वशीभूत हो जीव बँधता और भक्ति की शरण पाने से मुक्त होता है। यह संसार का क्रम और प्रभु की लीला का रहस्य है।

सीता के लिए 'माया' का प्रयोग कुछ लोगो को खटक सकता है। उनके विचारानुसार आदिशक्ति के लिए 'महामाया' का प्रयोग उचित होगा। इस सम्बन्ध में विचारणीय है कि तुलसीदास ने सीता के लिए 'महामाया' का प्रयोग कहीं नहीं किया है। हाँ, उन्होंने पार्वती को अवश्य ही उनकी वन्दना मे 'महामूल माया' कहा है[5]। उन्हे सप्तर्षियों ने माया भी कहा है :—

१ 'मानस' अरण्य० ३२। २ वही, ३१ ११, १२।
३ वही, ३७।
४ वही, उत्तर० ११५।
५ 'दुसह दोष दुख दलनि करु देवि दाया।
विश्वमूलासि जन सानुकूलासि, शर शूल धारिणि महामूल माया॥'
'विनय' पद १५।

"तुम माया भगवान सिव सकल जगत पितु मात[१] ।"

इस प्रकार एक ओर सीता को वह आदिशक्ति निरूपित किया गया जिसके अंश से अगणित लक्ष्मी, सरस्वती एवं पार्वती उत्पन्न होती हैं और दूसरी ओर पार्वती को ही महामाया और जगज्जननी कहा गया। इतना ही नहीं, सीता द्वारा उनकी जो वंदना हुई उसमें पार्वती को 'मातु' कहकर सम्बोधित कराते हुए आदिशक्ति के रूप में उनकी प्रतिष्ठा की गई[२]। इस प्रसंग में इतना और भी द्रष्टव्य है कि इन्हीं पार्वती के पति भगवान् शंकर राम की उसी माया को प्रणाम करते हैं जिसने उनकी अर्द्धांगिनी को मोहग्रस्त किया है :—

"बहुरि राम मायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा[३] ॥"

निश्चय ही शंकर यहाँ महामाया को प्रणाम कर रहे हैं। महामाया के इस स्वरूप का चरित्र प्रारम्भ होने से पूर्व वे अरण्यकांड के प्रारम्भ में ही पार्वती को सचेत करते हैं —

"उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति[४] ॥"

क्योंकि अब जगज्जननी का भ्रम में डालनेवाला रूप प्रकट होने वाला है। उसे इसी कारण केवल 'सीता' न कहकर 'माया सीता' कहा गया है[५]।

सीता जो लीला गूढ़ रूप से किया करती हैं उसकी किञ्चित् झलक उनके विवाह के अवसर[६] पर तथा चित्रकूट में[७] मिल जाती है। इसी से कहा गया है

---

१ 'मानस' बाल० ८६।

२ वही, २३९.५—२४०.२।

३ वही, ६०.५।

४ वही, अरण्य०, प्रथम दोहा।

५ "पुनि माया सीता कर हरना। श्री रघुवीर बिरह कछु बरना ॥"
वही, उत्तर०, ६५.६।

६ "जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगट दिखाई ॥
× × ×
सिय महिमा रघुनायक जानी। हरषे हृदय हेतु पहिचानी।"
वही, बाल० ३१०.७—३११.३।

७ "सीय सास प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई ॥"
वही अयो २५१ २

कि समस्त माया सीता की माया मे अंतर्हित है, जिसका रहस्य राम के अतिरिक्त अन्य कोई नही जान पाता[1]।

प्रभु की 'ललित नर लीला' मे योग देने के लिए उनका एक विलक्षण रूप प्रकट होता है। लक्ष्मण से भी गोपनीय यह लीला दर्शनीय है :-

"सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला। मै कछु करबि ललित नर लीला।
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करौ निसाचर नासा॥
जबहि राम सब कहा बखानी। प्रभु पद धरि हिय अनल समानी॥
निज प्रतिबिम्ब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥
लछिमनहूँ यह मरम न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना॥"[2]

इस प्रकार राम की माया के ये दो रूप प्रत्यक्ष हुए। एक की प्रेरणा से सती मोहग्रस्त हुई और भगवान शंकर ने उसे प्रणाम किया। दूसरी की प्रेरणा से मोहग्रस्त रावण का अन्त हुआ। माया के दर्शन अन्य रूपों मे भी होते है। कभी इसके कारण कौसल्या को मतिभ्रम होता दिखाई देता है, कभी यह नारद को नाच नचाती है तो कभी गरुड और काकभुशुडि तक इसके फेर में पड़े चक्कर काटते दिखाई पडते है। इन रूपों में भी यह सर्वत्र वन्दनीय ही देखी जाती है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि तत्वतः माया और महामाया मे कोई भेद नही है। जो मूल शक्ति सीता के रूप मे प्रकट होती है वही ब्रह्मा, विष्णु और महेश की शक्तियों मे आविर्भूत होती है। इतना ही नही, वही विभिन्न देवताओ की शक्तियों का भी मूल रूप है। अनन्तरूपधारिणी इस शक्ति के दो पक्ष है—विद्या तथा अविद्या। इनके लिए भी तुलसीदास ने 'माया' शब्द का प्रयोग किया है। प्रसंगानुसार माया का तात्पर्य कही विद्या माया तो कही अविद्या माया ग्रहण किया जाता है। तात्पर्य यह कि आदिशक्ति महामाया, विद्या माया एवं अविद्या माया तीनों के लिए गोस्वामीजी 'माया' शब्द का ही प्रयोग करते है। विश्व मे यही माया नर के साथ नारी-

---

१ "लखा न मरम राम बिनु काहूँ। माया सब सिय माया माहूँ॥"
'मानस', अयो. २५१.३

२ वही अरण्य० १७.१—५।

३ यहाँ तक कि नाशोन्मुख रावण भी मन ही मन इसके चरणों की वन्दना करता है। देखिए 'वही' अरण्य० २१ १६

रूप में प्रकट होती है और वहाँ भी अपने विद्या और अविद्या रूपों में दिखला पड़ती है।

ब्रह्म की आदि शक्ति को 'महामाया' न कहकर केवल माया' कहना उसके किसी प्रकार की हीनता का द्योतक नहीं है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' के चतुर्थ अध्याय में परमेश्वर को ही 'मायी' और 'मायिनम्' कहा गया है :—

"अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्ध." ॥९॥

और

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" ॥१०॥

निश्चय ही यहाँ 'माया' से तात्पर्य 'महामाया' से है।

ब्रह्म के सगुण रूप धारण करने पर उसकी आदिशक्ति जगत् की सृष्टि कर विश्वप्रपंच का संचालन करती है।[1] तब ब्रह्म जीव और जगत् का भेद उत्पन्न हो जाता है और 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी'[2] माया के बन्धन में पड़ा काल, कर्म, स्वभाव और गुण के घेरे में भ्रमण करता हुआ विभिन्न योनियों को प्राप्त करता रहता है[3]। ब्रह्म के विश्वरूप की यह झाँकी बड़ी अद्भुत है। ईश्वर जीव और माया का स्वरूप स्वयं राम ने लक्ष्मण को समझाया है।[4] उनके उपदेश का तात्पर्य है कि अखिल विश्व माया का ही प्रसार है। एक

---

१ "गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥"
'मानस', अरण्य० ८.३

२ "ऊमरितरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥"
वही, ६ ६

३ "आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥"
वही, उत्तर० ४३.४,५

४ "थोरेहु महु सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुःखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचै जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥"
वही, अरण्य० ८.१-७

रूप मे वह सृष्टिकर्त्री और दूसरे रूप में जीव के बंधन का कारण है। पर वह यह सब करती है प्रभु की प्रेरणा से ही। सारांश यह कि आदिशक्ति सृष्टिसंचालन मे लीन होने पर जिन दो रूपो मे क्रियाशील होती है वे हैं—विद्या और अविद्या।

विद्या और अविद्या का उल्लेख यजुर्वेद सहिता के चालीसवें अध्याय—ईशावास्योपनिषद्—मे है। वहाँ कहा गया है :—

"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँ रताः ॥ ९ ॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥
विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोभय ँ सह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" ॥ ११ ॥

मध्वाचार्य ने यहाँ अविद्या का तात्पर्य 'अन्य देवताओं की उपासना' और विद्या का तात्पर्य 'नारायण अथवा विष्णु की उपासना' माना है[1]। शाकर-भाष्य के अनुसार अविद्या 'अग्निहोत्रादि कर्म' और विद्या 'देवता ज्ञान' है[2]।

'बृहदारण्यक उपनिषद्' में भी विद्या और अविद्या का उल्लेख है[3]। मुण्डकोपनिषद्' मे दो प्रकार की विद्याओ की चर्चा है, एक परा और दूसरी अपरा[4]।

माया के साथ अविद्या का उल्लेख श्री विद्यारण्य स्वामी कृत 'पंचदशी' में प्राप्त होता है। उन्होंने माया और अविद्या—प्रकृति के ये दो रूप माने है। वहाँ कहा गया है :—

"चिदानन्दमय ब्रह्म प्रतिबिम्ब समन्विता।
तमो रज. सत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा" ॥ १५॥

---

१ 'The Upanishads with the commentary of Madhwacharya' Part I translated by Sri Sachandra Vasu.

२ ईशावास्योपनिषद् सानुवाद शांकर भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर।

३ बृहदारण्यक उपनिषद् अध्याय १ ब्राह्मण १ श्लोक १६।
इस उपनिषद् में अन्यत्र भी इसकी चर्चा है।

४ 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।' आदि मुण्डक० १,४।

तत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां माया विद्ये च मे मते ।
माया बिम्बो वशीकृत्य ता स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ।। १६ ।।
अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा ।
सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान्" ।। १७ ।।

यहाँ चिदानन्द ब्रह्म के प्रतिबिम्ब वाली तथा सत्त्व गुण, रजोगुण और तमोगुण वाली प्रकृति दो प्रकार की मानी गयी है—शुद्ध सत्त्वगुण प्रधान और मलिन सत्त्वगुण प्रधान। शुद्ध सत्त्व प्रधान अथवा माया में ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह ईश्वर कहलाता है। अविद्या में ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसका नाम जीव है।

विद्या-अविद्या के सम्बन्ध में गोस्वामी जी की धारणा उपर्युक्त मतों में से किसी के अनुरूप नहीं दिखाई पड़ती। 'श्रीमद्भागवत' में विद्या और अविद्या का उल्लेख अनेक स्थानों पर है। एकादश स्कंध में बद्ध, मुक्त और भक्त जनों के लक्षण बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव को इस प्रकार समझाया है —

"बद्धो मुक्त इति व्याख्याता गुणतो मे न वस्तुत ।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ।।
शोक मोहौ सुख दुखं देहापत्तिश्च मायया ।
स्वप्ने यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी ।।
विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् ।
मोक्ष बन्धनकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ।।
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतर. ।।

× × ×

योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः[1] ।।"

यहाँ माया विद्या और अविद्या रूप में मोक्ष एव बन्धनकारिणी मानी गयी है। निश्चय ही गोस्वामी जी की धारणा इसी के मेल में है। आचार्य पं०

---

१ 'श्रीमद्भागवत' ११: ११ १-४, ७। आगे चलकर भी 'विद्यात्मनि भिदाबाधो' आदि कहकर इसी मत की पुष्टि की गयी है। वही ११- १९- ४०।

विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र ने भी यही निर्धारित किया है जैसा कि उनके निम्नांकित विवेचन से स्पष्ट है :—

"मानस और श्रीमद्भागवत की तुलना करने पर अनेक गुत्थियों का सुलझाव सरलतापूर्वक हो जाता है। विद्या और अविद्या की चर्चा श्रीमद्भागवत में अनेकत्र है, पर उसका विस्तृत उल्लेख एकादश स्कंध में हुआ है :—

"वद्धो मुक्त इति व्याख्याता गुणतो मे न वस्तुत:

× × ×

विद्यामयो यः स तु नित्य मुक्तः॥"

इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि अविद्यामाया बंधनकारी है और विद्यामाया मोक्षकारी। काकभुशुंडि के प्रसंग में जो यह कहा गया है—'प्रभु प्रेरित व्यापै तेहि विद्या' तथा 'सो माया न दुखद मोहिं काही। आन जीव इव संसृति नाहीं' उसका वास्तविक कारण यह है कि विद्यामाया मोक्षकारी है, उससे सांसारिक विषयों से बंधन नहीं होता। अविद्यामाया जो दुष्ट और अतिशय दुःख रूप है और जिसके कारण जीव संसार के बंधन में पड़ा हुआ है सो वस्तुत: उसके बंधनकारी लक्षण के कारण। विद्यामाया जगत् की कल्पना करनेवाली माया है और प्रभु की प्रेरणा से सब प्रकार के कार्य करनेवाली है[1]।'

गोस्वामी तुलसीदास के ग्रंथों में माया का जो स्वरूप-निरूपण है उसके अनुसार उनका मत यही जान पड़ता है कि आदिशक्ति माया विद्या और अविद्या का समन्वित रूप है। इसी त्रिगुणात्मिका माया का प्रसार सृष्टि है। तीनों गुणों की विविध रूपमय अभिव्यक्ति के कारण वह विभिन्न रूपों में प्रतिभासित होती है और इसीलिए वह द्वन्द्वात्मक एवं गुणदोषमय है। ब्रह्म एवं माया सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त है। सृष्टि के द्वन्द्वों के मध्य 'माया ब्रह्म जीव जगदीसा' को भी स्थान इसी कारण से दिया गया है[2]। श्री राम-लक्ष्मण वार्ता में संक्षेप में इसका विवेचन है :—

---

१ 'हिन्दी साहित्य का अतीत'—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० २७७-७८।

२ "दुख सुख पाप पुन्य दिन राती। साधु असाधु सुजाति कुजाती॥
दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिअ सजीवन माहुर मीचू॥
माया ब्रह्म जीव जगदीसा। लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा॥
कासी मग सुरसरि क्रमनासा। मरु मारव महिदेव गवासा॥
सरग नरक अनुराग विरागा। निगम अगम गुन दोष बिभागा॥"

'मानस', बाल० १०५-६

"मैं अरु मोर तोर तै माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ[१]॥"

इन दोनों का कार्य पृथक्-पृथक् बतलाया गया है'—

"एक रचै जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताकें[२]॥'

इस त्रिगुणात्मिका माया का दूसरा रूप है :—

"एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा[३]॥"

यही अविद्या है जिसकी विशेषताएं है :—

"जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह मन करई[४]॥"

तमोगुणी होने के कारण जब यह जीव पर व्यापती है तो वह तम से घिर जाता और मोह, अज्ञान तथा जडता मे फँस जाता है। इसी से इसे दुष्ट, अतिशय दुखरूपा और जीव को भवकूप मे डालने वाली कहा गया है। इस 'भवकूप' का रूप काकभुशुंडि द्वारा समझाया गया है.—

"काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुख रूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप[५]॥"

इस तम के कारण जीव की दुर्दशा यह होती है.—

"जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
जीव हृदय तम मोह बिसेखी। ग्रंथि छूटि किमि परै न देखी[६]॥"

वह तम अविद्याजन्य है, इसे भक्ति-चिंतामणि के प्रसंग में भी स्पष्ट किया गया है:—

"प्रबल अविद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई[७]॥"

अविद्याजन्य यह तम ज्ञान-दीपक अथवा भक्ति-चिन्तामणि के प्रकाश से दूर हो सकता है। अविद्या की भाँति विद्या भी जीवो पर व्यापती है। सेनानी दोनो के समान है। अन्तर इतना ही है कि अविद्या सामान्य जीवो पर व्याप कर उन्हे अज्ञान के तम मे भटकाया करती है और विद्या व्यापती है

१ 'मानस' अरण्य० ८. २-४।
२ वही, ८. ६।
३ वही, ८, ५।
४ वही, उत्तर० ५८. ५।
५ वही, ७३.।
६ वही ११६. ४, ७।
७ वही, ११६. ५।

भगवान् की प्रेरणा से भक्तों पर। भक्त के मन में किसी प्रकार का संशय उत्पन्न होते ही प्रभु कृपा करके उसे निज स्वरूप का बोध कराने के लिए विद्या माया को प्रेरित करते हैं। माता कौसल्या, गरुड़, काकभुशुंडि और नारद इसके उदाहरण हैं। 'ज्ञान बिरत बिज्ञान निवासा'[1] काकभुशुंडि ने स्वानुभूति के आधार पर गरुड़ को यही समझाया है :—

"हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापै तेहि विद्या॥
ता ते, नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढै बिहग बर[2]॥"

विद्या माया के व्यापने के फलस्वरूप काकभुशुंडि को प्रभु का आशीर्वाद मिला था :—

"माया सम्भव भ्रम सब अब न व्यापिहहि तोहि।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि[3]॥"

माया सम्भव भ्रम का एक रूप वे गरुड को बतला चुके है :—

"सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहि देखिअ सो अबिबेक[4]॥"

तभी द्वैतबुद्धिजन्य क्रोध का दर्शन कर वे तर्क-वितर्क में पड गए थे :—

"बारंबार सकोप मुनि करै निरूपन ज्ञान।
मैं अपने मन बैठ तब करौं बिबिध अनुमान॥
क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अज्ञान।
माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान[5]॥"

परम ज्ञानी लोमश से भक्त काक की स्थिति भिन्न थी। इसी से शंकर जी उसकी प्रशंसा में कह उठे —

"उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहि बिरोध[6]॥"

---

१ "ज्ञान बिरति बिज्ञान निवासा। रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा॥"
'मानस' उत्तर. ६३. २।

२ वही, ७८. २, ३।

३ वही, ८५।

४ वही ४१।

५ वही, १११।

६ वही, ११२।

निष्कर्ष यह कि भक्त पर विद्या माया व्यापती और उसे समस्त विश्व में प्रभु की प्रतीति होने लगती है। ब्रह्म का सर्वत्र दृष्टिगोचर होना माया के बंधन से मुक्त हो जाना है। अतः प्रभु-कृपासे भक्ति प्राप्त होती, द्वैत-बुद्धि नष्ट होती और जगत् प्रभुमय हो जाता है। भक्त काक ने सगुण को प्राप्त किया, निर्गुण की अनुभूति की और अन्त में निर्गुण-सगुण के एकत्व की प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त कर सच्चे सेवक का पद पा लिया। माया द्वारा उत्पन्न भ्रम माया ही के द्वारा दूर भी हुआ। लोमश ने सगुण को समझ लेने पर भी निर्गुण को ही चरम लक्ष्य माना। किन्तु मुक्ति से अधिक भक्ति को महत्व देने वाले भक्त ने निर्गुणको समझते हुए सगुण के विश्वरूप की सेवा को ही परम प्राप्य ठहराया।

विद्या और अविद्या की इस चर्चा का सारांश यह है कि ब्रह्म और माया तत्वत अभिन्न होते हुए भी सृष्टि में भिन्न भासमान होते हैं। घट-घट वासी के रूप में अखिल ब्रह्माण्ड व्यापी ब्रह्म के साथ माया भी सृष्टिव्यापिनी हो जाती है। वह जड़ और चेतन दो रूपो में अभिव्यक्त होती है। तमोगुण की प्रधानता के रूप में उसकी जड़ता प्रत्यक्ष रहती है। इस प्रकार वह बद्ध जीव को भटकाया करती है। ब्रह्म के द्रवीभूत होने पर उसका संकेत पाकर वही कृपा रूप में कार्य करती और भक्ति का रूप धारण कर लेती है। तभी जड़ता दूर होती और चेतन का साक्षात् हो जाता है। यही अविद्या का जीव को बद्ध करना और विद्या का उसे मुक्त करना है। माया के इन दोनों रूपों का एक साथ दर्शन माता कौसल्या ने किया है :—

"देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी॥
देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरै ताही[१]॥"

इस प्रकार विद्या और अविद्या इन्हीं दो रूपों में माया लोक-लीला की सच्ची साधिका है। 'मानस' में इन दोनोंके स्वरूपों तथा कार्यों को समझाने का प्रयत्न हुआ है। गोस्वामी जी ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को कथासूत्र में पिरोकर महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया और उन्हें मानव-जीवन में चरितार्थ होते दिखलाया है। विचारणीय है कि वे किस प्रकार नारी के विविध रूपो में विद्या तथा अविद्या के विविध रूप चरितार्थ होते दिखलाते तथा यह स्पष्ट कर देते हैं कि किस प्रकार अविद्याजन्य तम में पड़े हुए पुरुष को उसके ये रूप समझ

---

१ 'मानस', बाल० २०६ ३ ४।

कर अपने कर्तव्य का निर्वाह करना और इसी जीवन मे राम की प्राप्ति करना है।

पुरुष के जीवन में नारी का सम्पर्क अनिवार्य है। नारी के दोनों रूपो—विद्या और अविद्या को भलीभाँति परखने में समर्थ होने पर ही पुरुष अपना कर्तव्य निर्धारित कर सकता है। जिसने यह समझ लिया कि कब और कैसे नारी का त्याग अथवा सहयोग प्राप्त किया जाय उसी का जीवन सफल हो सकता है। अन्यथा उसकी दशा तो यह है —

"पुरुष त्यागि सक नारिहि जो विरक्त मति धीर।
न तु कामी विषया बस बिमुख जो पद रघुबीर॥
सोउ मुनि ज्ञान निधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि।
बिबस होहि हरिजान नारि बिस्व माया प्रगट[1]॥"

तात्पर्य यह कि स्त्रीतत्त्व के रूप मे सर्वत्र व्याप्त माया संसार के सभी विषयों में समाविष्ट होकर पुरुष को बन्धन में डाल रही है। इन विषयो का परित्याग धीरमति विरक्त तो कर सकते है परन्तु रामविमुख और विषयासक्त पुरुष कामनायुक्त हो विषय-सुख मे लीन होते और नारी को उसका मुख्य साधन मानकर उसके वशीभूत हो कष्ट उठाते है। विषयो के चिन्तन से विषयासक्ति और काम उत्पन्न होता है। काम से क्रोध, फिर मोह और अन्त में सर्वनाश होता है[2]। काम के मूल में होने से नारी ही पतन का मुख्य कारण हो जाती है। माया स्त्रीतत्त्व के रूप मे सर्वव्यापी हो विश्व को वशीभूत किये हुए है। पुरुष तत्त्व उसकी ओर आकृष्ट होता है। यदि उसके मोह मे पड अपना स्वरूप भूल गया तो सर्वनाश हुआ। किन्तु यदि उसे पहचान कर उसका सदुपयोग किया तो वही राम से मिलाने वाली परम शान्तिदायिनी हो जाती है। माया का यह रूप हृदयगम कर लेने पर विद्या और अविद्या को समझकर अपना कर्तव्य निर्धारित करने में कोई कठिनाई नही होती। नारी का जो स्वरूप राम के समीप ले जाए वही ग्राह्य और जो राम से दूर करे वही त्याज्य

१ 'मानस', उत्तर० ११५।

२ "ध्यायते विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधात्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥"
'श्रीमद्भगवद्गीता' अध्याय २. ६२-६३।

प्रतीत होता है। तथ्य तो यह है कि जहाँ काम है वहाँ राम नहीं और जहाँ राम है वहाँ काम नहीं टिक सकता। अतः नारी के उस रूप से सतर्क रहना चाहिए जो काम का कारण बनता और राम से पराङ्मुख करता है। नारी केवल काम-साधना का उपकरण नहीं, परमार्थ साधन की सच्ची सहायिका भी है। कोई धर्मकार्य अर्द्धांगिनी बिना पूर्ण नहीं समझा जाता। नारी लोक और परलोक दोनों की साधना में योग देने वाली है। आवश्यकता इतनी ही है कि पुरुष उसे अपनी साधना का क्रियात्मक अस्त्र समझकर उससे पूरा लाभ उठाये। यही स्पष्ट करने के लिए विद्या माया और अविद्या माया का इतना विस्तार किया गया है। अब देखना है कि 'मानस' में विद्या माया रूपी नारी और अविद्या माया रूपी नारी का स्वरूप किन विशेष पात्रोंमें चरितार्थ हुआ है।

"मानस' में राम की ओर उन्मुख करनेवाली तथा राम से विमुख करने का प्रयत्न करने वाली अनेक नारियाँ हैं। राजा दशरथ अपनी सहधर्मिणी के साथ अखण्ड तपस्या करके ही वासुदेव को पुत्र रूप में प्राप्त कर परम सौभाग्यशाली हो सके थे। शतरूपा में कुछ ऐसी विशेषता थी जो मनु में नहीं थी और जिसके कारण उन्हें दशरथरूप में राम से वियुक्त होना पड़ा था। शतरूपा ने भगवान् से वर माँगा था :—

"सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु[1]॥"

माता कौसल्या ने भी बिराट् रूप का दर्शन कर चुकने पर प्रभु से याचना की थी।

"बार-बार कौसल्या बिनय करै कर जोरि।
अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि[2]॥"

वरदान-स्वरूप प्राप्त यह विवेक कौसल्या के महान् चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है। अविद्या माया कभी उन्हें पथभ्रष्ट अथवा व्याकुल नहीं कर सकी। दशरथ की स्थिति कुछ भिन्न हो गई। वे काम के वशीभूत हो महारानी के कोपभवन में प्रविष्ट हुए कि काम ने अपना काम किया और सब काम बिगड़ गया[3]। काम और क्रोध के परिणामस्वरूप उन्हें राम से बियुक्त होना पड़ा और चारों ओर अंधकार छा गया।

---

१ 'मानस', बाल० १५५। २ वही, २०७।
३ आगे देखिए पृ० ४५।

परन्तु विवेक ने कुछ और ही कार्य किया। काम और क्रोधके तीसरे सहयोगी लोभ के निवारणार्थ उसने पहले ही विराग को आश्रय देते हुए आज्ञा दे दी —

"जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौ पितु मातु कहेउ वन जाना। तौ कानन सत अवध समाना[1]॥"

राम के वियोग में राजा ने प्राण त्याग दिए। परन्तु अभी अविद्या का कार्य पूरा नहीं हुआ। भक्त को मार्गच्युत करना शेष रहा है। अतः भरत के आगमन पर कैकेयी बड़े उत्साह से उनका स्वागत करती और विषाद प्रदर्शित करती हुई उन्हे राज्य का प्रलोभन देती है। भरत की दशा राजा से भिन्न है। राजा काम के वशीभूत थे पर भरत राम के वशीभूत है। अत. उनके यहाँ काम के लिए स्थान नही है। वहाँ तो राज्य भी नरक-तुल्य प्रतीत होता और राज्य दिलाने वाली मूर्तिमती अविद्या के रूप में दिखलाई पड़ती है। इसीलिए भक्त-शिरोमणि के मुख से उसके प्रति कठोर एवं कटु वचन निकल पडते है। भक्त समझ लेता है कि यह पूज्य मातृशक्ति नहीं, जननी के रूप मे मूर्तिमान् त्याज्य अविद्या है, जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति से मुझे प्रभु से विमुख करने के लिए कटिबद्ध हो रही है। अत. उनका क्षोभ कठोरतम शब्दो मे फूट पडता है:—

"जो हसि सो हसि मुँहु मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई[2]॥"

इस सहज प्रेमी भक्त पर अविद्याजन्य काम, क्रोध अथवा लोभ का प्रभाव पडना असम्भव था। प्रश्न उठता है—क्या दशरथ भक्त नही थे? थे, पर उन्होंने सहज प्रेम के कारण नही, अखण्ड तपस्या के बल से राम को पुत्र रूप मे प्राप्त किया था। तप से भगवान् को वश मे कर लिया परन्तु किसी तापस का शाप भी प्राप्त किया था जिसने तप-बल को विनष्ट कर दिया। मनु का विराग सहज न था.—

"होइ न विषय विराग भवन बसत भा चौथ पन॥
हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरि भगति बिनु[3]॥"

अतः उन्होने बरबस पुत्र को राज्य दे कठिन तपस्या का मार्ग ग्रहण किया था[4]। बरबस उत्पन्न किए गए विराग पर काम विजयी हो गया और वे

१ 'मानस', अयो० ५५-१,२। २ वही, १६१-८।
३ वही बाल० १४०। ४ वही १४३-१ १४६।

काम के वशीभूत हो गए। भरत की स्थिति भिन्न थी। वे रामप्रेम के लिये अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की अवहेलना करने वाले सहज विरक्त और सहज प्रेमी थे[१]। जिस अयोध्या मे वृद्ध राजा दशरथ महारानी के भवन में कामासक्त होकर गये थे उसी नगरी मे युवावस्था मे ही भरत अनन्त विभूति और ऐश्वर्य का परित्याग कर तपस्वी-जीवन व्यतीत कर सके थे। यही कारण था कि जो नारी रूपी अविद्या दशरथ को नष्ट कर सकी वही भरत को प्रभावित करने मे समर्थ न हो सकी। उसके इस रूप को पहचान कर ही भरत ने कहा थाः—

"भे अति अहित राम तेउ तोही। को तू अहसि सत्य कहु मोही॥[२]"

इस प्रसंग मे विद्या माया रूपी नारी एवं अविद्या माया रूपी नारी—'माया रूपी नारि' के दोनों रूपो—की करनी प्रकट हो गई। कौसल्या का कार्य विद्या का है और कैकेयी का अविद्या का। कैकेयी के इसी रूप की निन्दा 'मानस' में है। अन्यथा भरत जी का ही वचन हैः—

"मातु मंद मइ साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥
फरै कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक काली॥[३]"

कवि का संकेत प्रकारान्तर से यही है कि यदि भरत ऐसे पुण्यश्लोक की माता स्वभाव से कुटिल हो तो पवित्रहृदया किसकी माता होगी? स्वभाव से कुटिल न होते हुए भी कैकेयी ने वही किया जिसके लिए उसका अवतार हुआ था और किया उस सरस्वती की प्रेरणा से जो सूत्रधार राम की कठपुतली है[४]। तभी तो राम का भरत से कहना है—

"दोसु देहि जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई[५]॥"

सत-सभा का सेवन करने वाला राम के रहस्य को जानता है कि किस प्रकार—

"राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहिं कोई[६]॥"

---

१ 'मानस', अयो०—२०४·५।
२ वही, १६१·७।
३ वही, २६०·३,४
४ "सारद दारु नारि सम स्वामी। रामु सूत्रधर अन्तरजामी॥"
वही, बाल० १०६·५
५ वही, अयो० २६२·८। ६ वही बाल० १२८·१

कभी यही सरस्वती भरत की जिह्वा पर जा विराजती और उनके हृदय में अयोध्या लौट जाने की इच्छा प्रकट करने की प्रेरणा करती है[1]। कैकेयी के मन में वह अविद्या का कार्य करती और भरतके हृदय मे विद्या रूप में प्रकट होती है। सरस्वती के भी दोनो पक्ष—विद्या और अविद्या—यहाँ स्पष्ट हैं।

कौसल्या के साथ ही माता सुमित्रा, सीता तथा अन्य स्त्रियाँ जो कैकेयीको समझाती हैं विद्या ही का कार्य करती है।

माता सुमित्रा लक्ष्मण के बिना माँगे ही बन-गमन की आज्ञा देती हैं:—

'जौ पै सीय राम बन जाही। अवध तुम्हार काज कछु नाही[2]॥"

सुमित्रा का यह त्याग अद्भुत और अपूर्व है। कौसल्या माता-पिता की आज्ञा की मर्यादा-रक्षा के हेतु राम को वन-गमन की अनुमति देती हैं परन्तु सुमित्रा के लिए ऐसा कोई बन्धन नही है। वहाँ तो वह मातृहृदय है जो रामप्रेम को जीवन का सर्वस्व मानने वाले पुत्र को जन्म देना ही मातृत्व की सफलता समझता है:—

"भूरि भाग भाजनु भयेहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ।
पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुत होई[3]॥"

वे राम-प्रेम के कारण लक्ष्मण को अपने साथ परम भाग्यशाली समझ उन्हे राम की निष्काम सेवा का उपदेश देकर बिदा करती है। यह भी उसी विद्या का महान् कार्य है जो राम-प्राप्ति की साधक हुआ करती है।

कौसल्या विवेकशीला हैं। उन्हें बोध है कि इस विश्वप्रपंच का संचालन विद्या और अविद्या के योग से होता है और होता है प्रभु की इच्छा से ही। फिर हम क्यों किसी की भर्त्सना करें कि उसने हमारा काम बिगाडा। सुख और दुःख हमारे कर्म-विपाक का भोग है, कोई उसका निमित्त क्यो न बन जाए। इसी से उनका समाधान है—

"कौसल्या कह दोसु न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू॥
कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ करम फल दाता॥[4]"

---

१ "हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तें मुख पंकज आई॥"
मानस, अयो० २९६.७

२ वही, ७३.४। ३ वही, ७४, ७४.१।

४ वही, २८१.३-४।

इस अवसर पर जगज्जननी का कार्य भी विद्या का ही है। यद्यपि वे स्वयं माया का अवतार है और विश्व के महानाटक में सर्वव्यापिनी मायाशक्ति वे रूप में कही विद्या तो कही अविद्या का कार्य किया करती है[1]। विद्या का निवास सदा राम के पास है अत: उसी के अनुरूप उनका कथन हुआ.—

"जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी[2]॥"
और अधिक समझाए जाने पर कह दिया कि यदि मुझे छोड़ कर वन जाना है तो इस शरीर को निष्प्राण ही समझो। संकेत है कि ब्रह्म और माया अभिन्न हैं। जब तक अविद्या का कार्य प्रारम्भ नही होता दोनो को साथ रहना है। समय आने पर विद्या राम में लीन होगी और अविद्या पृथक् हो प्रभु की लीला में योग देगी। जगज्जननी विद्यारूपिणी होने से ही पराभक्ति स्वरूपा मानी गयी है। गोस्वामी जी ने इस रूप में भी उनका स्मरण किया है। 'विनयपत्रिका' में कहा गया है:—

"ज्ञान अवधेस, गृह गेहिनी भक्ति सुभ तत्र अवतार भूभार हर्ता[3]॥

इसीलिए सारे देवता उनके कृपा कटाक्ष के अभिलाषी रहते हैं[4]। इस रूप मे वे राम से सर्वदा अभिन्न है। उनका दूसरा रूप है 'माया सीता' का रूप जो ललित-नर-लीला में योग देने के लिए प्रभु मे पृथक् होकर उनका कार्यसपादन करता है। 'माया सीता' का अर्थ है सीता का वह रूप जो भ्रम मे डालने वाला है। रावण राम-विमुख था अत: विद्या माया तो उसके समीप जा नही सकती थी। इसी कारण माया का अविद्या रूप उसके समक्ष गया और उसके विनाश का कारण बना। इसके फेर मे पडकर रावण को भी खूब नाच नाचना पड़ा। प्रत्यक्ष हो गया कि जो राम के सम्मुख होने वाले जीवोके लिए अखिल कल्याण-कारिणी है वही रामविमुख के लिए अविद्या हो जाती है। मन्दोदरी ने इस रूप को निशिचर-कुल के लिए पूर्ण अहितकर समझ कर ही रावण से कहा था.—

"तब कुल कमल विपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई[5]॥"

---

१ अविद्या रूप की चर्चा अन्यत्र है।

२ 'मानस, अयो० ६४.७।

३ 'विनय' पद ५८।

४ 'जासु कृपा कटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ।
राम पदारविंद रति करति स्वभावहि खोइ॥" 'मानस' उत्तर० २४।

५ वही सुन्दर० ३५.८

अविद्या के रूप मे जिन अन्य नारियों के दर्शन होते है उनमें प्रमुख हैं मंथरा, सुरसा, लंकिनी और शूर्पणखा। मन्थरा एक विलक्षण नारी पात्र है। जब राम की दासी माया इसे अपना अस्त्र बनाती है तो यह दासी भी चक्रवर्ती राजा दशरथ के राज्य को पलट देने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेती है। जहाँ लौकिक पात्र के रूप में मंथरा के चरित्र मे हम नारी-स्वभाव के एक निकृष्टतम रूप का परिचय पाते और कवि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के कौशल पर आश्चर्यचकित होते है वहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से उसमें अविद्या के प्रवचनापूर्ण रूप का साक्षात्कार कर लेते है। परम बुद्धिमती भरत-माता कैकेयी को पथभ्रष्ट करने की क्षमता राममाया की अविद्या मे ही हो सकती है। निदान, अविद्या की शक्ति का एक विशेष रूप मन्थरा में प्रकट होती है।

सुरसा और लंकिनी प्रभु की सेवा के मार्ग पर अग्रसर ज्ञानी भक्त के समक्ष विघ्न रूप मे उपस्थित होती है। निरन्तर वृद्धिशील सुरसा अविद्या के उस तृष्णारूप का प्रतीक है जो अहंकार के साथ यश-लोलुपता के रूप में उत्पन्न हो ज्ञानी के मार्ग मे विघ्न रूप हो जाती है। पर ज्ञानी जहाँ अहं को त्याग, सकुचित हो उसे 'माई' के रूप मे देखता है तो वह भी अवरोधक नहीं रह जाती। तात्पर्य यह कि अविद्या के रूप में भी मातृ-शक्ति को पहचानना ज्ञानी का काम और भक्ति की सफलता मे सहायक है। यह तथ्य देवीसूक्त मे सन्निहित है जहाँ 'या देवी सर्वभूतेषु मातृ-रूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः'[१] के अनुसार तृष्णा, दरिद्रता, लज्जा, घृणा आदि सभी का मातृरूप मे नमन किया गया है। ज्ञान की दृष्टि ही स्त्रीतत्त्व मात्रमे माता के दर्शन कर सकती है। यहाँ यह भी दिखाई पड़ा कि जब 'माई'[२] के सम्बोधन से राक्षसी भी अनुकूल हो गई तो कोई कारण नहीं कि कोई मानवी इस रूप में समादृत होने पर भक्त के अनुकूल न हो जाए।

'ज्ञानिनामग्रगण्यं'[3] रूप ज्ञान का प्रवेश मोह के राज्य मे तब तक न हो

---

१ मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत देवीसूक्त से।

२ "राम काजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कै सुधि प्रभुहि सुनावौं।
तब तुअ बदन पैठिहौं आई। सत्य कहौं मोहि जान दे माई॥"
'मानस', सुन्दर० १.४–५।

२ वही, वंदना श्लोक ३

सका जब तक उसने उसकी रक्षिका लंकिनी पर विजय प्राप्त नही की। उसका कार्य यही देखना था कि मोह के प्रदेश मे उसका विरोधी कोई प्रवेश न कर सके। ज्ञानदीपक के प्रसंग मे समझाया गया है कि अन्तस् में व्याप्त मोहान्धकार को दूर करने वाले ज्ञान-दीपक के जलने पर माया (अविद्या) अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित करती है। कोरा ज्ञानी उसके प्रकाश मे बाधक अविद्या पर विजय प्राप्त करने में असमर्थ ही सा रहता है, परन्तु जिसे राम का बल है, ऐसा प्रभु का विशेष प्रिय भक्त राम के बल से अविद्या को पराजित कर मोह का राज्य भस्मसात् कर देता है। तात्पर्य यह है कि रामप्रेम का आश्रय लेकर चलने वाला भक्त नाना रूपों मे विघ्न रूप उपस्थित होनेवाली अविद्या को पराजित कर प्रभु की विशेष कृपा का पात्र हो जाता है।

'मानस' के इस अध्यात्म पक्ष की प्राप्ति सर्वसुलभ नही है।

"आवत एहि सर अति कठिनाई। राम कृपा बिनु आइ न जाई[1]॥"

मे यही सकेत किया गया है। अन्यथा, कथा का लौकिक पक्ष तो हर एक व्यक्ति समझ लेता है।

'मानस' का प्रतिपाद्य है राम के स्वरूप का निरूपण :—

"जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना[2]॥"

का तात्पर्य यही है। वस्तुत' वक्ता को समझाना और श्रोता को समझना है कि राम ही ब्रह्म और सीता ही आदिशक्ति है। इसमें किसी प्रकार के संशय का अवसर आते ही, चट वक्ता श्रोता को सचेत करता है कि भ्रम मे मत पड़ो। राम लौकिक पुरुष मात्र नही। यह लोक-लीला तो इनका चरित है। इसी मे इनके परम रूप का दर्शन इष्ट होना चाहिए। यह चेतावनी सबसे अधिक पार्वती को दी गई। गोस्वामी जी के मन को राम-रूप मे सन्देह था ही नहीं। उसे तो बार-बार यही समझाना था कि राम से अनुराग करे। तत्त्वदर्शी त्रिकालज्ञ ऋषि याज्ञवल्क्य एवं भरद्वाज को भी राम-रूप मे सन्देह नही था। उन्हे राम-चरित-चर्चा में लीन हो परमानन्द लाभ करना था। अभिमानग्रस्त गरुड़ का मोह भी सच्चे सन्त काकभुशुडि के आश्रम में प्रवेश करते ही समाप्त हो गया था और केवल चरित-श्रवण और रसानन्द की कामना शेष रही थी। पार्वती को

---

१ 'मानस', बाल० ४२.६।

२ वही उत्तर० ६० ६।

बार-बार चिताया गया कि राम ही अविनाशी ब्रह्म हैं जो लोक-कल्याण लोक-लीला कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि सती के रूप में उन्हें प्रबल सन्देह हुआ था[1]। उसका कारण राम की प्रेरणा एवं सती की सहज थी। अन्तर्यामी शिव ने इसे समझ कर ही उन्हें भली-भाँति सचेत किया

"सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ"

और समझाया भी कि :—

"सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति मायाधनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी[3]॥

इतने पर भी सती का संशय दूर न होने पर शंकर भगवान् को कहना कि जाकर परीक्षा क्यों नहीं ले लेतीं? सती ने परीक्षा ली। राम के रूप के दर्शन कर भयभीत हो गईं, पति से कपट किया और किया भाषण :—

"कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं"

शंकर ने प्रण किया। देववाणी सुनकर सती ने उसे जानना चाहा।

---

१ "सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेखी।
संकरु जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥
भये मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥
ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥
बिस्नु जो सुर हित नर तनु धारी। सोउ सरबग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यान धाम श्रीपति असुरारी॥
संभु गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सरबग्य जान सब कोई॥
अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥"
'मानस', बाल० ५४.५—५५.३।

२ वही, ५५.६।

३ वही, ५५.११—१२।

४ वही, ६०.२।

भगवान् मौन रहे। सती ने अपनी सहज जड़ता को समझ लिया। उन्हें आत्मग्लानि हुई :—

"सती हृदय अनुमान किय सब जानेउ सरवग्य।
कीन्ह कपट मैं संभु सन नारि सहज जड़ अग्य[1] ॥"

सती के सम्बन्ध में कहा गया है:—

"सुमिरत जाहि मिटै अज्ञाना। सोइ सरबग्य रामु भगवाना॥
सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ। देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ[2] ॥"

'नारि सहज जड़ अग्य' यहाँ वह नारिस्वभाव है जो माया के विशेष रूप अविद्या का एक लक्षण है। माया चेतन भी है और जड़ भी। उसकी जड़ता ही के कारण सृष्टि मे जड़ता और अनित्यता है। सती इसी जडता को प्रतीक है। अत. 'संशयात्मा विनश्यति' के अनुरूप ही संशय-ग्रस्त होकर अपना विनाश करती है। जड़तावश शका करती, असत्य भाषण करती, कहना न मान कर पिता के घर जाती, और अन्त मे क्रोध कर अपने शरीर को क्षार कर देती है। साथ ही पिता को शाप देकर उनकी भी दुर्गति का कारण बनती है। शंकर की अर्द्धांगिनी के दोनों रूप—सती एवं पार्वती—भक्ति के क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्व के हैं[3]। पार्वती को पूर्व जन्म की घटना विस्मृत नहीं हुई है। हाँ उनके संशय का स्वरूप अवश्य बदल गया है। पूर्वजन्म मे वह राम से विमुख करने वाला—अविद्याजन्य था और अब वह राम के स्वरूप-बोध का हेतु होने से विद्याजन्य है। पार्वती का वस्तुतः सन्देह है ही नहीं। शंकर जी के वचनों से यह स्पष्ट है :—

"धन्य धन्य गिरिराज कुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी॥
पूछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥
तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी॥
राम कृपा तें पारबति सपनेहुँ तव मन माहिं।
सोक मोह सन्देह भ्रम मम बिचार कछु नाहिं॥
तदपि असंका कीन्हिहु सोई। कहत सुनत सब कर हित होई[4] ॥"

---

१ 'मानस' बाल० ६२।

२ वही, ५७. ४.५।

३ इसका विस्तृत विश्लेषण द्वितीय अध्याय में किया गया है।

४ 'मानस', बाल० ११६.६-११७. १।

जिज्ञासा बिना राम-चरित कहा नही जा सकता था। पार्वती की विस्तृत जिज्ञासा का उत्तर है—'राम-चरित-मानस'। अस्तु, पार्वती का संशय उनके ही नहीं अखिल लोक के कल्याण का कारण बन जाता है। उनके कारण शंकर के मानस में चिरकाल से प्रतिष्ठित 'मानस' जगत् के समक्ष प्रकट हो जाता है। उसे प्रकट करने के पूर्व शंकर भगवान् दो दण्ड तक ध्यानमग्न रहते है —

"मगन ध्यान रस दण्ड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनइ लीन्ह[1]॥"

राम-चरित प्रकट करने के पूर्व ध्यानमग्न रहने का रहस्य निम्नांकित पंक्तियो पर मनन करने से स्पष्ट हो जाता है :—

"व्यापकु ब्रह्म एक अविनासी। सत चेतन घन आनंद रासी॥
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते[2]॥"

पार्वती को सावधानी से सुनकर समझ लेना है कि जो कूटस्थ है वही सगुण रूप में प्रत्यक्ष होता है, जैसे रत्न से मूल्य। इसीसे कूटस्थ के 'ध्यान रस' मे मग्न रहकर तब शंकर जी उसके व्यक्त स्वरूप की चर्चा मे लीन होते है। अमूल्य रत्न जब तक मूल्य मे परिवर्तित नही हो जाता तब तक हमारे सामान्य जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति नही कर सकता। उसी प्रकार कूटस्थ अविनाशी, सच्चिदानन्द ब्रह्म जब तक सगुण रूप में प्रत्यक्ष नही होता तब तक हमारे लौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन को कष्टविहीन और सफल नही कर सकता। वस्तुत' पार्वती की शंका के रूप में वह शंका प्रकट की गई जो उस समय लोक की शंका हो रही थी और कबीरदास जैसे पक्के संत की वाणी के कारण जनता भ्रम में पड़ रही थी[3]। उसका समाधान राम-चरित के द्वारा ही हो सकता था। मन, बुद्धि और वाणी से अतर्क्य राम के स्वरूपका बोध उनके चरित्र के दर्शन से ही सम्भव था। इसीसे शंकर भगवान् ने पार्वती को सावधान किया :—

"राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी[4]॥"

---

१ 'मानस', बाल० ११६। २ वही २७ ६-८।
३ देखिए पीछे पृ० २, टिप्पणी १।
४ 'मानस' बाल० १२५.३।

तात्पर्य यह कि राम के स्वरूप का बोध करना हो तो पार्वती की शरण में जाना चाहिए। श्रद्धारूप भवानी के बिना 'स्वान्तस्थ' ईश्वर के दर्शन सम्भव नहीं हैं।

निष्कर्ष यह कि राम के स्वरूप के बोध का सारा श्रेय पार्वती को है जिन्हें तुलसीदास 'महामूल माया[2]' कहते हैं। उनके दोनों पक्ष यहाँ प्रत्यक्ष हो जाते हैं। सती अविद्या का और पार्वती विद्या का प्रतीक है।

अविद्या का निकृष्टतम नारी रूप है—प्रमदा। इसी के कुप्रभाव को बतलाते हुए श्रीराम भक्त नारद से कहते हैं :—

"अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि[3]॥"

इस प्रसंग से 'प्रमदा' का अर्थ स्पष्ट हो जाना चाहिए। 'प्र' उपसर्ग जिस शब्द के आदि में रहता है उसमें किसी गुण की विशेषता या प्रधानता का द्योतन करता है, यथा प्राचार्य, प्रवचन, प्रकोप आदि शब्दों का अर्थ क्रमशः प्रकृष्ट आचार्य, विशेष वचन और असाधारण कोप होता है। इसी प्रकार 'प्रमदा' का अर्थ भी समझना चाहिए। 'मद' का अभिप्राय है 'नशा' या 'गर्व'। सामान्यतः शब्दकोश में 'प्रमद' का अर्थ 'जिसमें बहुत मद हो' या 'विवेकहीन' प्राप्त होता है और 'प्रमदा' का अर्थ 'रूपवती स्त्री' मिलता है। परन्तु प्रत्येक रूपवती स्त्री 'प्रमदा' नहीं कही जा सकती। कम से कम गोस्वामी जी ने जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है उस अर्थ में न तो 'जगत जननि अतुलित छबि भारी' और न 'छबिखानि', सुन्दरता मरजाद भवानी[5]' को ही प्रमदा कहा जा सकता है। प्रमदा में मद का होना आवश्यक है। मद कई प्रकार का हो सकता है धन का, बल का, विद्या का अथवा अन्य किसी वस्तु का। प्रभुता का मद प्रसिद्ध ही है। देखना यह है कि नारी किस

---

१ इसी से 'मानस' के प्रारम्भ में ही उनकी वन्दना की गई है :—
'भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥"

२ देखिए पीछे पृष्ठ १७ टिप्पणी ३

३ 'मानस', अरण्य० ३८।

४ वही, बाल० २५२.२।

५ वही, १०४.८।

मद से आक्रान्त हो सकती है। उसके पास वह कौन सी विभूति है जो पुरुष के पास नहीं है ? कहना न होगा कि वह है पुरुष मात्र के अन्तःकरण को प्रभावित करने वाली उसकी रूपराशि। इसीसे माया की दुर्धर्ष शक्ति का वर्णन करते हुए उसके मनमोहक रूप को ही उसकी प्रबल शक्ति बतलाया गया है जो बड़े-बड़े 'ज्ञाननिधान'[1] मुनियों को भी अभिभूत कर देती है। नारी के इस शस्त्र के आगे संसार का कोई भी पुरुष अपने को सुरक्षित नहीं समझ सकता[2]। जब भगवान् राम के पिता श्री दशरथ और विरक्त संत नारद भी इसके चक्कर में पड गये तब अन्य किसी का कहना ही क्या है ? इसकी दुर्धर्ष शक्ति की विशेषता का वर्णन भगवान् श्रीराम ने इस प्रकार किया है :—

"लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका।।
एहि के एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी[3] ।।"

स्पष्ट हो गया कि प्रमदा वह नारी है जिसे रूप का मद हो। किसी रूपवती स्त्री में यह मद न होने पर भी यदि कोई पुरुष उसके सौन्दर्य को देख कामोन्मत्त हो उसके मद को चूर्ण करना चाहे तो उसे भी वह 'प्रमदा' ही दिखाई पडेगी। तात्पर्य यह कि नारी में रूप का मद हो अथवा उस पर आरोपित किया जाए, रूप की यही विशेषता नारी को 'प्रमदा' के विशेषण का अधिकारी बनाती है।

हमें विचारपूर्वक सतर्कता से देखना यह है कि 'मानस' के कौन से नारी-पात्र इस कोटि में रखे जा सकते है। वस्तुतः इसमें तीन विभिन्न कोटि तथा विपरीत परिस्थिति वाले पात्र दिखलाई पडते है। वे है कैकेयी, शूर्पणखा तथा अहल्या। कैकेयी में प्रमदा का रूप देखना उनका अपमान नहीं है। वे पुण्यश्लोक भरत की माता हैं। परन्तु जहाँ तक दशरथ से उनका सम्बन्ध है उन्हें इसी रूप मे प्रस्तुत किया गया है। ऐसा किया गया है यह प्रत्यक्ष करने के लिए कि नारी के इस रूप को महत्त्व देने से दशरथ ऐसे महापुरुष का भी अनिष्ट अवश्यम्भावी है। मन्थरा कैकेयी से कहती है :—

---

१ देखिए पीछे पृष्ठ १७ टिप्पणी २।

२ "नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा।
लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया।।"
'मानस', किष्किन्धा, २०.४, ५।

३ वही अरण्य, ३१ ११ १२

"नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप कपट चतुराई॥"[1]

और

"सेवहिं सकल सवति मोहि नीकें। गरबित भरत मातु बल पी कें॥
+ + +
राजहिं तुम पर प्रेम बिसेषी। सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी॥"[2]

उक्त वचनों द्वारा बहुत मर्यादापूर्वक संकेत कर दिया गया है कि राजा कैकेयी में विशेष आसक्त हैं। कोपभवन के प्रसंग में इसका रूप और भी खुलकर सामने आता है :—

"साँझ समय सानन्द नृप गयेउ कैकई गेह।
गवनु निठुरता निकट कियेउ जनु धरि देह सनेह॥
कोप भवन सुनि सकुचेउ राऊ। भयबस अगहुड़ परइ न पाऊ॥
सुरपति बसइ बाँह बल जाकें। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥
सो सुनि तिय रिस गयेउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई॥
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥"[3]

परिणाम होता है :—

"केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि नेवारई।
मानहुँ सरोष भुजंग भामिनि बिषम भाँति निहारई॥
दोउ बासना रसना दसन बर मरम ठाहरु देखई।
तुलसी नृपति भवितब्यता बस काम कौतुक लेखई॥
बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि।
कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर॥"[4]

'सुमुखि' के इस 'काम कौतुक' के भ्रम में पड़े हुए राजा उसे प्रसन्न करने की झोंक में यहाँ तक कह बैठते हैं :—

"अनहित तोर प्रिया केहिं कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा॥
कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासउँ देसू॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नर नारी॥

---

१ 'मानस', अयो० १३·६।

२ वही, १७·३, ५।

३ वही, २४-२४·४।

४ वही, २४·६-१२, २५।

जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मनु तव आनन चंद चकोरू॥
प्रिया प्रान सुत सरबस मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥
जौं कछु कहौं कपटु करि तोही। भामिनि राम सपथ सत मोही॥
बिहँसि माँगु मनभावति बाता। भूषन सजहि मनोहर गाता॥
घरी कुघरी समुझि जिय देखू। बेगि प्रिया परिहरहि कुबेखू[1]॥"

प्रजापालक महाराज के ये बचन इसमें कोई सन्देह नहीं रहने देते कि रानी के रूप की आसक्ति ने उनके विवेक का अपहरण कर लिया है और इस समय वे अपनी चेतना खो चुके हैं। कैकेयी के वरदान के प्रहार से वह चेतना लौटती और तब उन्हे अपनी कामासक्ति की भूल पर पश्चात्ताप होता हैं :—

"कवने अवसर का भयेउ गयेउँ नारि बिस्वास।
जोगसिद्धि फल समय जिमि जतिहि अविद्या नास[2]॥

अब अविद्या रूप कैकेयी के उस मुख को देखने की इच्छा नहीं रह गई जो उनके 'मन चकोर' का 'चंद' था। क्योकि काम का मूल्य बहुत महँगा पडा और 'राम रतन' को खोकर 'नृप पथिक' प्राण-विहीन हो रहा हैं।

---

१ 'मानस', अयो० २५·१-८। २ वही ३५.७। और भी
"सुएहु न मिटैगो मेरो मानसिक पछिताउ।
नारि बस न बिचार कीन्हों काज, सोचत राउ॥१॥
तिलक को बोल्यो, दियो बन, चौगुनो चित चाउ।
हृदय दाड़िम ज्यौं न बिदर्यो समुझि सील सुभाउ॥२॥
सीय रघुबर लषन बिनु, भय भभरि भगी न आउ।
मोहिं बूझि न परत यातें कौन कठिन कुघाउ॥३॥
सुनि सुमंत! कि अनि सुंदर सुवन सहित जिआउ।
दास तुलसी नतरु मोको मरन-अमिय पिआउ॥४॥"

'गीतावली', अयो० पद ५७

२ "मोको बिधुबदन बिलोकन दीजै।
राम लखन मेरी यहै भेंट बलि जाउँ जहाँ मोहिं मिलि लीजै॥
सुनि पितु बचन चरन गहे रघुपति भूप अंक भरि लीन्हें।
अजहुं अवनि बिदरत दरार मिस तेहि अवसर सुधि कीन्हें॥
पुनि सिर नाइ गवन कियो प्रभु मुरछित भयो भूप न जाग्यो।
करम चोर नृपपथिक मारि मानो राम रतन लै भाग्यो॥"

गीतावली' अयो० पद १२

'करम चोर' ने आज अनजाने में अपना दाँव ले लिया। मोहिनी के रूपजाल में फँस कर नृप 'जिनि बिनु पंख बिहंग बेहालू' की दशा को प्राप्त हुए। 'सुमुखि' कैकेयी की मधुर मुसकान की आशा में असावधान राजा राम की शपथ कर उसकी चाहे जो इच्छा पूर्ण करने की प्रतिज्ञा कर बैठे। काम की आँधी ने आँखों में धूल डालकर दृष्टि को ऐसा दूषित और धूमिल कर दिया कि राम-प्रेमी राजा सामने उपस्थित प्रत्यक्ष अविद्या को न पहचान सके। दशरथ की दशा अत्यन्त शोचनीय एवं करुण है। वे ग्लानि से गले जा रहे हैं[१]। प्रश्न है, राजा को ग्लानि किस बात की है? समस्त प्रसंग से स्पष्ट है कि उनकी विषम ग्लानि का मूल कारण राज्याभिषेक के अवसर पर सहर्ष वन-गमन की आज्ञा-पालन करने वाले पुत्र का वियोग नहीं, प्रत्युत वह काम है जिसके वशीभूत हो उन्हें प्राणप्रिय पुत्र के वियोग में तड़पना पड़ रहा है। नारी के रूप की पिपासा के कारण ही आज राम के पुनीत स्नेहजल की चिरपिपासा लिए हुए प्राण कण्ठगत हो रहे हैं। इसी ग्लानि में गलते हुए वृद्ध महाराज शरीर त्याग देते हैं। इस प्रसंग में प्रत्यक्ष हो जाता है कि जब उन्होंने कैकेयी को रूपलावण्य-युक्त कामिनी और अपनी कामतृप्ति का साधन समझा तभी वे पराजित हुए और 'प्रमदा सब दुःख खानि' का कथन चरितार्थ हुआ।

दूसरी प्रमदा है रावण की बहन शूर्पणखा। उसका चरित्र 'मानस' में अति निकृष्ट एवं प्रमदा के निम्नतम रूप में अंकित किया गया है। पंचवटी में उसके प्रवेश के साथ ही उसकी विशेषताओं का परिचय दे दिया जाता है.—

"सूपनखा रावन कै बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जसि अहिनी॥
पंचबटी सो गइ एक बारा। देखि बिकल भइ जुगल कुमारा॥
भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबि मनि द्रव रबिहि बिलोकी।
रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई। बोली बचन बहुत मुसुकाई[२]॥"

सर्पिणी की भाँति कुटिल और कामाग्नि से जलती हुई रुचिर रूपधारिणी राक्षसी राम के समक्ष पहुँचती है। कामोन्मत्त शूर्पणखा राम और लक्ष्मण से

---

१ इस ग्लानि का मार्मिक वर्णन 'मानस' एवं 'गीतावली' में है। देखिए 'गीतावली', अयो० पद ५६-५६।

२ 'मानस', अरण्य० १०. ३-७।

बारी-बारी से जो कुछ कहती है वह उसकी जड़ प्रकृति के अनुरूप है। परन्तु होना कुछ और ही है। उसके नाक-कान काट लिए जाते है और प्रकारान्तर से रावण को चुनौती दे दी जाती है।

इस सक्षिप्त प्रकरण से स्पष्ट है कि शूर्पणखा मे ऐश्वर्य और रूप का मद भरा हुआ है। कहा नही जा सकता कि त्रैलोकविजयी रावण की बहन स्वय को कितना ऐश्वर्यवान और बलशाली न समझती रही होगी। जिसके दरबार मे ब्रह्मा का भी आज्ञा पाकर उपस्थित होना प्रसिद्ध है उसी रावण को भरी सभा में खरी-खोटी सुनाने का वह साधिकार साहस कर सकी थी। कामरूपिणी वह थी ही। रुचिर रूप धारण कर राम को मोहने का प्रयत्न करने वाली इस स्वैरिणी को रूप का कितना मद था यह तो उसके बचनो से स्पष्ट हो जाता है। वह अपनी तुलना मे राम को भी कम रूपवान समझती है और निस्संकोच हो यहाँ तक कह देती है.—

"तुम सम पुरुष न मो सम नारी। येह संजोग बिधि रचा बिचारी॥
मम अनुरूप पुरुष जग माही। देखेऊँ खोजि लोक तिहु नाही॥
ता ते अब लगि रहेउँ कुमारी। मन माना कछु तुम्हहि निहारी॥[1]"

उसका रूप-दर्प यहाँ प्रत्यक्ष है। राम को देखकर कुछ मन माना है, पूर्ण संतोष अभी भी नही है। रूप और ऐश्वर्य के मद के साथ वह काम मद से भी ग्रस्त है। उसकी कामोन्मत्तता असदिग्ध है। अत· शूर्पणखा रूप, ऐश्वर्य और काम के मद से उन्मत्त, रूप को ही कामतृप्ति का अस्त्र बनानेवाली प्रमदा है। एक जन्मसिद्ध भीषण संस्कारो से युक्त राक्षसी के अतिरिक्त अन्य किस पात्र मे प्रमदा का यह रूप चरितार्थ किया जा सकता था? वह कपटपूर्वक कामपूर्ति की चेष्टा करती है और उसमे सीता को बाधक देख ईर्ष्या और क्रोधवश उन्हीं का अत करने के लिए टूट पडती है। दण्ड पाने पर प्रतिहिंसा की भावना से जलती हुई पहले खर-दूषण के पास जाती है। उनका विनाश हो चुकने पर रावण के पास पहुँच कर 'तिरिया चरित्र' दिखा, उससे झूठ बोलती और उसे उत्तेजित करती है। यही उसकी सर्पिणी-तुल्य दुष्ट हृदय की दारुणता है कि भाई के हृदय में भी विष का सचार कर देती है।

इस प्रकार रूप ऐश्वर्य एवं काम के मद से युक्त अवगुणो की पिटारी यह प्रमदा अपनी करनी के फलस्वरूप अपने अनिष्ट के साथ-साथ अपने कुल ही

---

१. 'मानस' अरण्य० १०. ८-१०।

नही, सम्पूर्ण राक्षस-समाज के विनाश का बीज बोनेवाली दुखदायिनी सिद्ध होती है। इसके चरित्र मे 'अवगुन मूल मूल प्रद प्रमदा सब दुख खानि,' अक्षरशः चरितार्थ हो जाता है।[1]

शूर्पणखा से भिन्न है तीसरी प्रमदा गौतम पत्नी अहल्या। अहल्या के प्रसंग का महत्त्व कई दृष्टियो से है।[2] यहाँ उसके प्रमदा रूप पर थोड़ा विचार कर लेना है। कथा प्रसिद्ध है[3] कि अहल्या एक ऐसी कन्या थी जिसका निर्माण ब्रह्मा ने विशेष रूप मे किया था। गौतम को अहल्या ब्रह्मा से पुरस्कार रूप मे प्राप्त हुई थी। उसे प्राप्त न कर सकने के कारण इन्द्र उसके रूप का उपभोग करने का अवसर देखने लगे। एक दिन महर्षि की अनुपस्थिति मे उपयुक्त अवसर समझ कर शचीपति ने अहल्या से छल करना चाहा। प्रश्न है, क्या अहल्या ने उसे नही पहचाना? 'अध्यात्म रामायण'[4] मे इसका स्पष्टीकरण नही है परन्तु 'वाल्मीकि-रामायण' मे स्पष्ट रूप से कह दिया गया है कि अहल्या ने पहचानते हुए भी, 'अहो देवराज इन्द्र मुझे चाहते है? इस कौतूहल के वश उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया[5]।' तुलसीदास ने कथा का सकेत मात्र 'सकल कथा मुनि कही बिसेखी' में कर दिया है। परन्तु 'विनयपत्रिका' मे इसका संकेत है कि अहल्या मे पाप-बुद्धि उत्पन्न हो गई थी[6]। जो हो इतना तो विचारणीय है ही कि क्या उसे यह नही सूझा कि महर्षि का सन्ध्या-वन्दनादि छोड़कर इस प्रकार कुटी मे लौटना संभव नही है? दोनो पूर्व-कथाओ से भी यही ज्ञात होता है कि यह पाप उसकी कुबुद्धि का ही फल था। अन्यथा, इन्द्र से धोखा खाने पर अहल्या ने स्वयं ही उसे शाप दिया होता और पति से भी उसका छल प्रकट कर दिया होता। 'वाल्मीकि-रामायण' मे तो यहाँ तक कहा गया है कि :—

---

१ नारी निन्दा के प्रकरण में इस आख्यान के दूसरे पक्ष का विवेचन है।

२ भक्ति एव समाज के क्षेत्र में भी अहल्या का प्रसग विचारणीय है। आगे के अध्यायों में इसका विचार किया गया है।

३ 'वाल्मीकि रामायण', बाल० ४८. १५-३३, 'अध्यात्म रामायण', बाल० ५ १६-३३।

४ 'अध्यात्म रामायण' १. ५. १६-३३।

५ 'वाल्मीकि रामायण' १. ४८, १५-३३।

६ 'साधन हीन दीन निज अघ बस सिला भई मुनि नारी।' 'निज अघ' का अर्थ है—अपने पाप के कारण अर्थात् जो पाप उसने स्वयं किया।

"अथाब्रवीत् सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना ।
कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ।।
आत्मानं मां च देवेश सर्वथा रक्ष गौतमात्[१] ।।

उसके इस कृत्य से यह स्पष्ट है कि उसके हृदय में उस समय अपने उस रूप के दर्प की भावना सजग हो गई जिसके लिए देवराज आज अमरावती का अनुपम वैभव त्याग कर तरु-पल्लव के कुटीर में चोर की तरह आया है और वह उसकी पाप-वृत्ति की पोषक बन गई। इसी रूप-दर्प के कारण उसकी गणना प्रमदाओं में की गई है। प्रमदा का यह रूप शूर्पणखा की कोटि का नहीं है। इसीलिए यह क्षम्य भी हो सका है, यद्यपि न अहल्या को प्रभु से क्षमा माँगने का अवसर मिला, न उसने कोई साधना ही की[२]।

प्रमदा के इन रूपों का अवलोकन करने पर यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि चाहे पत्नी, चाहे परपत्नी अथवा कोई उच्छृ खल स्वैरिणी ही क्यों न हो, अपने रूप का मोह उस नारी के लिए भले ही हानिप्रद न हो, पर उस पुरुष के लिए अवश्य ही हानिप्रद होगा जो उसके रूप की लपेट में आकर पतंगा बन जाता है। शूर्पणखा अति दुष्ट थी और अपने कर्म का फल भोगती रही, परन्तु कैकेयी के रूप की आसक्ति दशरथ के प्राणों की गाहक बनी और अहल्या की रूपासक्ति के कारण शचीपति को जो भुगतना पड़ा वह सर्वविदित है। इसीसे समझाया गया कि प्रमदा की रूप-छटा में अपने को कभी मत उलझाओ। कामदृष्टि से उस रूप का कोई कैसा भी पतगा क्यो न बने, उसका नाश अवश्यम्भावी है। तो क्या केवल प्रमदा का ही रूप हानिकर है? अन्य नारी का सौन्दर्य सर्वथा हितकर है? गोस्वामी जी बड़े सजग विचारक हैं। प्रमदा का नाम लेने के साथ ही तुरन्त इसका भी उत्तर प्रस्तुत कर देते और 'प्रमदा' के साथ नारी के रूप की चकाचौंध से भी बचने का आदेश अपने मन को देते हैं :—

"दीप सिखा सम जुबति तनु मन जनि होसि पतंग[३] ।"

चाहे जिस रूप में हो, प्रमदा में रूप-सौन्दर्य होता है और होता है वह काम

---

१ 'वाल्मीकि रामायण' १ ४८ २०, २१।

२ गोस्वामी जी ने इस कथा को अत्यधिक महत्त्व दिया है। इसीसे उनका संकेत है कि अहल्या पत्थर हो गई थी। इसका विस्तृत विवेचन तीसरे अध्याय में किया गया है।

३ 'मानस' अरण्य० ४०।

का उत्तेजक। रूप और काम इन्हीं दोनों के कारण ही मन को सावधान किया गया और उनसे बचने का उपाय बताया गया है :—

"भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सत संग"[१] ॥

'काम मद' के त्याग का सरल उपाय वह सत्संग है जो भक्ति का प्रथम सोपान है। उससे काम का नाश और राम की प्राप्ति होती है।

केवल राम से ही काम का विरोध नहीं। उनकी अभिन्न शक्ति सीता से भी उसका विरोध है। जहाँ जगज्जननी का आशीर्वाद है वहाँ भी काम नहीं फटकता। सीता के सम्मुख आते ही शूर्पणखा को भागना पडता है। शूर्पणखा कामवृत्ति की निकृष्टतम प्रतीक है। जहाँ सीता का स्मरण हुआ कि काम की निकृष्ट वृत्ति समाप्त होती है। जगदम्बा के रूप में देखते ही किसी नारी का अतुलनीय और मनमोहक सौन्दर्य भी दर्शक के मन में कामभावना का उत्तेजक न होकर पूज्यभाव और श्रद्धा का उद्‌बोधक और पोषक बन जाता है। कौन नहीं जानता कि क्या दुर्गा, क्या महाकाली, क्या महालक्ष्मी, सभी का पूर्ण दर्शन षोडशी के रूप में ही होता है ? षोडशी का वह अनुपम रूप कैसी पुनीत भावना का उदय करता है इसे वही भक्त-हृदय जान सकता है जिसे स्वयं वयोवृद्ध होने पर भी वह षोड्शी माता के ही रूप में दृष्टिगत होती और वह श्रद्धा से नत हो जाता है। यही नारी का वह रूप है जिसे नारीमात्र में तुलसीदास ने देखा है और जिसे प्रत्येक नारी में देखने से ही हमारे देश, जाति और धर्म का कल्याण है ऐसी उनकी धारणा है। वे परम पवित्र माता के रूप-प्रकाश में अपनी आत्मा के दर्शन करना जीवन की सफलता समझते थे। इसीसे उन्होंने जगज्जननी के रूप का वर्णन भी छविगृह की दीपशिखा के रूप में ही किया है :—

"सुँदरता कहुँ सुँदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई[२] ॥"

रूप की यह दीपशिखा समस्त सौन्दर्य का मूल है इसीलिए इसकी कांति का साक्षात्कार होने पर भगवान् राम की दशा यह हो जाती है :—

"हृदय सराहत बचनु न आवा[३] ।"

तुलसीदास का आदेश भी मूढ और मोहग्रस्त प्राणियों के लिए यही है कि वे इस प्रकाश में अपने हृदय का अन्धकार दूर कर अपने स्वरूप को पहचानें,

---

१ 'मानस', अरण्य० ४० ।

२ वही, बाल० २३४.७।

३ 'वही', २३४.५ ।

न कि उसमें आसक्त हो अपने को कामाग्नि में भस्म करें। पतंगा प्रकाश से लाभ नही उठा पाता। ज्ञानी प्रकाश मे जड-चेतन की ग्रन्थि को देख लेता तथा उसके मिथ्यात्व का बोध प्राप्त कर अपने सहज स्वरूप मे स्थित हो जाता है। परम भक्त नारद जब नारी के रूप-प्रकाश मे अपनी दृष्टि उज्ज्वल न कर सके तो बेचारे सामान्य प्राणी की बिसात ही क्या है कि वह अपनी रक्षा कर सके। जो माया नारद के सम्मुख राजकुमारी के रूप में मूर्तिमती हुई थी वही तो संसार मे पुरुष के सामने अपना रूप-जाल बिछाए हुए है। प्रभु की कृपा होते ही नारद की दृष्टि का आवरण हट गया और उन्होंने देख लिया कि यह रूपराशि तो वास्तव मे जगज्जननी है और है कृपा की मूर्ति जिसके चरणो में प्रणाम कर जीवन सफल किया जा सकता है। अपनी भूल पहचानी और प्रभु से क्षमा-याचना की। इसी प्रकार जिस पर प्रभु की कृपा हो गई उसने देख लिया कि कामिनी के रूप की कान्ति वास्तव में मन के मोहान्धकार को दूर करने और अपना स्वरूप पहचानने के लिए है न कि उसमें जलकर खाक होने के लिए। 'दीपसिखा' का तात्पर्य यही है और प्रमदा के साथ उसका भी उल्लेख यहाँ इसीलिए किया गया है। अन्य स्थानों पर उसकी चर्चा की गई है जो इसे और भी स्पष्ट कर देती है। 'छबिगृह' की दीपशिखा का सकेत हो चुका है। अब दूसरे प्रसंग की 'दीपशिखा' को देखना चाहिए। उसका स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया गया है '—

"सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा।।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा[1]।।"

'सोहमस्मि' की वृत्ति ही ज्ञान-दीपक की दीप-शिखा और आत्मस्वरूप के बोध का आनन्द ही उसका प्रकाश है। उस प्रकाश में लक्षित हो जाता है कि जिसे अविद्या-तम के कारण अपने से भिन्न समझता रहा, विश्व का वह अनन्त प्रसार मुझ मे ही समाया हुआ है। इस प्रकार 'भव-मूल' भेद बुद्धि नष्ट होती है, मायाकृत दोष—अविवेक—दूर होता और विवेक की प्राप्ति होती है। श्रीराम ने भरत को समझाते हुए कहा है :—

"सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहि देखिअ सो अबिबेक[2]।।"

---

१ 'मानस', उत्तर० ११७, २।

२ वही ४१

नारी की छवि भी दीप-शिखा के तुल्य है। रूप की इस दीप-शिखा में किसी बडभागी को ही प्रभु की कृपा से ज्ञान की दीप-शिखा के दर्शन होते हैं।

आदिशक्ति माया के स्वरूप तथा उसके दोनों भेद—विद्या और अविद्या—पर विचार करने के अनन्तर अब उसके भक्ति तथा कृपा रूप का मर्म समझना शेष रहा। स्मरण रहे, जो शक्ति माया है वही भक्ति और वही कृपा भी है। नारी के रूप में उसका यह समन्वित रूप देखना किसी सच्ची आँख वाले का काम है। ऐसी दृष्टि प्राप्त होती है गुरु-कृपा से। उससे जिसके दृष्टि-दोष दूर हो दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती वही राम-चरित के रत्नों को निरख और परख सकता है[1]। उन्ही में से उसे वह नारी-रत्न भी प्राप्त होता है जो शक्ति और भक्ति को दिव्य कान्ति से युक्त और वास्तव में नारी-रूप मे माया का ही प्रतिरूप है।

माया और भक्ति को अभिन्न समझना विचारकों के लिए तो नही, सामान्य-जन के लिए कुछ अटपटा-सा प्रतीत होता है। इसे स्पष्ट करने के लिए काकभुशुंडि-गरुड़-सवाद मे माया और भक्ति का प्रश्न छेड दिया गया है। गरुड का प्रश्न है :—

"ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता। सकल कहहु प्रभु कृपा निकेता[2]।।"

ज्ञान और भक्ति के भेद को स्पष्ट करने के लिए काकभुशुंडि को माया पर भी विचार करना पड़ा है। माया को समझे बिना दोनो की विशेषताएँ समझना सम्भव नहीं है। अतः 'भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।[3]।' को समझाते हुए दोनों की विशेषताओ का विश्लेषण किया गया। दोनों के द्वारा भवबन्धन से छुटकारा मिलता है अत. दोनो में कोई भेद नहीं, फिर भी कुछ अन्तर है[4]। यही कि ज्ञान पुरुष-वर्ग का है और भक्ति नारी-वर्ग में आती है। ज्ञान को माया अपने मोह-पाश में फाँस लेती है परन्तु भक्ति पर उसका वश नहीं चलता। नारी,

१ 'मानस' बाल० ५'८।

२ वही, उत्तर० ११४'११।

३ वही, ११४'१३।

४ "नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान सोउ सुन बिहंगवर।।"

वही, ११४ १४

नारी के रूप पर मुग्ध नही हुआ करतीं[१]। इतना ही नही और भी कारण है :—

"माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारि वर्ग जानै सब कोऊ॥
पुनि रघुबीरहि भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ता ते तेहि डरपति अति माया॥
राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई॥
अस बिचारि जे मुनि विज्ञानी। जाचहि भगति सकल सुख खानी॥
यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानै कोइ।
जो जानै रघुपति कृपा सपनेहुँ मोह न होइ[२]॥"

दूसरा कारण यह है कि भक्ति प्रभु की प्रिया है और माया है नर्तकी। जहाँ पत्नी है वहाँ नर्तकी का क्या काम ? अतः जहाँ भक्ति है वहाँ माया का आधिपत्य नही होता।

देखना यह है कि भक्ति और माया मे अभिन्नता होते हुए भी ऐसा विरोध क्यो दिखाई दे रहा है। यह उलझन सरलता से ही सुलझ जाती है। भक्ति भी यदि माया ही है तो जहाँ भक्ति है वहाँ माया के जाने का प्रश्न ही नही रहता। माया ही तो भक्ति है। वास्तव में यह विरोध नही विरोधाभास है। माया उसी प्रकार नर्तकी होते हुए भी पत्नी है जैसे कोई पत्नी नृत्य-कला में निपुण होने पर नर्तकी भी कहला सकती है। अतः माया का एक रूप है नर्तकी—अखिल ब्रह्माण्ड के महानृत्य का संचालन करनेवाली, और दूसरा रूप है भक्ति—अखिल ब्रह्माण्ड नायक की प्रिया जो नित्य उनके साथ

---

१ "ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती॥
पुरुष त्याग सक नारिहिं जो बिरक्त मतिधीर।
न तु कामी बिषयाबस बिमुख जो पद रघुबीर॥
सोउ मुनि ज्ञान निधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि।
बिबस होहिं हरिजान नारि बिस्व माया प्रगट॥
इहाँ न पच्छपात कछु राखौं। बेद पुरान संत मत भाखौं॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥"

ही उत्तर० ११४·१५–११५.२

२ वही, ११५ ३—११६।

रहती है। वह ऐसी नर्तकी नहीं जिसका नाम लेना माया का अपमान करना है। भक्ति के समीप आने से माया के डरने का रहस्य यही है कि उसके समीप जाते ही माया का नृत्य समाप्त हो जाता है। माया के नृत्य का तात्पर्य पहले स्पष्ट किया जा चुका है।[1] मायाजन्य मोहादि विकारों की सक्रियता ही माया का नृत्य है। भक्ति के क्षेत्र में इनका प्रवेश नही है। इसीलिए कहा गया कि भक्ति के सामने माया का नृत्य नहीं हो सकता। भक्ति में राम की सम्मुखता रहती है। वहाँ ये सक्रिय नहीं हो सकते। सक्रिय होते है वहाँ जहाँ राम से विमुखता है। भक्ति तो प्रभु के चरणो मे प्रेम का वह अविचल रूप है जो इन विकारो से पूर्ण रहित होता है। जहाँ भक्ति है वहाँ राम है। राम के साथ अभिन्न रूप मे स्थित रहने के कारण यदि भक्ति को पत्नी कहा गया तो रामविमुख प्राणियो को नाना भाँति नचाने वाली माया को नर्तकी कहना उचित ही है। नर्तकी प्रभु की क्रीड़ा या विनोद का साधन मात्र है। यह जगज्जाल ही उनकी क्रीड़ा है। पत्नी और नर्तकी के रूपक का यही रहस्य है।

राजा राम के दरबार में नर्तकी की कल्पना कतिपय लोगो को अनुचित लग सकती है। परन्तु नर्तकी कोई स्थूल शरीरधारी पात्र नही है, माया शक्ति की विशिष्ट प्रक्रिया का द्योतक एक प्रतीक मात्र है। दूसरे, यह नर्तकी रामदरबार में तो प्रविष्ट हो ही नही सकती क्योकि वहाँ पराभक्ति स्वरूपा जगज्जननी विराजमान रहती है।[2] जहाँ माया भक्ति रूप में स्थित है वहाँ उसका नर्तकी रूप क्रियाशील नही होता। उसका कार्यक्षेत्र रामदरबार का प्रागण नहीं, मानवमात्र का मनोराज्य है जहाँ उसके परिवार की क्रीडा होती रहती है। बस जहाँ विद्यामाया का कृपा रूप क्रियाशील हुआ कि भक्ति का आविर्भाव हुआ और माया (अविद्या) का तिरोभाव हो गया। उसका इन्द्रजाल प्राणी की समझ मे आ गया, उसके नृत्य का अन्त हो गया। अब माया के स्थान पर भक्ति आसीन हो गई। इसीलिए समझाया गया है :—

"अस बिचार जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी।।"[3]

---

१ देखिए, पृ० १४, १६।

२ नर्तकी अविद्या माया है। सीता आदिशक्ति महामाया।

३ देखिए, पीछे पृष्ठ २४ टिप्पणी ५

विज्ञानी मुनि इसीसे भक्ति की कामना करते हैं। पर इस रहस्य को हरएक नही समझ पाता। इसीलिए कहा गया है :—

"यह रहस्य रघुनाथ कर वेगि न जानै कोइ[१] ।।"

रहस्य यही है कि राम अपनी लीला के लिए माया को प्रेरित कर सृष्टि की रचना मे संलग्न करते है और उसके द्वारा जीव को बन्धन मे डाल कभी अपने सम्मुख तो कभी विमुख किया करते हैं। इसी को कोई समझ नही पाता कि प्रभु की दासी ही चक्कर में डाले हुए है और जीव ज्योंही प्रभु की ओर उन्मुख हुआ कि वह अपना जाल समेट लेती है और जीव बन्धन-मुक्त हो जाता है। वह इसे जान ले तो स्वप्न मे भी मोहग्रस्त न हो। जिन पर प्रभु की कृपा हो जाती है वे इसे पहचान लेते और मोह का त्याग कर भक्ति मे लीन हो जाते है।

वस्तुत माया और भक्ति एक ही शक्ति के दो पक्ष है। त्रिगुणात्मिका माया जब विशेष गुणो के विशेष सयोग का रूप धारण करती तब नर्तकी का कार्य करती और अन्य विशेप सयोग का रूप धारण करने पर भक्ति का कार्य करती है। इसीलिए वही शक्ति माया और भक्ति तथा नारी भी है। वह क्या नहीं और कहाँ नही है ? ब्रह्म की अभिन्न शक्ति होने से वह भी सर्वव्यापिनी है।

सारांश यह कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण आदि-शक्ति माया राम के सकेत पर कभी नर्तकी तो कभी भक्ति का रूप ग्रहण कर उनकी आज्ञा का पालन करती है। इसीलिए उसे दासी[२] भी कहा गया है। वही त्रिगुणों के बल से सृष्टि संचालन करती और विश्व-प्रपंच मे कभी विद्या तो कभी अविद्या का कार्य करती है। इसी रूप मे वह जीवो पर व्यापती और उन्हे भव-सागर मे घुमाते हुए प्रभु के सम्मुख और विमुख किया करती है। उनमें से प्रभु के नाम का सहारा और सद्गुरु के चरणों की शरण गहने वालो का बेडा पार हो जाता है। अन्य उसी में डूबते-उतराते रह जाते है। इस प्रकार माया विविध रूपों में प्रतिभासित होती और नारी भी माया का एक रूप होने से कभी न कभी इन सभी रूपों में पुरुष को दिखाई देती है तथा उसके साथ वह भी भव-सागर मे चक्कर लगाती रहती है। पुरुष का उद्धार

---

१ 'मानस', उत्तर ११६।
२ 'सो दासी रघुबीर कै'–वही उत्तर० ७१।

तभी होता है जब वह नारी में माया का केवल दिव्य रूप देखता है। प्रश्न है, किस प्रकार वह नारी को इस रूप मे देखने की दृष्टि प्राप्त करे कि उसका लोक भी बने और परलोक भी सुधरे। यहाँ भी वही माया उसकी सहायिका होती है। पर अब वह दूसरे ही रूप में उसके पास आती है। उसके द्वारा प्रभु की प्राप्ति मे सहायक ज्ञान एवं भक्ति दोनों ही मनुष्यो को प्राप्त हो सकते है। 'मानुस तन' को सार्थक करने वाली यह शक्ति है—प्रभु की कृपा।

भव-जाल से छुडानेवाली इस कृपा की याचना सभी करते है और सभी के यहाँ इसका महत्त्व है पर वह कैसे प्राप्त होती है, इसमें मतैक्य नही है। इसके लिए मार्जार-किशोर और कपि-किशोर का उदाहरण दिया जाता है। मार्जार-किशोर के उदाहरण द्वारा समझाया जाता है कि प्रयत्न भक्त की ओर से नहीं होता। भगवान् द्वारा अनायास ही भक्ति का उद्रेक किया जाता है। दूसरे के अनुसार कृपा अनायास नहीं, भक्त के प्रयत्न से होती है और जो कपि-किशोर की भाँति भगवान् की शरण पकड़े रहता है उसका पोषण वे करते रहते हैं।

भक्त-शिरोमणि तुलसीदास की दृष्टि में भी कृपा का अत्यधिक महत्त्व है। उनके विचार मे तो ज्ञानमार्ग का मूल भी श्रद्धा ही है, जो हरिकृपा से प्राप्त होती है[1]। भक्ति के क्षेत्र मे तो इसके बिना प्रवेश असम्भव है। भक्त को आदि से अन्त तक एक मात्र कृपा का अवलम्ब रहता है। ज्ञानी प्रभु का आश्रय ले विवेक के बल पर अग्रसर होता है पर भक्त आँखें बन्द कर सभी कुछ उन्ही पर छोड देता है। दोनो की स्थिति की भिन्नता का बोध भगवान् राम ने नारद को कराया है[2]। उनके कथन 'जनहि मोर बल निज बल ताही' मे

---

१ ज्ञान-दीपक के प्रसंग में कहा गया है :—

"सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जो हरि कृपा हृदय बस आई॥"

'मानस', उत्तर० ११६.९।

२ "सुनि मुनि तोहि कहौं सह रोसा। भजहिं जे मोहिं तजि सकल भरोसा॥
करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहि राखि महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखै जननी अरगाई॥
प्रौढ़ भए तेहि सुत पितु माता। प्रीति करै नहिं पाछिल बाता॥
मोरें प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी बालक सुत सम दास अमानी

कृपा का मूल तत्त्व समाविष्ट है। रक्षा करती है मोह की सेना से, जिसमें सर्वाधिक दारुण है—माया रूपी नारी। उस पर विजय प्राप्त करने के लिए ज्ञानी अपने बल से प्रयत्नशील होता है, पर भक्त को भगवान् का बल रहता है। वह बल है उनकी कृपा का ही। भक्त-हृदय में कृपा के भक्ति-रूप में आविर्भूत होने पर वहाँ माया नर्तकी का आधिपत्य समाप्त हो जाता और उसकी प्रबल सेना निष्क्रिय हो जाती है। बड़े से बड़े पापी को प्रभु की शरण में जाने का साहस कृपा ही प्रदान करती है। उसकी महिमा यह है कि संसार के व्यवहार के प्रतिकूल, भक्त अपने पापों का कच्चा चिट्ठा खोलकर ही नहीं, बढ़ा-चढ़ाकर भगवान् के सामने रखता और परित्राण की याचना करता है। उसे ज्ञात है कि प्रभु की अनोखी कृपा पापियों की खोज में रहा करती है। यह कृपा किस प्रकार प्राप्त होती है, इसे भी देख लेना चाहिए। 'विनय-पत्रिका' में कहा गया है—

> "नाथ कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौं दिन राति।
> होइ धौं केहि काल दीनदयालु जानि न जाति॥
> सुगुन, ज्ञान, विराग, भगति सुसाधननि की पाँति।
> भजे बिकल बिलोकि कलि अघ-अवगुननि की थाति॥
> अति अनीति कुरीति भइ भुइँ तरनि हूँ तें ताति।
> जाउँ कहँ बलि जाउँ? कहूँ न ठाउँ मति अकुलाति॥
> आप सहित न आपनो कोउ, बाप! कठिन कुभाँति।
> स्यामघन सींचिए तुलसी सालि सफल सुखाति॥"[1]

यहाँ कृपा की प्रतीक्षा है, प्रयत्न नहीं। कलियुग के भय से सब साधन भाग गए हैं। अतः केवल पापों और अवगुणों की थाती लेकर दीन और असहाय भक्त भगवान् की उस कृपा की आशा में बैठा है जिसका परिचय वे नारद मुनि को दे चुके हैं। 'अनल' और 'अहि' की ओर जाते हुए बालक की 'रखवारी'

जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहुँ काम क्रोध रिपु आही॥
येइ बिचार पंडित मोहि भजहीं। पाएहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥
काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि॥
तिन्ह महँ अति दारुण दुखद माया रूपी नारि॥"

वही, अरण्य० ३६. ४-१०, ३७।

१ 'विनय०' पद २२१।

माता जिस स्नेह से करती है उसी स्नेह से तो भक्त की रक्षा करने का वचन राम का है ? शिशु में प्रयत्न की क्षमता ही कहाँ ? वह मातृहृदय का सहज वात्सल्य है जो बालक के पीछे-पीछे माता को दौड़ाया करता है। कृपा का यह रूप प्रथम प्रकार के मत के अनुरूप है। दूसरे प्रकार की भावना निम्नांकित पद मे व्यक्त की गई है।

"हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों[1]।"

यहाँ बतलाया गया है कि प्रभु के अनुग्रह से मानव-तन मिला। श्रुतिविदित अनेक उपाय तथा सभी देवताओ के होते हुए भी मोह-पाश छूटना सम्भव नहीं है। विषय-वारि में लिप्त मन-मीन की उससे मुक्ति बिना ये सब साधन व्यर्थ हैं। हरिकृपा से साधन-धाम शरीर मिला पर मुक्ति शरीर की नही, उसकी चाहिए जो शरीर, पंचेन्द्रियों, मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार से युक्त उन्ही के द्वारा संचालित होता हुआ इस बन्धन में जकड़ा हुआ है।[2] श्रुतिविदित साधन एवं समस्त देवता भी उसे बन्धन-मुक्त नही कर सकते क्योंकि बन्धन छोडने मे वही समर्थ हो सकता है जो बाँधने वाला होने के कारण उसके खोलने की कला से परिचित हो। अत. राम से प्रार्थना की जाती है.—

"कृपा डोरि बंसी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।
एहि बिधि वेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो[3]।।"

क्योंकि,

---

१ "हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन-धाम विबुध दुरलभ तनु, मोहि कृपा करि दीन्हों।
कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभु के एक-एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं दीजै परम उदार।।
बिषय-बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
तातें सहौं बिपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक।।
कृपा डोरि, बनसी पद-अकुस परमप्रेम मृदु चारो।
यह बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो।।
हैं स्रुति बिदित उपाय सकल सुर केहि-केहि दीन निहोरै।
तुलसिदास यहि जीव मोह-रजु जोइ बांध्यो सोइ छोरै।।"
'विनय०' पद १०२

२ वह मुक्त होगा मन की मुक्ति से। क्योंकि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।'

३ वही, पद १०२

"तुलसिदास यह जीव मोह-रजु जोइ बाँधै सोइ छोरै[1] ।।"

बन्धन मे बाँधने वाली माया ही बन्धन छोड सकती है, प्रभु नही । वे किसे बन्धन में बाँधते है ? संसार मे अवतरित होने पर वे स्वय योगमाया से बँधे रहते हैं। फिर भी माया से छुडाने के लिए प्रार्थना नहीं की जाती। क्योकि उसने छुडाने की नीयत से नही बाँधा है। इसके लिए प्रार्थना उससे की जाती है, माया जिसके सकेत पर नाचने वाली उसकी दासी है। अत: भक्त की प्रार्थना है कि हे हरि ! 'विषय-बारि' मे लिप्त परवश मन-मीन को बरबस उससे बाहर निकाल फेंकने का कार्य अपनी कृपा को सौंपिए। मन में आपके चरणो का प्रेम उत्पन्न कर मृदु चारे के लोभ मे फँसा कर विषय-जल से मुक्त करने की सामर्थ्य उसी में है। कहा गया है—'जोइ बाँधै सोइ छोरै' और बाँधने वाली माया तथा छुडाने वाली कृपा बतलाई गई है। तात्पर्य यही हुआ कि माया का ही एक रूप कृपा भी है। दोनो उसी प्रकार अभिन्न है जैसे माया और भक्ति। ये प्रभु की शक्ति के ही विविध रूप है।

शेष यह रहा कि यह कृपा हमारे प्रयत्न से प्राप्त होती है या स्वत भगवान् की ओर से हमारे परित्राण के लिए भेजी जाती है। यहाँ बतलाया गया है कि यदि प्रभु की इच्छा से ही प्राप्त होती तो यह टेर न लगानी पडती कि तुम्हारे अनुग्रह से प्राप्त समस्त साधन विफल हो रहे हैं। अब स्वय बन्धन मे बाँधने वाली को ही आज्ञा दो कि आकर इस 'मोह रजु' को छोडे। निष्कर्ष रूप में दो बातें प्रत्यक्ष है। प्रथम यह कि बन्धन कृपा रूपी माया ही से छूटता है और दूसरी यह कि कृपा उनकी ओर से होती अवश्य है पर जब तक हमारी ओर से प्रयत्न नही होता वह पूर्णता को प्राप्त नही होती और हमारा उद्धार नही होता।

कृपा की आवश्यकता केवल भक्ति के उद्रेक के लिए नहीं है। सगुण-रूप की प्राप्ति के पश्चात् भी भक्त कृपा ही का सहारा लेकर आगे बढता है। उसकी विनय है :—

"माधव अब न द्रवहु केहि लेखे ?
प्रनतपाल पन तोर, मोर पन जिअउँ कमल पद देखे ।।
जब लगि मै न दीन, दयालु तै, मैं न दास, तै स्वामी ।
तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहि, जद्यपि अन्तरजामी ।।

---

१ 'विनय०' पद १०२।

तू उदार, मै कृपन, पतित मैं, तै पुनीत स्रुति गावै।
बहुत नात रघुनाथ तोहिं मोहिं, अब न तजे बनि आवै॥
जनक-जननि, गुरु बंधु सुहृद पति, सब प्रकार हितकारी।
द्वैत रूप तम कूप परौ नहिं अस कछु जतन बिचारी॥
सुनु अदभ्र-करुना, बारिज-लोचन, मोचन-भय भारी।
तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारी[1]॥"

भक्त की प्रार्थना है कि अविद्या माया द्वैत-तम-कूप मे डाले हुए है। प्रभु के प्रकाश बिना अंधकार-जन्य संशय मिट नहीं सकता। ध्यान देने की बात यही है कि एक ओर तो वह अपने अनेक नाते भगवान् से मानता है (जो द्वैत मे ही सम्भव है) और उन्ही के आधार पर कृपा की याचना करता है, दूसरी ओर कृपा इसलिए चाहता है कि द्वैत का अन्त हो, अद्वैत की प्राप्ति हो। उक्ति अटपटी, पर मर्मपूर्ण है। कृपा की कामना अविद्याजन्य अंधकार की समाप्ति के लिए की गई है, जिमसे द्वैतबुद्धिजन्य सम्बन्धों की अनुभूति का तिरोभाव हो और प्रभु के प्रकाश मे संशयोच्छेद हो जाने पर सहज स्वरूप का बोध हो जाए। विशेषता यहाँ यह है कि राजा राम के दरबार मे 'विनय-पत्रिका' पेश करते हुए यह प्रार्थना की जाती है श्रीकृष्ण से। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि जो राम है वही कृष्ण है और इसी समय ही कृष्ण रूप मे भी विराजमान है, कुछ एक युग के बाद कृष्ण रूप धारण नही करेंगे[2]। निदान विनती की जाती है कि हे माधव! तुम मेरा द्वैतभाव क्यो नहीं नष्ट करते? इतना तो अनुभव हो गया कि तुम और राम एक हो पर यह अनुभव क्यो नही हो जाता कि मै भी तुमसे भिन्न नही? इस अभिन्नता की अनुभूति भी तुम्हारी कृपा से हो संभव है, अत. द्रवीभूत क्यो नही होते?

रामकृपा से अद्वैत की प्राप्ति का उल्लेख अन्यत्र सरस और सूत्र रूप मे महर्षि वाल्मीकि के इन वचनों मे भी किया गया है :—

---

१ 'विनय०' पद ११२।

२ इस एकता की सच्ची अनुभूति तुलसी के समान बिरले ही रामभक्त करते होंगे। अधिकांश इसे जानकर भी मानने को तैयार नहीं होते। ऐसे विचार से सम्प्रदायवाद की कट्टरता सरलता से समाप्त हो जाती है।

"सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई[1] ॥"

निष्कर्ष यह कि भगवत् प्राप्ति के अनतर सगुण से आगे बढ़कर ज्योति-स्वरूप निर्गुण की अनुभूति के लिये भी प्रभु-कृपा आवश्यक है। 'सोऽहमस्मि' वृत्ति का प्रकाश ही 'आतम अनुभव' का प्रकाश है जिसे यहाँ प्रभु का प्रकाश कहा गया है।

कृपा का 'अकारण' होना भी उसकी एक विशेषता है। 'विनय-पत्रिका' का एक पद है :—

"ऐसे राम दीन हितकारी।
अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी॥
+ + +
कहँ लगि कहौं दीन अगनित जिन्हकी तुम बिपति निवारी।
कलिमल ग्रसित दास तुलसी पर काहे कृपा बिसारी[2] ॥"

उद्धार के लिए जितने और जिस प्रकार के कर्मों के साधन की आवश्यकता है उनके बिना किए ही राम कृपालु हो जाते है, यही उनकी अकारण कृपा है। उक्त पद में परिगणित कृपापात्र—अहल्या, जटायु, निषाद, शबरी और सुग्रीव, कोई भी अपनी करनी के बलपर कृपा-भाजन नही बने। कहा जा सकता है कि उन्होंने कुछ नहीं किया, राम की सेवा की, उनसे प्रेम किया। मान लिया जाए कि सबने प्रेम किया, उन राक्षसों ने भी प्रेम किया जिन्हे प्रभु ने अपना धाम दिया, परन्तु गौतम-पत्नी अहल्या ने क्या किया? गोस्वामी जी ने वाल्मीकीय अथवा अध्यात्म रामायण की भाँति अहल्या को तपस्या करते नहीं दिखलाया है। इसी भ्रम को दूर करने के लिए उपर्युक्त पद मे स्पष्ट कर दिया गया है :—

"साधन-हीन दीन निज अघ बस सिला भई मुनि नारी[3] ॥"

शिला मे परिवर्तित हो जाने पर कोई भी साधन सभव नही था। इसी-लिए अहल्या-उद्धार के अवसर पर तुलसीदास ने अपने शठ मन को इस प्रकार प्रभु की अकारण दयालुता का स्मरण दिलाया है :—

---

१ 'मानस', अयो० १२६·३।

२ सम्पूर्ण पद के लिये देखिए 'विनय०' पद १६६।

३ वही।

"अस प्रभु दीन बंधु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल[1] ॥"

भक्ति में आदि से अंत तक कृपा का महत्त्व है और कृपा को अकारण ही समझना चाहिए। कारण, कृपा अमूल्य है। बडे से बड़े साधन द्वारा भी उसका मूल्य चुकाया नहीं जा सकता। उसके अकारण होने का रहस्य यह है कि विश्व की लीला मे माया द्वारा बंधन और मुक्ति का क्रम निरंतर चलता है। अत: जीव द्वारा किया गया प्रयत्न अपर्याप्त होने पर भी प्रभु को कृपा करनी ही है। उनका यह स्वभाव है जो छूट नही सकता। इसी भरोसे पर ही भक्त पूर्ण विश्वास के साथ कहता है :—

'है तुलसिहि परतीति एक प्रभु मूरति कृपामई है[3]।"

इसी कृपा के कारण भक्तिमार्ग सरल और ज्ञानमार्ग कठिन जान पड़ता है। ज्ञानी पर कृपा होने से उसमें श्रद्धा उत्पन्न होती और वह अपने ज्ञान के बल पर आगे बढ़ता है। प्रभु को उसकी चिन्ता नही रहती। क्षुरधार-तुल्य ज्ञानपथ पर गिरते-पड़ते घुणाक्षरन्याय से यदि उसने कभी ज्ञान-दीपक जला भी लिया तो माया ऋद्धि-सिद्धि के रूप में अनेक विघ्न उपस्थित करके उसे बुझाने में सफल हो जाती है। परन्तु भक्त को कृपा आद्योपान्त सहारा देती और बराबर मार्गच्युत होने से बचाती रहती है। उसे अपना नहो, कृपा का बल होता है। भगवान् ने स्वय ही सगुण भक्तो के लिए कह दिया है कि जिस प्रकार माता बालक की रक्षा करने में प्रयत्नशील रहती और उसे कभी अपने से विलग नही करना चाहती उसी प्रकार मैं भी भक्तों की रक्षा मे तत्पर रहता हूँ[4]। कृपा की डोरी सदैव भक्त को भगवान् के समीप बनाए रखती है। इसी के फलस्वरूप उसके मन में निरंतर उनका ध्यान, नेत्रों मे उनकी छवि और हृदय में उनका प्रेम बसा रहता है और क्षण भर के लिए उनका वियोग उसे सह्य नहीं होता।

१ 'मानस' बाल० २१६।

२ "एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥"
वही, अरण्य० ३·८।

३ 'विनय०' १७०। राम को एक ओर 'माया मानुष' और दूसरी ओर कृपा-मूर्ति कहा गया है। ठीक ही है, क्योंकि माया ही कृपा भी है।

४ देखिए, पृष्ठ ५८

इसमें सन्देह के लिए अवकाश नहीं रह गया कि भक्ति की प्रेरणा से लेकर अद्वैत की प्राप्ति तक हर क्षण कृपा आवश्यक है और होती है वह राम की इच्छा से ही। विद्या माया ही कृपा के रूप में जीव को बन्धन मुक्त कर उनके सम्मुख किया करती है। साराश यह कि आदि शक्ति माया ही भक्ति और वही कृपा भी है।

माया के एक विशेष रूप—'राक्षसी माया' पर भी कुछ विचार कर लेना शेष है। 'मानस' तथा अन्यत्र अनेक स्थलों पर निशाचरी माया का उल्लेख है। 'मानस' के लंकाकाण्ड मे तो इसका अद्‌भुत पराक्रम दिखाई पडता है। यह विविध रूपो मे प्रकट होती है। रावण अपनी माया से यती का रूप धारण करता और मारीच 'माया मृग' बनता है। युद्ध के समय यह माया भीषण खेल खेलती है। कभी आकाश से रुधिर, अस्थि, मास, विष्ठा आदि पदार्थों की वर्षा होती और कभी अन्य कोई कौतुक उपस्थित हो जाता है।

---

१ "जासु प्रबल माया बस सिव बिरंचि बड़ छोट।
ताहि देखावै निसिचर निज माया मति खोट॥
नभ चढ़ बरसै बिपुल अगारा। महि तें प्रगट होहिं जलधारा॥
नाना भाँति पिसाच पिसाची। मारु काटु धुनि बोलहिं नाची॥
बिष्टा पूय रुधिर कच हाड़ा। बरसै कबहुँ उपल बहु छाड़ा॥
बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा। सूझ न आपन हाथ पसारा॥
कपि अकुलाने माया देखें। सब कर मरन बना एहि लेखें॥"

'मानस' लंका० ५१, ५२-१-५।

"अस कहि चला रचिसि मग माया। सर मंदिर बर बाग बनाया॥
मारुत सुत देखा सुभ आश्रम। मुनिहिं बूझि जल पियौं जाइ श्रम॥
राच्छस कपट बस तहँ सोहा। मायापति दूतहि चह मोहा॥
जाइ पवनसुत नायउ माथा। लाग सो कहै राम गुन गाथा॥
होत महा रन रावन रामहिं। जितहहिं रामु न संसय या महिं॥
इहाँ भए मैं देखौ भाई। ग्यान दृष्टि बलु मोहि अधिकाई॥
माँगा जल तेहि दीन्ह कमंडल। कह कपि नहिं अघाउँ थोरे जल॥
सर मज्जन करि आतुर आवहु। दीच्छा देउँ ग्यान जेहि पावहु॥

सर पैठत कपि पद गहा मकरीं तब अकुलान।
मारी सो धरि दिब्य तनु चली गगन चढ़ि जान॥"

वही, ५६ १ ५७

रावण और मेघनाद लड़ते-लड़ते आकाश में उड़ जाते और कभी-कभी वही अदृश्य भी हो जाते है[1]। दशानन अनेक रूप धारण कर कपि-सेना में हाहाकार मचा देता है[2]। इतना ही नहीं, इसका प्रयोग वह स्वयं राम पर भी आक्रमण करने के लिए करता है। कहीं उन्हें असंख्य सर्प घेर लेते हैं[3] तो कहीं वे अनेक हनुमानों से घिरे हुए दिखलाई पड़ते है। यह रावण की माया शक्ति की प्रबलता है कि वह अनेक हनुमान उत्पन्न कर देता है जो राम पर ही प्रहार करने लगते हैं। बड़ा विलक्षण दृश्य उपस्थित हो जाता है[4]। रावण अनेक राम-लक्ष्मण प्रगट कर देता और स्वयं राम को छोड़ अन्य

"पुनि रघुपति सैं जूझै लागा। सर छाड़ै होइ लागहिं नागा॥
ब्याल पास बस भयउ खरारी। स्वबस अनंत एक अबिकारी॥"

'मानस', लंका० ७२.१०-११

"जब कीन्ह तेहि पाखंड। भए प्रगट जंतु प्रचंड॥
बेताल भूत पिसाच। कर धरें धनु नाराच॥
जोगिनि गहें करबाल। एक हाथ मनुज कपाल॥
कर सद्य सोनित पान। नाचहिं करहिं बहु गान॥
धरु मारु बोलहिं घोर। रहि पूरि धुनि चहुँ ओर॥
मुख बाइ धावहिं खान। तब लगे कीस परान॥
जहँ जाहिं मरकट भागि। तहँ बरत देखहिं आगि॥
भए बिकल बानर भालु। पुनि लाग बरषइ बालु॥
जहँ तहँ थकित करि कीस। गर्जेउ बहुरि दससीस॥
लछिमन कपीस समेत। भए सकल बीर अचेत॥
हा राम हा रघुनाथ। कहि सुभट मींजहिं हाथ॥

वही, १००'१-११

१ वही, लंका ५०'३, ७२, ७५.११, ६४. ४-७।

२ वही, ६५ १-१२।

३ वही, ७२'१०-१३।

४ "प्रगटेसि बिपुल हनुमान। धाए गहें पाषान॥
तिन्ह राम घेरे जाइ। चहुँ दिसि बरूथ बनाइ॥
मारहु धरहु जनि जाइ। कटकटहिं पूँछ उठाइ॥
दस दिसि लँगूर बिराज। तेहि मध्य कोसलराज॥
तेहि मध्य कोसलराज सुन्दर स्याम तन सोभा लही।
जनु इंद्र-धनुष अनेक की बर बारि तुंग तमालही॥"

वही, लंका० १०० १२ १८

सभी यहाँ तक कि अनन्तावतार लक्ष्मण भी भ्रम मे पड़ जाते है। राक्षसी माया की यह पराकाष्ठा दर्शनीय है :—

"सही न जाय कपिन्ह कै मारी। तब रावन माया बिस्तारी॥
सो माया रघुबीरहि बाँची। लछिमनु कपिन्ह सो मानी साँची॥
देखी कपिन्ह निसाचर अनी। अनुज सहित बहु कोसल धनी॥

छन्द—बहु राम लछिमन देखि मरकट भालु मन अति अपडरे।
जनु चित्र लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहि खरे[1]॥"

राक्षसी माया का रहस्य स्पष्ट है। माया शक्ति के दो रूप हैं—विद्या और अविद्या। माया सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति के साथ ही उसके संहार का भी कारण है। निश्चय ही संहार के लिए भी वह विविध रूप धारण करती है। राम-रावण के युद्ध में संहारकारिणी शक्ति अनेक रूपो मे कार्य करती है। संहारकारिणी माया की अविद्या शक्ति विविध रूपो में राक्षसों का कार्य करती और उन्हे राम से विमुख कर अपनी दुर्धर्ष लीला दिखाती है। इधर राम की 'उद्भव स्थिति सहारकारिणी' शक्ति भी सहार करती है; पर पुनर्निर्माण के हेतु ही। राम ने जिस मृग का वध किया वह उनके धाम का अधिकारी हुआ। इसी प्रकार उन्होंने जिन राक्षसों का वध किया वे सब तर गए। कुम्भकर्ण और रावण को तो अन्यतम सद्गति प्राप्त हुई। दोनो का तेज प्रभु मे समा गया। निष्कर्ष यह कि राम सहार करते हैं पृथ्वी का भार उतारने के लिए और भारस्वरूप राक्षसों का उद्धार भी हो जाता है। राक्षस संहार करते हैं अपने भौतिक उत्कर्ष एवं धर्म नाश के लिए। माया की शक्ति दोनों ओर कार्य करती है। राम-रावण का युद्ध विद्या-अविद्या का युद्ध है। अविद्या की सहारकारिणी शक्ति राक्षसी माया के रूप मे प्रकट हो रही है और सहारकारिणी विद्या राम की शक्ति के रूप मे विजयिनी हो रही है। राम की माया क्लेशहारिणी[2] है तो रावण की माया क्लेशकारिणी। निष्कर्ष यह कि राम के विरोध मे क्रियाशील शक्ति ही राक्षसी माया, वही आसुरी प्रवृत्ति का मूल और वही तमोगुण का चरमोत्कर्ष है।

---

१ 'मानस', लंका० ८८ ५-६।

२ इसीलिये आदिशक्ति की वन्दना में 'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं' के साथ 'क्लेशहारिणीम्' कहा गया है। देखिए, 'मानस' बाल० श्लोक ५

अब तक के विवेचन से 'माया रूपी नारि' और 'नारि विस्व माया प्रगट' का रहस्य स्पष्ट हो गया। माया-शक्ति ही भक्ति, कृपा और नारी भी है। नारी के रूप में उसके सभी पक्ष प्रत्यक्ष हो जाते है। 'माया रूपी नारि' का अभिप्राय है कि नारी ने माया का रूप धारण किया है अर्थात् माया के रूप में नारी ही है और 'नारि विस्व माया प्रगट' का तात्पर्य है कि माया विश्व में नारी रूप में प्रकट हो रही है। प्रथम नारी ने माया का रूप धारण किया और फिर माया नारी-रूप मे प्रकट हुई। इसे यों भी कह सकते हैं कि परम चैतन्य तत्त्व में जो स्त्री-तत्त्व है वही माया है। जड़-चेतन की लीला के लिए सृष्टि का क्रम संचालित होने पर सर्वत्र स्त्री-तत्त्व के रूप मे व्याप्त वही माया शक्ति नारी के रूप मे प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती है। यही जगत् को 'सीय राम मय' कहने का रहस्य है जिसकी अनुभूति भक्ति का चरम सोपान है। भक्त स्त्रीमात्र में सीता और पुरुषमात्र मे राम के दर्शन करता है। इसी को 'अध्यात्म रामायण' में यों समझाया गया है:—

"लोके स्त्रीवाचक यावत्तत्सर्व जानकी शुभा।
पुन्नामवाचकं यावत्तत्सर्व त्वं हि राघव[1]॥"

---

१ 'अध्यात्म-रामायण' में श्री नारद भक्त वत्सल भगवान् से निवेदन करते हैं—

"संसार्यहमिति प्रोक्त सत्यमेतत्त्वया विभो।
जगतामादिभूता या सा माया गृहिणी तव॥
त्वत्सन्निकर्षाज्जायन्ते तस्यां ब्रह्मादयः प्रजाः।
त्वदाश्रया सदा भाति माया या त्रिगुणात्मिका॥
सूतेऽजस्रं शुक्लकृष्णलोहिताः सर्वदा प्रजाः।
लोकत्रयं महागेहे गृहस्थस्त्वमुदाहृतः॥
त्व विष्णुर्जानकी लक्ष्मीः शिवस्त्वं जानकी शिवा।
ब्रह्मा त्वं जानकी वाणी सूर्यस्त्वं जानकी प्रभा॥
भवान् शशांकः सीता तु रोहिणी शुभलक्षणा।
शक्रस्त्वमेव पौलोमी सीता स्वाहानलो भवान्॥
यमस्त्वं कालरूपश्च सीता सयमिनी प्रभो।
निरृतिस्त्व जगन्नाथ तामसी जानकी शुभा॥
राम त्वमेव वरुणो भार्गवी जानकी शुभा।
वायुस्त्वं राम सीता तु सदागतिरितीरिता॥*

आवरण डालकर इस तत्व को दृष्टि से ओझल करने वाली अविद्या और आवरण हटाकर दृष्टि निर्मल करने वाली विद्या है। अतः भक्त का निवेदन होता है.—

"जनक सुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की।।
ताके जुग पद कमल मनावौं। जासु कृपा निर्मल मति पावौं[1]।।"

निर्मल मति से ही दृष्टि निर्मल बनती है जिससे अविद्या का मलिन आवरण हटता और जगत् 'सीय राम मय' दिखने लगता है। 'अध्यात्म रामायण' के अरण्यकाड मे भी कहा गया है कि 'हे राम! आपकी माया विद्या और अविद्या दो रूपों में भासती है। जो लोग प्रवृत्ति मार्ग में लगे है वे अविद्या के वशीभूत है और जो वेदान्तार्थ का विचार करने वाले निवृत्ति-परायण और राम की भक्ति में निरत है वे विद्यामय समझे जाते है। इनमे से जो अविद्या के वशीभूत है वे सदा जन्ममरण रूप संसार मे फँसे रहते हैं और जो विद्याभ्यासी है वे ही नित्यमुक्त है।[2] 'वास्तव मे इस जीवन में ही कण-कण में ब्रह्म और माया के दर्शन करना जीवन्मुक्त की अवस्था है। व्यावहारिक रूप मे इसकी प्राप्ति किस प्रकार की जा सकती है यह काकभुशुण्डि के चरित में भली भाँति चरितार्थ किया गया है। उनका गुणगान स्वयं शंकर भगवान् ने पार्वती से किया है —

---

* कुबेरस्त्वं राम सीता सर्वसंपत्प्रकीर्तिता।
रुद्राणी जानकी प्रोक्ता रुद्रस्त्वं लोकनाशकृत्।।
लोके स्त्रीवाचकं यावत्तत्सर्वं जानकी शुभा।
पुन्नामवाचकं यावत्तत्सर्वं हि राघव।।"

'अध्यात्म रा०', अयो० १. १०-१६.

१ 'मानस', बाल० २२. ७, ८।

२ "राम माया द्विधा भाति विद्याऽविद्येति ते सदा।
प्रवृत्तिमार्गनिरता अविद्यावशवर्तिनः।
निवृत्तिमार्गनिरता वेदान्तार्थविचारकाः।।३२।।
त्वद्भक्तिनिरता ये च ते वै विद्यामयाः स्मृताः।
अविद्यावशगा ये तु नित्यं संसारिणश्च ते।।
विद्याभ्यासरता ये तु नित्यमुक्तास्त एव हि" ।।३३।।

'अध्यात्म रा०', अरण्य० ३

"उमा जे राम चरन रत विगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध[1] ॥"

समस्त जगत् को राममय देखने वाले काक को लोमश पर क्रोध आता भी कैसे ? वह उड चला तो ब्रह्मर्षि ने स्वयं अनुभव किया कि काक को जिस लक्ष्य का बोध कराने के लिए वे प्रयत्नशील हैं उसकी उपलब्धि उसे पहले हो चुकी है। काक समस्त विश्व को प्रभुमय देखता है। जब विश्व ही प्रभुमय है तो आत्मा ही परमात्मा क्यो नहीं है ? ज्ञानी और भक्त मे यह अन्तर है कि ज्ञानी 'अहं ब्रह्मास्मि' का बोध हो जाने पर जगत् को ब्रह्ममय देखता है और भक्त जगत् के बीच भगवान् को देखते-देखते उसका प्रसार सारे विश्व मे देखने लगता है। अन्त मे उस जगत् का एक रूप होने के कारण अपने आप मे भी उसी को पाता है। अन्ततः उसे भी वही प्राप्त होता है जो ज्ञानी को। अन्तर इतना ही है कि ज्ञान की चरम अवस्था मे भी माया अपना प्रभाव दिखाने से नहीं चूकती और उसके सेनानी ज्ञानी को घेर लेते हैं। पर भक्त को इसका भय नही रहता। प्रभु स्वयं पग-पग पर उसकी रक्षा करते रहते है। अतः माया के सेनानी उसके पास नहीं फटक सकते। यही कारण है कि ज्ञानी लोमश क्रोधावेश में शाप दे बैठे। उन्हे यह ध्यान न रहा कि जब निर्गुण और सगुण एक ही है तो भक्त की निष्ठा सगुण मे होने से कोई हानि नही है। उन्होंने निर्गुण को महत्त्व दिया अतः ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने लगे। पर भक्त उसे प्राप्त कर यह अनुभव कर चुका था कि जो रस सगुण मे है वह निर्गुण मे नही। अतः उसने बारम्बार सगुण का पक्ष लिया। लोमश ने इसे उसका हठ समझ कर शाप दिया। काक ने शाप सहर्ष शिरोधार्य कर लिया। तब ऋषि ने समझा कि ब्रह्मज्ञान की सच्ची अनुभूति वही कर रहा है।

इस प्रसंग में भक्त की सिद्धावस्था प्रत्यक्ष कर दी गई है। जगत् को सियाराममय अनुभव करने वाला भक्त हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से रहित रहता है। वह सच्चा निष्काम कर्मयोगी होकर सृष्टि मे अपना योगदान करता हुआ प्रभुमय हो जाता है।

निष्कर्ष यह कि सृष्टि में पुरुषतत्त्व और स्त्रीतत्त्व अभिन्न रूप से व्याप्त है। माया अपने अनन्त रूपों में सृष्टि के समस्त रूपो और व्यापारो

---

१ 'मानस' उत्तर ११२

में व्याप्त हो रही है। वह पुरुषतत्त्व को भी अपने त्रिगुणात्मक रूप से वशीभूत किए रहती है। अतः पुरुष के लिए 'माया रूपी नारि' के बन्धन से मुक्त होने का अर्थ केवल नारी के पाश से मुक्त रहना ही नहीं, अपनी प्रकृति के माया जन्य विकारों पर भी विजय प्राप्त कर लेना है। ऐसा करने पर ही उसे नारी मातृशक्ति के रूप में दिखाई पड़ती और उसका जीवन सफल हो सकता है। अन्यथा, यदि वह अपने अन्तःकरण की माया तथा संसार में व्याप्त और नारी रूप में प्राप्त माया के वास्तविक रूप को न समझ सका तो उसका 'मानुसतन' पाना भी व्यर्थ गया और उसे काल, कर्म, स्वभाव और गुण के घेरे में पड़कर वही भोग फिर भुगतना पड़ेगा जिसे भोगते हुए देख, कभी करुणा करके अकारण दयालु प्रभु ने उसे यह तन दिया था।

अन्त में यह भी विचारणीय है कि यह सब तो पुरुष के लिए है, क्या नारी के लिए भी पुरुष की वही स्थिति है जो पुरुष के लिए नारी की? नारी के लिए भवबन्धन से मुक्त होने और भगवद्प्राप्ति का कौन सा उपाय है?

जीवात्मा में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं है। वह तो नित्य-शुद्ध-प्रबुद्ध है और शरीरधारी होने पर, सभी योनियों में स्त्रीत्व अथवा पुरुषत्व को प्राप्त करता है। तुलसीदास ने पुरुषतन को दुर्लभ न कहकर 'मानुसतन' को दुर्लभ कहा है। अतएव मानवदेहधारी पुरुष के लिए मार्ग-दर्शन करते समय उन्हें इस बात की चिन्ता अवश्य रही होगी कि स्त्री के लिए भी मार्ग-दर्शन किए बिना उनकी लोक-सेवा अधूरी ही रह जाएगी। निश्चय ही नारी के उद्धार के लिए भी उचित साधनों का निर्देश करना वे नहीं भूले हैं।

स्त्री माया का ही रूप है। इसका अर्थ है कि स्त्री-शरीर मिलने पर स्त्रीतत्त्व की प्रधानता होती है और स्त्रीतत्त्व ही माया है। पुरुष भी माया-सम्भव सृष्टि का एक अंश है, पर उसमें पुरुषतत्त्व की प्रधानता है। वह स्त्रीतत्त्व से प्रभावित हो उसकी प्रेरणा से अनेक कार्य किया करता है। अतः स्त्री से सतर्क रहना उसके लिए आवश्यक है। प्रकृति के निर्माण में स्त्री का विशिष्ट स्थान है। वह हर क्षेत्र में किसी न किसी क्रियाशीलता का प्रतीक है। इसी गुण के कारण वह सृष्टि में पुरुष का संचालन करने के लिए अवतरित हुई है उसे पुरुष से भयभीत नहीं होना उसकी अर्द्धा

गिनी बनकर उसकी आज्ञा के अनुसार समस्त कार्यों का संचालन करना है। स्वयं राम की भार्या का कथन है :—

"जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी[1]॥"

यहाँ नारी-जीवन में पुरुष का अत्यधिक महत्त्व प्रतीत होता है, परन्तु ध्यान देने पर दूसरा पक्ष कम महत्त्वपूर्ण नहीं जँचता। बिना जीव के शरीर व्यर्थ है। उसके जाते ही शरीर को कोई नही पूछता। निश्चय है कि अन्त जीव का नहीं, शरीर का होता है। पर शरीर के माध्यम से होने वाला कार्य जीव द्वारा सम्पन्न नही हो सकता। जीव की क्रियाशक्ति शरीर द्वारा प्रकट होती है। शरीर के बिना जीव की कल्पना ही इतनी विलक्षण है कि किसी व्यक्ति का शरीरान्त हो जाने पर यदि सन्देह हो कि उसका जीव अभी घर ही में भटक रहा है तो वहाँ जाने का साहस बिरले ही कर पाएँगे। ऐसी दशा में शरीर बिना जीव का महत्त्व क्या रहा? इसी प्रकार जल-विहीन सतह और तट मात्र को सरिता की संज्ञा नही मिल सकती। और बिना तट एवं सतह के केवल जल की स्थिति सरिता के रूप में असम्भव है। जल-प्रवाह का आधार स्थल ही होता है।

मानव-जीवन-धारा में यही स्थिति स्त्री और पुरुष की है। नारी यदि सरिता है तो पुरुष जल, नारी शरीर है तो पुरुष प्राण, पुरुष चन्द्र है तो नारी चन्द्रिका, पुरुष सूर्य है तो नारी प्रभा[2]। नारी पुरुष की अर्द्धांगिनी है, इसका सीधा तात्पर्य है कि प्रत्येक दूसरे का पूरक, अत. दूसरे के बिना अपूर्ण है। इसीलिए गोस्वामी जी के विचार में पुरुष से भिन्न नारी का कुछ विशेष धर्म है। नर और नारी की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति में पर्याप्त अन्तर होने के कारण दोनों के कार्य-क्षेत्र तथा अधिकार भी भिन्न है। फलतः उनके सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन में भी समानता नही है। इहलोक और परलोक-साधन के लिए पुरुषों को जिन उपायों का अवलम्ब लेना पड़ता

---

१ 'मानस', अयो० ६४.७।

२ "जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥"

मानस० अयो० ६४.७।

"प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चन्दु तजि जाई॥"

वही ९७ ५।

में व्याप्त हो रही है। वह पुरुषतत्त्व को भी अपने त्रिगुणात्मक रूप से वशीभूत किए रहती है। अत. पुरुष के लिए 'माया रूपी नारि' के बन्धन से मुक्त होने का अर्थ केवल नारी के पाश से मुक्त रहना ही नहीं, अपनी प्रकृति के माया-जन्य विकारों पर भी विजय प्राप्त कर लेना है। ऐसा करने पर ही उसे नारी मातृशक्ति के रूप मे दिखाई पडती और उसका जीवन सफल हो सकता है। अन्यथा, यदि वह अपने अन्तःकरण की माया तथा संसार मे व्याप्त और नारी रूप में प्राप्त माया के वास्तविक रूप को न समझ सका तो उसका 'मानुसतन' पाना भी व्यर्थ गया और उसे काल, कर्म, स्वभाव और गुण के घेरे में पडकर वही भोग फिर भुगतना पडेगा जिसे भोगते हुए देख, कभी करुणा करके अकारण दयालु प्रभु ने उसे यह तन दिया था।

अन्त मे यह भी विचारणीय है कि यह सब तो पुरुष के लिए है, क्या नारी के लिए भी पुरुष की वही स्थिति है जो पुरुष के लिए नारी की? नारी के लिए भवबन्धन से मुक्त होने और भगवद्प्राप्ति का कौन सा उपाय है?

जीवात्मा मे स्त्री-पुरुष का भेद नहीं है। वह तो नित्य-शुद्ध-प्रबुद्ध है और शरीरधारी होने पर, सभी योनियों में स्त्रीत्व अथवा पुरुषत्व को प्राप्त करता है। तुलसीदास ने पुरुषतन को दुर्लभ न कहकर 'मानुसतन' को दुर्लभ कहा है। अतएव मानवदेहधारी पुरुष के लिए मार्ग-दर्शन करते समय उन्हें इस बात की चिन्ता अवश्य रही होगी कि स्त्री के लिए भी मार्ग-दर्शन किए बिना उनकी लोक सेवा अधूरी ही रह जाएगी। निश्चय ही नारी के उद्धार के लिए भी उचित साधनों का निर्देश करना वे नहीं भूले है।

स्त्री माया का ही रूप है। इसका अर्थ है कि स्त्री-शरीर मिलने पर स्त्रीतत्त्व की प्रधानता होती है और स्त्रीतत्त्व ही माया है। पुरुष भी माया-सम्भव सृष्टि का एक अंश है, पर उसमें पुरुषतत्त्व की प्रधानता है। वह स्त्रीतत्त्व से प्रभावित हो उसकी प्रेरणा से अनेक कार्य किया करता है। अत स्त्री से सतर्क रहना उसके लिए आवश्यक है। प्रकृति के निर्माण में स्त्री का विशिष्ट स्थान है। वह हर क्षेत्र में किसी न किसी क्रियाशीलता का प्रतीक है। इसी गुण के कारण वह सृष्टि मे पुरुष का संचालन करने के लिए अवतरित हुई है। उसे पुरुष से भयभीत नहीं होना उसकी अर्द्धां

गिनी बनकर उसकी आज्ञा के अनुसार समस्त कार्यों का संचालन करना है। स्वयं राम की भार्या का कथन है :—

"जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी[1] ॥"

यहाँ नारी-जीवन में पुरुष का अत्यधिक महत्त्व प्रतीत होता है, परन्तु ध्यान देने पर दूसरा पक्ष कम महत्त्वपूर्ण नहीं जँचता। बिना जीव के शरीर व्यर्थ है। उसके जाते ही शरीर को कोई नही पूछता। निश्चय है कि अन्त जीव का नहो, शरीर का होता है। पर शरीर के माध्यम से होने वाला कार्य जीव द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता। जीव की क्रियाशक्ति शरीर द्वारा प्रकट होती है। शरीर के बिना जीव की कल्पना ही इतनी विलक्षण है कि किसी व्यक्ति का शरीरान्त हो जाने पर यदि सन्देह हो कि उसका जीव अभी घर ही मे भटक रहा है तो वहाँ जाने का साहस बिरले ही कर पाएँगे। ऐसी दशा में शरीर बिना जीव का महत्त्व क्या रहा? इसी प्रकार जल-विहीन सतह और तट मात्र को सरिता की संज्ञा नही मिल सकती। और बिना तट एवं सतह के केवल जल की स्थिति सरिता के रूप मे असम्भव है। जल-प्रवाह का आधार स्थल ही होता है।

मानव-जीवन-धारा में यही स्थिति स्त्री और पुरुष की है। नारी यदि सरिता है तो पुरुष जल, नारी शरीर है तो पुरुष प्राण, पुरुष चन्द्र है तो नारी चन्द्रिका, पुरुष सूर्य है तो नारी प्रभा[2]। नारी पुरुष की अर्द्धांगिनी है, इसका सीधा तात्पर्य है कि प्रत्येक दूसरे का पूरक, अत. दूसरे के बिना अपूर्ण है। इसीलिए गोस्वामी जी के विचार में पुरुष से भिन्न नारी का कुछ विशेष धर्म है। नर और नारी की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति मे पर्याप्त अन्तर होने के कारण दोनों के कार्य-क्षेत्र तथा अधिकार भी भिन्न है। फलतः उनके सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन में भी समानता नही है। इहलोक और परलोक-साधन के लिए पुरुषो को जिन उपायो का अवलम्ब लेना पडता

---

१ 'मानस', अयो० ६४.७।

२ "जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥'

मानस० अयो० ६४.७।

"प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चन्दु तजि जाई॥"

वही ९६.६।

है, नारी के लिए वे सम्भव नहीं है। विचारने की बात है कि यदि पुरुष की भाँति नारी भी पच्चीस वर्ष की अवस्था तक गुरु के आश्रम में शिक्षा प्राप्त करे, फिर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो धनोपार्जन और यज्ञादि करे, तदनन्तर वानप्रस्थ और अन्त में संन्यास ले तपस्या में निरत हो तो समाज की क्या अवस्था होगी ? तब पुरुष को कम से कम पैंतीस वर्ष तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहना पड़ेगा। इससे निश्चय ही समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होगी। गृहस्थाश्रम में दोनों के ही धनोपार्जन में संलग्न होने पर गृहसंचालन और गृहपरिचर्या में जिस शिथिलता की संभावना हो सकती है, आज के विशृंखल समाज में उसके उदाहरणों की कमी नहीं।

निदान स्त्री और पुरुष दोनों के कार्य-क्षेत्र भिन्न हैं और नारी के लिए सर्वदा वह कार्य उचित नहीं जो पुरुष के लिए है। आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में यदि पुरुष के लिए ज्ञान, योग एवं भक्ति के मार्ग खुले हैं तो कोई कारण नहीं कि नारी के लिए वे बन्द कर दिए जाएँ। किन्तु सामान्य रूप से हर क्षेत्र में पुरुष के ही कर्तव्य करना नारी का धर्म नहीं है। वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम में भी उसके पुरुष से कुछ भिन्न कर्तव्य होते हैं। वह पुरुष की सेवा-शुश्रूषा करके उसकी साधना के आधे फल की अधिकारिणी हो जाती है। इस प्रकार दोनों की बन जाती है।

गृहस्थाश्रम ही दोनों के लिए सबसे कठिन आश्रम है। उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए गोस्वामी जी ने नारी के लिए 'नारी धर्म' अर्थात् पतिव्रत धर्म का सुगम मार्ग उचित ठहराया है[1]। नारी का हित पूर्ण रूप से पति का अनुसरण करने में ही है। विशेष रूप से गृहस्थाश्रम में यदि नारी अपना व्यक्तित्व पति के व्यक्तित्व में विलीन नहीं कर देती और दोनों एकमत होकर कार्य नहीं करते तो इस आश्रम की सफलता संदिग्ध ही समझिए। इसीलिए वनवासी जीवन में भी सती-शिरोमणि सीता को माता अनसूया द्वारा नारीधर्म का उपदेश दिलाया गया है। इस उपदेश को लेकर भी नारी जाति के कतिपय उद्धारक गोस्वामी जी की कड़ी आलोचना किया करते हैं। पर अनसूया जी की सीख अवसरानुकूल और सर्वथा उचित थी। उसी में जरा-सी चूक हो

---

१ भगवान् शंकर इसी धर्म के पालन के कारण उमा से कहते हैं:—
"धन्य सो देस जहँ सुरसरी। धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी ॥"
'मानस', उत्तर १२६.५

जाने के कारण सीता लोक-निन्दा की पात्र बनी। वनवासी जीवन में भी गृहस्थ धर्म का कुछ निर्वाह आवश्यक था। तदनुसार भिक्षुक को बिना भिक्षा दिए लौटाना अनुचित था। अतः जनक-नन्दिनी ने उसे भिक्षा देना उचित समझा, परन्तु एकान्त में उससे वार्तालाप करने के कारण नारीधर्म का उल्लंघन भी हो गया। यती से बात करने का परिणाम सर्वविदित है। यदि वे ऐसा न करतीं तो छद्मवेशधारी रावण उनका हरण नहीं कर सकता था। दूसरी चूक तब हुई जब वे लंका से सोलह शृंगार कर पालकी पर सवार हो वनवासी एवं तपस्वी राम के पास आईं। नारीधर्म की यह चूक वैदेही को बड़ी महँगी पड़ी। उन्हें समस्त उपस्थित समाज के समक्ष प्रभु से 'दुर्वाद' सुनना पड़ा और अग्नि-परीक्षा देने के लिए बाध्य हो गई। गृहस्थाश्रम में नारीधर्म की मर्यादा बड़ी कठिन है। पति के चरणों में पूर्ण आत्मसमर्पण और माता के पुनीत कर्तव्य का पालन उसके प्रमुख अंग हैं। परन्तु इतने से ही नारी का इहलोक और परलोक बन जाता है, जैसा कि महासती अनसूया के इन वचनों से प्रकट है :—

"सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जस गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय[1]॥"

'मानस' में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त 'नारीधर्म' सामान्य रूप से 'स्त्री के कर्तव्य' का द्योतक है। तुलसी के मतानुसार नारी का पतिव्रत धर्म ही उसकी परमगति का साधक है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि अध्यात्म-साधन के अन्य मार्ग उसके लिए अवरुद्ध हैं। वह आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर तपस्या कर सकती है। स्वयंप्रभा इसका प्रमाण है। वह शबरी की भाँति पवित्रता से मुनिजनों की सेवा भी कर सकती है। भक्ति में तो उसे वह स्थान प्राप्त है जो किसी पुरुष को नहीं है। कारण, भक्ति-माता की अनन्त गोद में हर प्राणी के लिए आश्रय है, भले ही वह किसी भी वर्ण अथवा आश्रम का, पुरुष अथवा स्त्री ही नहीं, पशु-पक्षी भी क्यों न हो[2]। वहाँ सबकी अबाध गति है। नारी के किसी भी धर्म में भक्ति बाधक नहीं है क्योंकि भक्ति में एक ही तत्त्व अनिवार्य है जो किसी भी लौकिक कार्य में बाधक नहीं। वह है राम के प्रति

---

१ 'मानस', अरण्य० ५।

२ भगवान् का वचन है :—

"पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥"

वही, उत्तर० ८७

सच्चा निष्काम प्रेम। प्रभु से निष्काम प्रेम करने वाली नारी को क्या पति, क्या पुत्र सभी में प्रभु के दर्शन होंगे। नहीं, उसे तो सारा विश्व प्रभुमय दिखाई देगा। फिर भक्ति से नारी-धर्म का विरोध कैसा? अतः नारी के लिए मायाजन्य बन्धन से मुक्त हो भगवत्-प्राप्ति करने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है नारी-धर्म का पालन करते हुए भक्ति के सुलभ पथ का अनुसरण।

वास्तव में पुरुषतत्त्व और स्त्रीतत्त्व की संयुक्त शक्ति ही सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और प्रलय का कारण है। अत. पुरुष और नारी प्रत्येक क्षेत्र में एक दूसरे के पूरक हैं। इसी से पुरुष की अध्यात्म-साधना में जहाँ नारी को महत्त्व दिया गया है वहीं नारी की अध्यात्म-साधना में पुरुष को। 'मानस' में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि किस प्रकार दोनों अपना-अपना कर्तव्य पालन करते हुए अपने-अपने ढंग से अविद्या से बचकर विद्या का आश्रय ले अपने जीवन को सार्थक कर सकते हैं। इस प्रकार दोनों सरलता से उसकी प्राप्ति कर सकते है जो अखिलविश्वव्यापी है और जिसकी शक्ति स्त्रीतत्त्व के रूप में सर्वत्र क्रियाशील है। उसके बिना न सृष्टि का आविर्भाव सम्भव है, न संचालन और न विनाश एवं पुनर्निर्माण ही। उसे समझ लेना और उसकी अर्चना करना ही परम कल्याण का साधक है। सम्भवतः इसीलिए धर्म के व्याख्याता त्रिकालज्ञ महर्षि मनु का उद्‌घोष है :—

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।"

■

अध्याय २

नारी और भक्ति

भारतीय दर्शन में भक्ति का विशेष महत्त्व है। अद्वैत प्रतिपादक शंकराचार्यने 'मोक्षकारणसामग्रचा भक्तिरेव गरीयसी'[1] कह कर भक्ति का समर्थन किया है। भक्तो का तो वही सर्वस्व है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने गम्भीर अध्ययन तथा व्यापक अनुभव के आधार पर रामभक्ति को ही मानव के स्वार्थ एव परमार्थ का सर्वश्रेष्ठ साधन ठहराया। इसमें संदेह नही कि 'रामचरित-मानस' का प्रणयन रामभक्ति-प्रचार के उद्देश्य से हुआ है। मानस-रूपक मे 'भगति निरूपण बिबिध बिधाना' का जो उद्घोष हुआ उसकी पूर्ति विभिन्न भक्तोके चरित्रो, भक्ति के विविध रूपो एवं साधनोके उद्घाटन द्वारा की गई है। राम-प्रेम भक्तिका अनिवार्य अंग माना गया है। विविध रूपो मे होते हुए भी भक्ति की एकरूपता उसके प्रेम-प्रधान होने में ही है।

"रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननि हारा[2] ॥"

और—

"रीझत राम सनेह निसोते[3]।"

की व्यंजना यही है। बिना प्रेम के सब साधन व्यर्थ है। कोई भी साधनहीन प्राणी केवल प्रेम के द्वारा राम को प्राप्त कर सकता है। ज्ञान, योग एवं भक्ति के आचार्य भगवान् शंकर का निर्णय है :—

"मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।
किए जोग जप ग्यान बिरागा[4] ॥"

तुलसीदास ने भक्ति के क्षेत्र में नारी को किस रूप में प्रतिष्ठित किया है इस पर विचार करने के पूर्व तत्कालीन परिस्थिति का अवलोकन आवश्यक है।

---

१ 'विवेक-चूड़ामणि,' श्लोक ३२।
२ 'मानस,' अयो० १२६.१।
३ वही, बाल० ११ ११।
४ वही उत्तर ६१ ११

उस समय समाज और धर्म के क्षेत्र में विषम स्थिति उपस्थित थी। एक ओर वेद-शास्त्रों की निन्दा द्वारा उनके उत्पाटन का प्रयत्न हो रहा था, दूसरी ओर वेद-विद् अपनी संकीर्णता के घेरे में बँधा हुआ अपनी रक्षा के लिए व्याकुल हो रहा था। संस्कृत जनसाधारण की भाषा नहीं रह गई थी। वह वेद-शास्त्रों के ज्ञान में पिछड़ा हुआ था, विशेषत: स्त्री और शूद्र तो इसमें और भी दूर जा पड़े थे। वेदविद् शूद्र का तिरस्कार कर रहा था। नारी की दशा और भी शोचनीय थी। यद्यपि श्री रामानुजाचार्य ने मानव मात्र को प्रपत्ति का अधिकारी ठहराकर सिद्धान्तत: अपनी उदाराशयता का परिचय दिया था, परन्तु अभी वह व्यावहारिक जीवन में ढाला नहीं जा सका था। उधर वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में इस भावना को भले ही पोषण मिला और गोपियों को ब्रह्मज्ञानियों से भी ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित किया गया, पर लोक जीवन और समाज के बीच स्त्री की अवस्था में कोई परिवर्तन दिखाई न दिया। श्री रामानन्द ने प्रपत्ति मार्ग को महत्व देते हुए स्पष्ट घोषित कर दिया—

"सर्वे प्रपत्तेरधिकारिण: सदा
शक्ता अशक्ता अपि नित्यरंगिण।
अपेक्ष्यते तत्र कुलं बलं च नो
न चापि कालो न हि शुद्धता च[1]।।"

उन्होंने अनेक शूद्रों को अपना शिष्य बनाकर इसे चरितार्थ भी कर दिया। यहाँ तक कि जुलाहे कबीर का नाम भी उनकी शिष्यमण्डली में गिना जाता है। कबीर को उन्होंने भले ही दीक्षा न दी हो, पर जब कबीर ने उनके मुख से अनायास निकले हुए राम-नाम को गुरुमन्त्र मान लिया और 'काशी में हम प्रकट भए है रामानन्द चिताये' की घोषणा कर दी तो श्री रामानन्द अथवा उनके किसी शिष्य ने इसका खण्डन नहीं किया, यह निश्चित जान पड़ता है। यदि उन्होंने कभी इतना ही कहा होता कि यह मेरा शिष्य होनेका अधिकारी नहीं, तो यह कैसे सम्भव था कि हिन्दू-मुसलमानोंके वैमनस्य के उस युग में कोई रामानन्दी अथवा अन्य कट्टर हिन्दू इसे तूल न देता? आश्चर्य नहीं कि उनके इस मौन के कारण ही कबीर को जनता के मध्य वह महत्त्व मिल गया जो अन्यथा सम्भव न होता।

इसमें सन्देह नहीं कि श्री रामानुज ने भक्ति के क्षेत्र में जिस उदारता का सूत्रपात किया उसका प्रसार श्री रामानन्द ने इस सीमा तक कर दिया कि

---

१ 'वैष्णवमताब्जभास्कर' श्लोक १६।

उनके द्वादश प्रधान शिष्यो के बीच शूद्र और नारी भी गिने जाते है।[1] परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि नारी की स्थिति मे आमूलचूल परिवर्त्तन हो गया। भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्राण उसकी धर्मभावना है। जब धर्म के क्षेत्र में ही नारी की हीन दशा रही तो भला उसके द्वारा समाज और संस्कृति के उत्थान में किस योग की आशा की जा सकती थी? हमारे लोक-द्रष्टा संत ने समाज की इस त्रुटि को परखा और इस कारण होने वाली भीषण हानि एव तज्जनित दुष्परिणामो को अपनी दूरदर्शिता से भाँप लिया। उन्होंने 'माया-रूपी नारि' का उद्घोप किया था। नारी की यह दशा देख उनका संत-हृदय द्रवीभूत हो गया और उक्त आचार्यो से आगे बढकर उन्होंने नारी को इस क्षेत्र में वह स्थान दिया जिसे प्रदान करने का साहस अन्य कोई सत नही कर सका था। 'समदरसी'[2] प्रभु के सेवक का समदर्शी होना स्वाभाविक है। निरन्तर 'परहित निरत'[3] रहने की कामना करनेवाला सत अपने 'परहित' के क्षेत्र से नारी का बहिष्कार कर देता और तात्कालिक परि-स्थितियों पर मनन करके उसके उद्धार और परित्राण का मार्ग न निकालता, यह असम्भव था। हमें तो प्रत्यक्ष दिखलाई देता है कि इसी कारण सन्त तुलसीदास ने नारी को भक्ति के क्षेत्र मे अन्यतम आसन पर प्रतिष्ठित किया है।

उस समय हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज घोर विपत्ति-ग्रस्त था। इसलाम का अत्याचार केवल मन्दिरों तक ही सीमित न था, हिन्दू अपने घरो में भी सुरक्षित नहीं था। हिन्दू कन्याओं एवं स्त्रियों का अपहरण नित्य की बात थी। इस प्रकार हिन्दू समाज के मूल पर ही कुठाराघात हो रहा था। इस समाज मे उन अपहृत नारियो के पुन प्रवेश के सब द्वार बन्द थे। फलत' उनके उत्थान की कोई सम्भावना न थी। स्वभाव से ही धर्मपरायण हिन्दू नारी जिस घर में जाने लगी, अपनी कर्तव्य-बुद्धि और सेवा-भावना के वशीभूत हो उसी गृह की शोभा बढ़ाने लगी। कितनी हिन्दू रमणियाँ इस प्रकार हमारे

१ 'तुलसीदास और उनका युग'—डा० राजपति दीक्षित, पृ० २३६।

२ "समदरसी मोहि कह सब कोऊ।"

'मानस', किष्किन्धा २८।

३ "कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
परहित-निरत निरन्तर मनक्रम बचन नेम निबहौंगो।"

'विनय', पद १७२।

घरों से परित्यक्त हो विधर्मियों के घरों की विभूति बनी होगी, कहा नहीं जा सकता। उन हिन्दू ललनाओं के पुनरुद्धार की चिन्ता किसे थी जो बरबस अपहृत हो, आजीवन विधर्मी के घर की शोभा बढ़ाती और हृदय में घृणा रहते हुए भी, प्राणों के मोहवश जीवित मृत्यु का अनुभव करती हुई निरवलम्ब होकर जीवन-यापन करती थी? इनकी भी चिन्ता थी उसे जो मातृशक्ति का सेवक एवं प्रभु के पतित-पावन रूप का प्रेमी था और जिसने परदुःख-कातरता को ही सन्त-हृदय की कसौटी माना था[1]। ऐसा युगद्रष्टा मनीषी हिन्दू ललनाओं की दीन दशा को नजरअन्दाज़ कर जाए और समस्त हिन्दू जाति को घोर निराशा-काल में रामनाम का असीम बल प्रदान करने वाला यह सन्त इन निरीह और निर्दोष कुलागनाओं के उद्धार की चिन्ता न करे, यह कैसे सम्भव था? उसके सन्त-हृदय में 'ज्यों मलेच्छ बस कपिला गाई' की वेदना के साथ उन अबला-रूप कपिलाओं की वेदना भी जगी जो विधर्मियों के चंगुल में पड़ी कराह रही थीं। उस दारुण स्थिति में पड़ी, हिन्दू संस्कारों से युक्त इन ललनाओं को भी यह सन्देश मिला कि वे इस दीन-हीन दशा में भी राम-नाम का सहारा ले वह प्रेम प्राप्त कर सकती हैं जो सभी प्रकार की अपावनता दूर करने वाला है और जहाँ जाति-पाँति, कुल-धर्म, नर नारी किसी का भेद नहीं, सबका पूर्ण प्रवेश है। बाल्यावस्था से ही जिस कन्या के हृदय में राम-चरित घर कर ले और राम की कृपालुता पर दृढ़ विश्वास हो जाए, उसे जीवन की हर विषम परिस्थिति में निस्सन्देह उसी के सहारे सन्तोष और धैर्य प्राप्त हो सकता है। भक्ति के समस्त साधनों के अभाव में भी, केवल राम-प्रेम के सहारे वह सभी कुछ प्राप्त कर सकती है, इस विश्वास से उसके नारकीय जीवन में भी शान्ति-लाभ होना निश्चय है। अतः पतिव्रत-धर्म नारी का सर्वस्व होते हुए भी यदि वह बरबस उससे च्युत की जाती है, तो भी राम की शरण में उसका अबाध प्रवेश है, इस भावना से उसके विषमय जीवन में भी सरसता आ सकती है। नारी की इस विषम सामाजिक स्थिति में उसके पूर्ण उद्धार का प्रयत्न उसे भक्ति के क्षेत्र में ही आगे बढ़ाकर किया जा सकता था और गोस्वामी जी ने यही किया भी है।

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि प्रपत्ति-मार्ग में नारी को पूर्णाधिकार प्राप्त था तथापि सामाजिक जीवन में उसकी अवहेलना बनी हुई थी। 'मानस'

---

१ "संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह पै कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥"
'मानस' उत्तर, १२४.७,८।

में उच्च सामाजिक आदर्शों की स्थापना करने वाले भक्त ने, भक्ति के क्षेत्र में भी नारी के आदर्श को पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित कर अपनी उदार दृष्टि एवं 'निर्मल मति' का परिचय दिया। 'नानापुराणनिगमागमसम्मत'[1] राम-चरित मे नारी को वह स्थान प्राप्त होना ही चाहिए जिसका उक्त ग्रन्थो मे परिचय मिलता है। वेदों की अनेक ऋचाओं की रचना उसके द्वारा मान्य है[2]। उपनिषदो में उसके ज्ञानियो के साथ ज्ञान-चर्चा करने के उल्लेख प्राप्त होते है[3]। पौराणिक युग मे भी कर्म एव भक्ति मे उसे पूर्ण अधिकार प्राप्त है। स्मृतियो मे उसकी स्वतन्त्रता अवश्य सीमित है[4] पर भक्ति के क्षेत्र से वह बहिष्कृत नही है[5]।

आगे चलकर देश के दुर्भाग्य मे ऐसा समय आया कि नारी का आदर कही न हो सका और एक प्रकार से चारों ओर से खदेडी जाकर वह घर की दीवारो में बदिनी बना दी गई। यह दुर्दशा विशेष रूप से इसलाम के आक्रमण का दुष्परिणाम थी, क्योंकि सुरक्षा के लिए उसे छिपा रखना ही सर्वसुलभ साधन शेष रह गया था। बाल-विवाह ने उसको उच्च शिक्षा एवं ज्ञान का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। भक्ति के क्षेत्र मे सिद्धान्त ने प्रवेश निषिद्ध नही किया पर व्यवहार में वह भी चरितार्थ होकर रहा[6]। इस दुर्दशाग्रस्त नारी के

---

१ 'मानस', बाल० श्लोक ७।

२ इनमें से कुछ के नाम घोषा, लोपमुद्रा, यमी, श्रद्धा और सर्वराज्ञी हैं। वैदिक युग में स्त्री को समाज में सम्मान और अधिकार प्राप्त थे। इसके विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—'वैदिक साहित्य', द्वितीय अध्याय। 'ऋग्वेद और नारी जाति', प० रामगोविन्द त्रिवेदी।

और भी देखिए—'कल्याण', नारी अंक, पृ० १०२, 'वैदिक साहित्य में नारी', रामगोविन्द त्रिवेदी, पृ० ३५५, ३५८, ३६२।

३ 'वैदिक साहित्य', पृ० १८५। 'कल्याण', नारी अंक, पृ० ३६१।

४ नारी को स्मृतियों में भी सम्पत्ति पर अधिकार दिए गए हैं एवं उसके प्रति आदर, सम्मान एवं सुरक्षा के भाव में न्यूनता नहीं दिखाई देती। उसकी स्वतंत्रता सीमित रखने के मूल में उसकी सुरक्षा का भाव ही जान पड़ता है (मनु० ९।५–७, ६) देखिए 'कल्याण', नारी अंक, पृ० १११, 'स्मृति ग्रन्थों में नारी', प० रामगोविन्द त्रिवेदी।

५ वही, 'हिन्दू संस्कृति में नारी का स्थान', श्री ताराचन्द पाण्डेय।

६ मीराबाई का जीवन इसका उदाहरण है

हृदय की वेदना किसने कितनी पहचानी कहा नहीं जा सकता। हाँ, कलि-काल के विषम शासन से त्रस्त विश्व की वेदना ने जब विश्व-हृदय तुलसी की वेदना का रूप धारण किया और विश्वनाथ की नगरी में वह उनके कण्ठ से फूटी तब विश्व ने पहचान लिया कि सचराचर रूप स्वामी का सच्चा भक्त शूद्र और नारी ही नहीं, प्राणिमात्र के प्रति कितना उदार और दयालु हो सकता है। इस सन्त ने असंख्य निरवलम्ब और पथभ्रान्त आत्माओं को भक्ति-चिंतामणि के प्रकाश मे सन्मार्ग के दर्शन कराए और उस पर अग्रसर होने के लिए उन्हे पथ-प्रदर्शक 'मानस' प्रदान कर दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह बृहत् समुदाय उस असहाय निरवलम्ब शूद्र वर्ग का था जो ब्राह्मण धर्म की कट्टरता की चपेट मे आकर, अंधकार के महागर्त में गिरने से बचने के लिए, 'डूबते को तिनके का सहारा' की दशा मे निर्गुण मत की डोर पकड़कर अपने स्थान पर जमकर उसका सामना करने के लिए लालायित हो रहा था। इस प्रकार नारी के साथ शूद्र को भी सहारा देने की आवश्यकता थी और इनकी अवज्ञा कर शेष का ही उद्धार करने से हिन्दू-जाति का उत्थान असंभव था। इसके लिए तुलसीदास ने तर्क-पद्धति को न अपनाकर भाव के व्यापक क्षेत्र में इनका स्वागत किया और कट्टर ब्राह्मणत्व के संकीर्ण-हृदय समर्थकों को यह समझा दिया कि वे इनका तिरस्कार कर अपनी ही हानि कर रहे है। नारी के प्रति उनके हृदय की पूज्य भावना का पूर्ण परिचय यहाँ मिला। शूद्र नारी को वह स्थान मिला जो शूद्र को भी प्राप्त नहीं हो सका।

ब्राह्मण और शूद्र का प्रश्न उस समय बड़ा जटिल हो रहा था। हिन्दू और मुसलमान दोनों की धार्मिक कट्टरता के समय रामानन्द द्वारा प्रचारित प्रपत्ति की भावना से लाभ उठाकर कबीर ने अपनी प्रखर प्रतिभाके बल पर नए पंथ की स्थापना करने मे सफलता प्राप्त कर ली थी। उनके द्वारा प्रवर्तित संतमत हिन्दू धर्म के सर्वेसर्वा बने हुए ब्राह्मण का पूर्णरूप से तिरस्कार करने पर तुला हुआ था और उसका प्रचार जोर पकड़ता जा रहा था, क्योंकि ब्राह्मणों द्वारा हेय दृष्टि से देखा जाने वाला शूद्र समाज संतमत के क्षेत्र मे ही सिर उठाकर देख सकता था कि उसे हो हर साधना से वंचित रखने में विप्रवर्ग का कितना बड़ा अन्याय है। परिणामस्वरूप शूद्र के हृदय में विप्र समुदाय के प्रति घृणा घर करती जा रही थी और वर्णाश्रम की नींव ही हिलने लगी थी। यदि समय पर गोस्वामी जी ने इसे सँभाला न होता तो कहा नहीं जा सकता कि इसका कितना भीषण दुष्परिणाम हो सकता था।

यह विषय स्वतंत्र रूप से विचार करने योग्य है। प्रस्तुत प्रसंग में इतना ही कहना पर्याप्त है कि संतमत मे ब्राह्मण की जो भर्त्सना हुई और वेदविद् ब्राह्मण के समकक्ष ब्रह्मज्ञानी होने का दावा निरक्षर शूद्र का भी किया गया[1] उसी के निराकरण के लिए गोस्वामी जी ने 'बिप्रपद पूजा' का माहात्म्य घोषित किया और 'बन्दौं प्रथम महीसुर चरना'[2] से लेकर काकभुशुंडि-गरुड संवाद तक ब्राह्मण के महत्त्व का गुणगान किया। साथ ही जगह-जगह ब्राह्मण की भर्त्सना भी की[3]। हिन्दू धर्म और संस्कृति के चरम उत्कर्ष के स्थल अयोध्याकांड मे कर्मकाण्ड के अधिष्ठाता देवतागणों की जी खोलकर भर्त्सना की गई और देवराज की बड़े कड़े शब्दों मे खबर ली गई[4]। इन्ही कारणो से उन्हे कहना पड़ा "बिप्रद्रोह जनु बाँट पर्‍यो"[5]। इन विरोधी उक्तियों का रहस्य इतना ही है कि हिन्दू धर्म के उन्नायक ये महाकवि एक ओर तो सतमत की भ्राति का निराकरण कर वर्णाश्रम धर्म की महत्ता प्रतिपादित कर हिन्दू जाति के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना चाहते थे; दूसरी ओर ब्राह्मणो को पतनोन्मुख देख, समय रहते उन्हे भी सचेत कर देना चाहते थे कि यदि अभी भी नही सँभले तो भविष्य मे धर्म की ग्लानि अवश्यम्भावी है। इस चेतावनी को खुले रूप मे देना शूद्रवर्ग की उस प्रतिक्रिया को पुष्ट करना था जो संतमत के प्रभाव का परिणाम थी। निदान, तुलसीदास ने विप्र और शूद्र दोनो की मर्यादा स्थापित कर दोनो को सचेत किया और रामचरित में शूद्र को महत्त्व प्रदान करते हुए उसे यह भी भली भाँति समझा दिया कि उसे विप्र-विरोध की भावना त्याग वर्णाश्रम धर्म का

---

१ इसके उदाहरण संत काव्य में भरे पड़े हैं। 'मानस' में भी अनेक स्थलों पर इसका संकेत है। उदाहरणार्थ—

"बादहिं शूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्हतें कछु घाटि।
जानै ब्रह्म सो बिप्रवर आँखि देखावहिं डाटि॥"

'मानस' उत्तर ९९।

२ वही, बाल०, ६. ३।

३ इसकी पराकाष्ठा कलि-वर्णन में है। देखिए—'मानस' उत्तर० ९७. २, ९९. ८।

४ वही, अयो० २१८ ७-२१९, २९२.७-२९५, ३०१.२.८।
और भी देखिए बाल० १२९. ७, ८; १३०।

५ 'विनय' पद १४२।

महत्त्व समझना चाहिए। सामाजिक व्यवस्था के लिए शूद्रवर्ग से विप्रवर्ग ऊँचा और हर स्थिति मे उसके आदर का अधिकारी है। हाँ, उसके दोष को उसी वर्ग के कर्णधार सँभालेंगे। शास्त्रो से अनभिज्ञ शूद्र को वेदशास्त्रविद् ब्राह्मण के क्षेत्र मे दखल देने का अधिकार नही हैं। संतमत वेदशास्त्र को ब्रह्मज्ञान के लिए आवश्यक नही मानता था। इसीलिए वेदमत के साथ तुलसीदास ने लोक-मत और संतमत को महत्त्व दिया। साथ ही प्रत्यक्ष दिखा दिया कि भले ही ब्राह्मण वेदाधिकारी और पूज्य हैं तथापि प्रेम के बल पर भक्ति के पावन क्षेत्र मे शूद्र भी वह पद प्राप्त कर सकता है जिसे वेदशास्त्री, कर्मकाण्डी एवं तपस्वी भी कठिनता से प्राप्त कर पाते है। भक्ति के इस सर्वसुलभ क्षेत्र को खुला देख शूद्र-सम्प्रदाय निर्गुण की 'अगुन मुकुति'[1] का लोभ त्याग कर इस ओर को क्यो न लपकता, जहाँ उसे सभी कुछ मिल रहा था और जिसके लिए ब्राह्मण का विरोध कर समाज में रोज की कटुता मोल लेने की आवश्यकता न थी। इस प्रकार युग का यह जटिल प्रश्न तुलसीदास ने बडी सरलता से सुलझाया। उनकी 'नय परमारथ स्वारथ सानी' वाणी ने शूद्र नारी के द्वारा केवल नारी ही नही शूद्र के लिए भी समाज के हृदय मे प्रतिष्ठा के लिए अवकाश कर दिया और

"रामसखा रिसि बरबस भेटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा[2] ॥"

के दर्शन ने उसे निषाद के दिव्य-प्रेम की अनुभूति मे लीन कर शूद्र के प्रति दीर्घकाल से पोषित घृणा विस्मृत करा दी। देववर्ग को उसे धन्य-धन्य कहते[3] देख ब्राह्मण भी उसके गुणगान मे गद्‌गद् हो धन्य-धन्य कह उठा। निषाद तुलसीदास की एक अद्वितीय देन है। शबरी और निषाद, दोनो की स्थिति भक्ति के क्षेत्र मे अप्रतिम और इस अर्थ मे सभी भक्तो से श्रेष्ठ है कि जो सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ वह कोई अन्य नही पा सका। सेवको पर कृपालु राम ने निषाद को सखा का पद दिया तथा शबरी को 'भामिनि' कहकर संबोधित किया और वह गति दी जो अन्य किसी नारी को प्राप्त नही हुई[4]।

---

१ "जिन्हके मन मगन भए हैं रस सगुन, तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कवन।" गीता०, अरण्य० ५। २ 'मानस', अयो० २४२. ६।

३ "धन्य-धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहि तेहिं बरिसहिं फूला॥"

वही, १९३. २।

४ "तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे॥"

वही_ अरण्य० २९. १५।

गोस्वामी जी की भक्ति दास्य भाव की है अत: सामाजिक दास को यह उच्चता उनके यहाँ मिलनी ही चाहिए और फिर इस दास में कुछ ऐसी विशेषता है कि धर्म-धुरीण, पुण्यश्लोक-शिरोमणि, रामप्रेम-मूर्ति भरत भी प्रेमविह्वल हो उसे हृदय से लगाने के लिए दौड़ पड़ते हैं।[1] राम, लक्ष्मण एवं भरत तीनों के द्वारा सम्मानित होने पर भी निषाद की निरभिमानता श्लाघनीय है। ब्राह्मण की बराबरी का दावा तो दूर रहा, वह स्वयं को शूद्र से भी ऊँचा नहीं समझता और शूद्र की मर्यादानुसार ही गुरु वशिष्ठ को प्रणाम करता है—

"प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दण्ड प्रनामू[2]॥"

आश्चर्य नहीं कि धर्माचार्य कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ उसे लक्ष्मण अथवा भरत से भी अधिक प्रेमातुर हो हृदय से लगा लेते हैं। ब्रह्मज्ञानी ऋषि और 'निपट-नीच' के मिलन की यह झाँकी अद्भुत और अपूर्व है[3]।

राम प्रेम की यही महिमा है[4]। प्रेमी शबरी और प्रेमी निषाद के स्वरूप में कुछ अन्तर है। निषाद की भक्ति अनोखी है। प्रेमार्त भरत अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की इच्छा का परित्याग करने पर भी राम-प्रेम की याचना का त्याग न कर सके[5]। प्रेम-विह्वल लक्ष्मण ने भी कीर्ति, सुगति, विभूति का त्याग कर दिया पर राम के संयोग-सुख का त्याग उनसे न बन पड़ा[6]। अन्यतम भक्त हनुमान् सब कुछ त्याग देने पर भी 'अनपायिनी' भक्ति की याचना कर ही बैठे[7]। परन्तु निषाद

---

१ 'मानस' अयो० १९२.७,८, १९३।

२ वही, अयो० २४२.५। ३ देखिए पीछे पृ० ७८।

४ "एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ वशिष्ठ सम को जग माहीं॥
जेहि लखि लषनहुँ ते अधिक मिले मुदित मुनिराउ॥
यह सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ॥"
'मानस', अयो०, २४२.८, २४३।

५ "अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥"
वही, २०४।

६ "धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही"।
वही, ७१.७।

७ वही, सुन्दर० ३३ १।

ने इनमें से किसी वस्तु की याचना कभी किसी से नहीं की। हाँ, प्रभु के चरणों में अपना राज्य और प्रभु के कार्य में अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए अवश्य तत्पर हो गया। प्रयाग से आगे कुछ दूर तक उनके साथ गया। लौटने की आज्ञा हुई, लौट आया। राम का कष्ट देख उसका हृदय विषाद से भर गया, पर उसने उनके साथ रहने का हठ नहीं किया। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद में कभी भी आर्त अथवा अधीर न होने वाले निषाद का संयम प्रशंसनीय है। जब सबकी दशा यह हो जाती है :—

"कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूछा[1] ॥"

तब—

"तेहि अवसर केवट धीरज धरि। जोरि पानि बिनवत प्रनामु करि[2] ॥"

अयोध्या में राज्याभिषेक के उपरान्त अतिथियों की बिदाई के अवसर पर भी निषाद सर्वाधिक धीर-गंभीर रूप में दृष्टिगत होता है। राम ने उसे सदा अपना स्मरण करते रहने एवं मन-वचन-कर्म से धर्मानुसरण करते रहने का उपदेश दिया और 'नीति-प्रीति-प्रतिपालक' प्रभु ने उसे 'भरत सम भ्राता' कह कर उसकी उस ग्लानि का शमन भी कर दिया जो पुण्यश्लोक भरत पर संदेह करने के कारण कभी उसके हृदय में हुई होगी[3]।

निषाद के चरित में चरितार्थ हो गया कि प्रभु के चरणों में पूर्ण आत्म-समर्पण ही भक्ति है। ऐसे भक्त में अपनी इच्छा शेष नहीं रहती। प्रभु की आज्ञा पालन ही अपना कर्तव्य और मन-वचन-कर्म से स्वधर्मानुसरण ही जीवन की सफलता प्रतीत होती है। कृपा-दृष्टि, प्रेम अथवा भक्ति का वरदान सब प्रभु की इच्छा पर छोड़ दिया जाता है। सर्वस्व-समर्पण के उपरान्त याचना के लिए अवकाश नहीं रह जाता। सच्चे निष्काम कर्मयोगी का जीवन ऐसा ही होता है और निषाद का जीवन इसका उदाहरण है। गीता में कहा गया है :—

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

१ 'मानस', अयो० २४१ ७।
२ वही, २४१.८।
३ वही, उत्तर० १६ ३।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्[1] ॥"

निषाद के जीवन मे यही चरितार्थ हुआ है। उसकी इस सफलता का कारण वह दिव्य राम-प्रेम है जो गूढ होने से प्रेम के सामान्य अनुभावो द्वारा सहज में प्रकट नही हो जाता। भरत और निषाद को साथ-साथ देख प्रतीत होता है कि भरत अनुराग की मूर्ति है तो निषाद विनय की[2]। भरत का अनुराग बिखरता चलता है[3] परन्तु निषाद मानो भरत का बिखरता हुआ अनुराग बटोर-बटोर कर हृदय में सँजोता है। उसका स्नेह किसी जीवन्मुक्त विदेह के स्नेह से कम गूढ नहीं है। विदेह का 'गूढ सनेह[4]' राम के दर्शन होने पर प्रकट हो गया, भरत के 'गूढ सनेह[5]' को भक्तो के हृदय मे अजस्र रस की वर्षा करने के लिए उदित होना पडा। निषाद का आलिंगन प्रभु ने किया, अनुराग से आप्लावित हो भरत ने किया, परन्तु एक अश्रु ने भी नेत्रों से निकल कर उस गूढ प्रेम को प्रत्यक्ष नही किया। बस, उसे देखा अन्तर्यामी ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने और आतुर हो समेट कर अंक में भर लिया।

साराश यह कि भक्ति के क्षेत्र मे शूद्र की स्थिति प्रत्यक्ष हो गई कि यहाँ उसे प्रत्येक वर्ग से सम्मान मिलता है। अब रही नारी और शूद्र नारी की स्थिति। सन्तो के यहाँ शूद्र को महत्त्व मिलने पर भी नारी की उपेक्षा ही रही। फलत: कंचन और कामिनी की निन्दा वहाँ बराबर होती रही[6]। गोस्वामी जी ने शूद्र नारी के चित्रण द्वारा एक तो नारी का अधिकार प्रत्यक्ष किया, दूसरे शूद्र नारी को शूद्र से भी ऊँचा पद प्रदान कर यह प्रमाणित कर दिया कि सत-मत के अनुयायी महान् साधक जिस पद के लिए योगसाधना कर कुंडलिनी

---

१ 'श्रीमद्भगवद्गीता' अध्याय १८,४५-४७।

२ 'मानस' अयो० १९९ २।

३ "जबहि राम कहि लेहिं उसासा। उमगत मनहुँ प्रेम चहुँ पासा ॥"

वही, २१९ ६।

४ "प्रनवौं परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ सनेहू ॥"
जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई ॥"

वही, बाल० २१.१.

५ "गूढ सनेह भरत मन माहीं" ॥

वही, अयो० २८२.४।

६ देखिए पीछे पृष्ठ ४।

जगाते, सिद्धि प्राप्त करते तथा ब्रह्म-साक्षात्कार कर परमपद के अधिकारी बनने का दावा करते हैं, वही पद एक अधम नारी केवल 'विप्र पद पूजा' और सगुण राम के प्रेम से प्राप्त कर सकती है। उसे न वेद-शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता है—उनकी उपेक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता—और न किसी रहस्यमयी साधना अथवा अजपाजाप की ही। आवश्यकता है केवल प्रेम की। फलस्वरूप मिलती है योगसिद्धि और संतों का परम प्राप्य वह पद, जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता[१]। ऐसी प्रेम-साधना वाली नारी राम के द्वारा 'भामिनि' के संबोधन का सौभाग्य भी प्राप्त करती है। तात्पर्य यह कि सगुण राम के प्रेम द्वारा ही नारी सन्तो का परम लक्ष्य प्राप्त कर सकती है। 'मानस' की शबरी इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

गोस्वामी जी की यह विचार-धारा हृदयंगम करने के लिए वाल्मीकीय एवं अध्यात्म रामायण मे चित्रित शबरी के आख्यान से 'मानस' के आख्यान की तुलना अपेक्षित है। 'वाल्मीकीय रामायण[२]' की कथा मे कबन्ध को शापमुक्त कर उससे राम ने जानकी का पता पूछा। उसने उन्हे सुग्रीव से मित्रता करने का परामर्श दिया। इसके लिए मार्ग आदि का वर्णन करते हुए मतंग ऋषि के अनुपम आश्रम के साथ ही शबरी का परिचय भी दिया। उसने कहा कि अद्भुत आश्रम के निवासी मतंग ऋषि तथा उनके शिष्यो की सेवा करने वाली, सदा धर्मानुष्ठान मे निरत, सिद्धा तपस्विनी शबरी चिरजीविनी होकर वहाँ रहती है। आपके दर्शन कर वह स्वर्गलोक चली जाएगी[३]। राम-लक्ष्मण निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हुए शबरी के आश्रम पर पहुँच कर उससे मिले। उसके सम्बन्ध में कहा गया कि वह सिद्धा तपस्विनी थी। वह धर्मपरायण श्रमणी नित्य तप में निरत तथा सिद्धो द्वारा सम्मानित भी थी। राम ने अति आदरपूर्वक उसे 'तपोधने' की संज्ञा से सम्बोधित कर उससे तप और

---

१ 'मानस', अरण्य० २८.४०, २९.७।

२ सम्पूर्ण प्रसंग अरण्य कांड के ७४ वें सर्ग में ३५ श्लोकों में वर्णित है।

३ "तेषां गतानामद्यापि दृश्यते परिचारिणी।
श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी॥२६॥
त्वां तु धर्मे स्थिता नित्यं सर्वभूतनमस्कृतम्।
दृष्ट्वा देवोपमं रामं स्वर्गलोकं गमिष्यति॥"२७॥

'वाल्मीकि० रा०' अर०, सर्ग ७३

साधना सम्बन्धी कुशल-क्षेम पूछा[1]। उसके सम्बन्ध में यह भी कहा गया कि वह वर्णबाह्य होने पर भी विज्ञान से बहिष्कृत नहीं थी[2]। उसने राम से अपना पूर्व वृत्तान्त बतलाया और कहा कि जब आप चित्रकूट पर्वत पर थे तब मेरे गुरुजन दिव्यलोक को सिधारे और मुझसे कह गए थे कि श्रीराम का आतिथ्य कर चुकने पर तू भी अक्षय लोकों में जाएगी। राम के आग्रह पर उसने उन्हें उस समस्त आश्रम का पर्यटन कराया, वहाँ की विलक्षणताएँ बतलाईं और कहा कि अब मैं आपकी आज्ञा से अपनी देह का परित्याग कर उन्हीं महर्षियों के समीप जाना चाहती हूँ। सब देख-सुन कर राम के मुख से निकल पड़ा 'आश्चर्य' है और उन्होंने कठोर व्रत पालन करने वाली शबरी से कहा कि तुमने मेरा बड़ा सत्कार किया। अब तुम अपनी इच्छा के अनुसार आनन्दपूर्वक अपने अभीष्ट लोक की यात्रा करो। उनकी आज्ञा पा अपने को अग्नि में होमकर शबरी ने दिव्य शरीर प्राप्त किया और वह बिजली के समान उस प्रदेश को प्रकाशित करती हुई आत्मसमाधि में स्थित हो उस पुण्यधाम को गई जहाँ वे पुण्यात्मा ऋषि विहार करते थे।

'अध्यात्म रामायण' के अनुसार प्रभु द्वारा उद्धार किये जाने पर कबन्ध ने उनसे कहा कि सामने वाले आश्रम में शबरी रहती है जो आपके चरणकमलों में अति अनुराग रखने के कारण भक्तिमार्ग में कुशल है[3]। वह आपसे सीता जी के सम्बन्ध में सब बातें बता देगी। तदनन्तर भगवान् शबरी के आश्रम पर पहुँचे। भगवान् को आया देख उसके नेत्रों में आनन्दाश्रु भर आए और वह प्रभु के चरणों में गिर पड़ी। उनका स्वागत कर कुशल-प्रश्नादि के अनन्तर उन्हें सुन्दर आसन पर बैठाया। भक्तिपूर्वक उनके चरण धोकर

---

१ "तौ दृष्ट्वा तु तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः।
तामुवाच ततो रामः श्रमणीं धर्मसंस्थिताम् ॥
कच्चित्ते निर्जिताः विघ्नाः कच्चित्ते वर्धते तपः।
कच्चित्ते नियतः कोपः आहारश्च तपोधने ॥
रामेण तापसी पृष्टा सा सिद्धा सिद्धसम्मता ॥"

'वा० रा०' अर० ७४. ६-१०।

२ "राघवः प्राह विज्ञाने तां नित्यमबहिष्कृताम्"

वही, ७४. १६।

३ "भक्त्या त्वत्पादकमले भक्तिमार्गविशारदा।"।

अध्यात्म रा० अरण्य १० २

चरणोदक अपने ऊपर छिड़ककर श्रद्धायुक्त हो अर्घ्यादि विविध सामग्री से राम-लक्ष्मण का विधिवत् पूजन करके अमृत तुल्य फल लाकर उन्हें समर्पित किए। आतिथ्य सत्कार हो चुकने पर भगवान् से उसने अपना वृत्तान्त बतलाया कि मेरे गुरु महर्षि मतंग उस आश्रम में थे। उनकी सेवा-शुश्रूषा करती हुई मैं हजारों वर्षों से वहाँ रह रही हूँ। गुरु ब्रह्मलोक जाते समय मुझसे कह गए थे कि भगवान् ने राम रूप से अवतार लिया है और इस समय वे चित्रकूट में हैं। जब तक वे आवें तू अपने शरीर का पालन कर। रघुनाथ जी के आने पर उनका दर्शन करते हुए इस शरीर को जलाकर तू परमधाम चली जाएगी। शबरी ने कहा 'हे राम! गुरु के कथनानुसार मैं आपके आने की बाट देख रही थी।' उसने भगवान् की स्तुति करते हुए निवेदन किया कि मैं नीच जाति में उत्पन्न हुई एक गँवार नारी हूँ[1]। आप तो मन और वाणी के विषय नहीं हैं फिर आपकी स्तुति कैसे करूँ? अतः आप स्वयं ही मुझ पर प्रसन्न होइए[2]।

भगवान् ने उसे आश्वासन दिया कि स्त्री-पुरुष का भेद अथवा जाति, नाम और आश्रम मेरे भजन के कारण नहीं हैं, उसका कारण केवल भक्ति है और उन्होंने शबरी से भक्ति के नौ साधनों का वर्णन किया। अन्त में यही कहा कि जिस किसी में ये साधन होते हैं वह पुरुष-स्त्री, पशु-पक्षी कोई ही क्यों न हो उसमें प्रेमलक्षणा भक्ति का आविर्भाव होता है और भक्ति उत्पन्न होने मात्र से प्रभु के स्वरूप का अनुभव होता और तब इसी जन्म में मुक्ति हो जाती है। अत मोक्ष का कारण भक्ति ही है। जिसमें पहला साधन 'सत्संग' होता है उसमें क्रमशः शेष भी आ जाते हैं। प्रभु ने शबरी से कहा कि तू मेरी भक्ति से युक्त है इसलिए मैं तेरे पास आया हूँ। मेरे दर्शन से तेरी मुक्ति हो जाएगी। यदि तुझे पता हो तो बता इस समय सीता कहाँ है? शबरी ने उत्तर दिया कि आप सभी कुछ जानते हैं तथापि लोकाचार का अनुसरण करते हुए पूछते हैं तो मैं बतलाती हूँ कि सीता को रावण हर ले गया है और इस समय वे लंका में हैं। तत्पश्चात् शबरी ने

---

१ "योषिन्मूढाप्रमेयात्मन् हीनजातिसमुद्भवा"

अध्यात्म रा०, अर० १०.१७।

२ "कथं रामाद्य मे दृष्टस्त्वं मनोवागगोचरः।
स्तोतुं न जाने देवेश किं करोमि प्रसीद मे॥"

वही, अर० १०.११

सुग्रीव का परिचय देकर बतलाया कि उससे आप मित्रता करें तो आपका कार्य सिद्ध होगा। अन्त में उसने कहा कि मैं आपके सामने ही अग्नि में प्रवेश करूँगी। जबतक मैं विष्णु भगवान् के धाम जाऊँ आप यही ठहरिए। उसके बाद शबरी ने अग्निमे प्रविष्ट हो एक क्षण में मोक्ष प्राप्त किया[1]।

'मानस' में कबन्ध शबरी की चर्चा नहीं करता। उसका उद्धार करने और उसे विप्रपूजा का उपदेश देने के पश्चात् राम स्वयं ही सीधे उसके आश्रम में पहुँचते हैं। उनके दर्शन कर उसकी दशा यह होती है'—

"स्याम गौर सुन्दर द्वौ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥
प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिरु नावा[2]॥"

कुछ सँभल कर वह प्रभु के आतिथ्य का प्रयत्न करती है—

"सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुन्दर आसन बैठारे॥
कन्द मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारम्बार बखानि॥
पानि जोरि आगे भइ ठाढी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी॥
केहि विधि अस्तुति करउँ तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़ मति भारी॥
अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महुँ मैं मतिमन्द अघारी[3]॥"

इतना कहकर वह मौन है। तब—

"कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानौ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बडाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहै कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा[4]॥"

तदनन्तर 'नवधा भक्ति'[5] का उपदेश देकर राम कहते हैं:—

"नव महुँ एकौ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ तोरे॥
जोगि वृन्द दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भई सोई॥

---

१ यह कथा 'अध्यात्म रामायण' के अरण्यकाण्ड के दसवें सर्ग के चवालीस श्लोकोंमें कही गई है।

२ 'मानस' अरण्य० २७. ८, ६।

३ वही, २७. १०-२८. ३।

४ वही, २८ ४ ६

५ वही, २८-८ २६ १ ६

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥
जनक सुता कइ सुधि भामिनी। जानहि कहु करिवरगामिनी[1]॥"

शबरी का उत्तर है :—

"पंपा सरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥
सो सब कहिहि देव रघुबीरा। जानत हू पूछहु मति धीरा[2]॥"

वह राम को बारम्बार प्रणाम कर प्रेम-सहित अपनी कथा सुनाती है और तब उनके दर्शन करते हुए उनके चरण-कमलो को हृदय मे धारण कर, योगाग्नि मे शरीर भस्मकर उस ब्रह्मपद मे लीन होती है जहाँ से पुनरागमन नहीं होता।[3]

शबरी के आख्यान के उक्त तीनो रूपों की तुलना करने पर निम्नांकित बातें प्रत्यक्ष हो जाती हैं :—

(१) प्रथम दोनों आख्यानो मे कबन्ध शबरी का परिचय देता और राम से उसके आश्रम मे पधारने का आग्रह करता है। 'अध्यात्म रामायण' मे तो यह भी बतला देता है कि उसके द्वारा जानकी का पता मिलेगा। 'वाल्मीकीय रामायण' मे यह तो नही कहता पर इतना बतला देता है कि शबरी महर्षियो के लोक को प्रस्थान करने वाली है, बस केवल उनके आतिथ्य के लिए ही रुकी हुई है। परन्तु 'मानस' मे कबन्ध द्वारा शबरी का नाम भी न लिए जाने पर राम स्वतः ही उसके आश्रम में पधारते हैं मानो यह उनका पूर्व निश्चित कार्य-क्रम हो। जैसे उन्होंने वाल्मीकि, भारद्वाज, शरभग, सुतीक्ष्ण, अत्रि, अगस्त्य आदि महर्षियो को दर्शन देकर कृतार्थ किया वैसे ही शबरी को भी। उसके यहाँ प्रभु प्रेम के कारण ही जाते और उसका उद्धार करते है।

(२) तीनों आख्यानों में शबरी का व्यक्तित्व भी भिन्न है। प्रथम मे वह सिद्धा तपस्विनी, सिद्धों द्वारा सम्मानित, धर्मानुष्ठान मे निरत, विज्ञान मे गति रखने वाली एवं विधिवत् तपस्या करनेवाली है। वह दीर्घकाल तक मतंग ऋषि तथा उनके शिष्यवर्ग ऋषियो की सेवा करती है। राम से उसका वार्तालाप किसी विदुषी के अनुरूप ही है।

---

१ 'मानस', २४, ६-१०।
२ वही, २६. ११, १२।
३ वही, २६. छन्द

द्वितीय आख्यान मे वह सिद्धातपस्विनी तो नही, पर 'भक्ति विशारदा' अवश्य है। हजारो वर्षो तक मतग की सेवा मे रहने वाली शबरी भक्ति के विधिविधान मे पारंगत है जैसा कि उसके द्वारा किए गए विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार से ज्ञात हो जाता है। उसके द्वारा की गई स्तुति उसकी तत्त्वज्ञता का प्रमाण है।

'मानस' की शबरी में उक्त विशेषताएँ दृष्टिगोचर नही होतीं। वह विज्ञान-शीला, सिद्धा, भक्ति-विशारदा आदि कुछ भी नहीं है। वह तो प्रेम को ही सर्वस्व समझने वाली प्रभु की भक्त गँवार शबरी है जो मुनि के संकेतानुसार उनकी प्रतीक्षा कर रही है और उन्हे अपनी कुटिया में पधारते देख चरणों मे लिपट पडती है। प्रेमातिरेक से वाणी अवरुद्ध हो जाती है। इस अवस्था मे विधिवत् सत्कार का ध्यान रहना संभव नही, वह उसे आता भी नही है। बस :—

"प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिरु नावा॥"

वह तो चरणो मे लोटने के सिवा कुछ जानती ही नही।

'मानस' मे प्रसंग अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु सारगर्भ है। उसकी साधना का कोई परिचय नही है। शबरी को गोस्वामी जी अन्यत्र भी इस रूप में चित्रित करते है :—

"नाम लिये पूत को पुनीत कियो पातकीस,
आरति निवारि प्रभु पाहि कहे पील की।
छलिन की छोंड़ी सी निगोड़ी छोटी जाति पाँति-
कीन्ही लीन आपु में सुनारी भोंड़े भील की॥"[3]

छलियों की लड़की, निकम्मी और असभ्य इस भीलनी का रूप 'विनय-पत्रिका' में भी दर्शनीय है :—

"श्रीरघुबीर की यह बानि।
नीच हूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि॥
× × ×

१ 'जाति हीन अघ जन्म' और 'अधमतें अधम अधम अति' ही उसका परिचय है।

२ 'मानस' अर० २७६।

३ 'कवित्ता०' उत्तर० १८।

"प्रकृत-मलिन कुजाति सबरी सकल अवगुन-खानि।
खात ताके दिए फल अति रुचि बखानि बखानि[1]॥"

तात्पर्य यह कि 'शबरी स्वभाव से ही मैली-कुचैली थी, नीच जाति की थी और सभी दोषों की खानि थी। एक भी सद्गुण उसमें न था[2]।" उसे तो अन्यत्र भी 'अघ अवगुनन्हि की कोठरी' कहा गया है[3]।

(३) तीनों आख्यानों में शबरी के शरीरान्त और उसकी गति में भी अन्तर है। प्रथम दोनों में उसके अग्नि में शरीर होम देने का उल्लेख है परन्तु 'मानस' में योगाग्नि में भस्म होने का। प्रथम में वह महर्षि-लोक को प्रस्थान करती है तो द्वितीय में विष्णु-लोक को। वहाँ उसकी यह गति भी पूर्वनिश्चित है, राम द्वारा प्रदत्त नहीं। 'मानस' में उसे 'जोगिवृन्द दुर्लभ गति' अर्थात् 'सहज सरूप' की प्राप्ति राम के दर्शन के फलस्वरूप ही मिलती है।

(४) पूर्व आख्यानों में कबन्ध के कथनानुसार शबरी को जानकी का पता पहले से ज्ञात है। 'मानस' का संकेत है कि प्रभु के दर्शन के फलस्वरूप योगि-वृन्द-दुर्लभ गति के साथ ही योगिवृन्द-सुलभ सिद्धि भी प्राप्त होने के कारण उसे जानकी का पता तत्काल अवगत हो जाता है।

तीनों आख्यानों की इस संक्षिप्त तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि शबरी को तुलसीदास विशिष्ट रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं। प्रथम आख्यान में उसे अपनी तपस्या और साधना के कारण राम से अत्यधिक सम्मान प्राप्त होता है। द्वितीय में उसके भक्ति-विशारदा होने के कारण राम के द्वारा नवधा भक्ति का उपदेश मिलता है, और प्रत्यक्ष कर दिया जाता है कि भक्ति से भगवान् के दर्शन और उससे मुक्ति मिलती है। 'मानस' की शबरी तो लोक-वेद से बाहर, जाति हीन और जड़मति है। अतः उसे जो कुछ भी प्राप्त होता है, केवल भग-वान् के प्रेम और उसके फलस्वरूप उनका नाम स्मरण करते रहने से ही। बस इतने ही पर रीझ कर राम उसे 'भामिनि' कहकर सम्बोधित करते और नवधा भक्ति का उपदेश देते हैं। इतना ही नहीं, वे उससे कहते हैं कि तुझमें सभी प्रकार से भक्ति दृढ़ है। लोक-वेद से बाहर अधमाधम नारी शबरी में 'सकल

---

१ 'विनय' पद, २१५।

२ 'विनय पत्रिका' की वियोगी हरि कृत टीका पद—२१५।

३ 'गीता०', अरण्य० १७ ७।

प्रकार'[1] की भक्ति दृढ है जिसके कारण उसे प्रभु की कृपा प्राप्त हो गई, इसका सीधा अर्थ यही है कि समस्त साधनो से विहीन होने पर भी निश्छल और सच्चा प्रेम ही 'सकल-प्रकार' दृढ भक्ति का समकक्ष हो सकता है। जिसमे ऐसा प्रेम है, समझना चाहिए कि सभी प्रकार से उसकी भक्ति परिपक्वता या दृढता प्राप्त कर चुकी है[1]। 'विनय-पत्रिका' में स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रीति-प्रतिपालक प्रभु ने शबरी का प्रेम पहचान कर ही उसे दर्शन देकर उसका उद्धार किया। द्रष्टव्य है—

> "ऐसे राम दीन हितकारी।
> अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी।
>
> \+ + +
>
> अधम जाति सबरी जोषित जड़ लोक-बेद तें न्यारी।
> जानि प्रीति, दै दरस कृपानिधि सोउ रघुनाथ उधारी[2] ॥"

'अधम जाति', 'जोषित जड़' की साधना क्या थी कि वह 'अघ अवगुनन्हि की कोठरी' 'सुकृतसील' हो गई यह भी बतला दिया गया है :—

> "प्रिय राम नाम ते जाहि न रामो।
> ताको भलो कठिन कलिकालहु आदि मध्य परिनामो ॥
>
> \+ + +
>
> नाम प्रभाउ सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो।
> जो सुनि सुमिरि भाग-भाजन भइ सुकृतसील भील-भामो[3] ॥"

राम-नाम से प्रभु की कृपा शबरी को मिली इसमें आश्चर्य क्यो हो, जब कि राम-नाम के प्रताप से शिला में भी कमल खिल सकता है।

---

१ यदि ऐसा न होता तो गँवार गोपियाँ ब्रह्मज्ञानी उद्धव को 'षटदरसी' नहीं दिखाई पड़ती। देखिए 'भ्रमरगीत' में उद्धव की ग्लानि—'सूर सकल ब्रज षटदरषी हौं बारहखड़ी पढ़ाऊँ'।

'भ्रमरगीत-सार', पद ४८६।

२ 'विनय', पद १६६।

३ वही पद २८२

राम के प्रेम की यह अद्भुत लीला देखकर तुलसीदास इस प्रसंग में मन के पहले नर-समाज को सचेत ही नही करते उसमे आग्रह भी करते है:—

"नर विविध कर्म अधर्म बहुमत सोकप्रद सब त्यागहू ।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू[1] ॥"

और तब अपने मन को समझाते है :—

"जाति हीन अघ जनम महि मुक्त कीन्हि असि नारि।
महामंद मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि[2] ॥"

द्रष्टव्य है कि यहाँ कवि ने मानव-समाज को सम्बोधित किया है। 'मानस' का चतुर्थ श्रोता उसका मन ही है जिसे वह समय-समय पर समझाता और सचेत करता रहा है। यहाँ कवि मन के साथ मानव-समाज को भी यह भली भाँति हृदयगम करा देना चाहता है कि भक्ति-विहीन नाना कर्म अधर्मस्वरूप हो जाते है, अर्थात् कर्मकाण्ड की यह दशा है और जो बहुमत (अर्थात् ज्ञान योगादि सम्बन्धी नाना मत) है वे सब वादग्रस्त होने से शोकप्रद है। अतः कर्म-काण्ड अथवा नाना पन्थो के चक्कर का त्याग ही श्रेयस्कर है। इन्हे छोड, सीधे भगवान् से अनुराग करने से, उक्त सभी साधनो का परम साध्य—दुर्लभ कैवल्य परमपद—प्रभु की कृपा से अनायास ही सुलभ हो जाता है। जब शबरी सदृश नारी ने उसे प्राप्त कर लिया तो कोई कारण नही कि किसी भी व्यक्ति के लिए वह सम्भव न हो।

शबरी के 'जाति हीन' विशेषण के साथ 'अघ जनम महि' का मर्म भी समझ लेना है। 'जनम मुकुति महि' के समान ही इसका सीधा अर्थ है पापयोनि अथवा पापों की जन्मभूमि। शबर जाति में जन्म ग्रहण करने से तुच्छ जन्म अथवा पापयोनि है ही। 'अघ जनम महि' का एक संकेत और भी है—पापो के उदय होने पर पृथ्वी मे होने वाला जन्म। ऐसा जन्म शूद्र जाति मे स्त्री का जन्म ही हो सकता है, जिसे कट्टर हिन्दूधर्म में परित्राण के लिए कही भी स्थान नही मिल रहा था। अतः गोस्वामी जी अपने मन को समझा रहे है कि 'हे मतिमन्द ! देख शास्त्रानुकूल साधनाओं से रहित, पापयोनि होने से सद्गति के अधिकार से वंचित नारी को जिस प्रभु की कृपा से ब्रह्मपद प्राप्त हो गया, उसकी शरण मे गए बिना तुझे सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? यदि ऐसे प्रभु

---

१ 'मानस' अर० २६ छन्द ।
२ वही, ३०

का स्मरण नही किया, जो 'जाति पाँति कुलधर्म बड़ाई' तथा ज्ञान, योगादि की साधनाओ को एक ओर रख, केवल प्रेम के नाते भक्त को अपनाते है तो सुख प्राप्ति असम्भव है। विश्वात्मा तुलसीदास का अंतःकरण तो राम के अखिल लोक कल्याणकारी रूप के प्रकट होने पर ही सुखी हो सकता था। यदि उच्चकुल और उच्चवर्ग के धर्मात्मा और साधक, ज्ञानी और योगी ही उनकी कृपा प्राप्त कर परमानन्द लाभ करते रहें और नीच जाति, नीच कुल, मन्दबुद्धि साधन-हीन पतित प्राणी यातना भोगते रहें तो सत-हृदय को विश्राम कहाँ ? उन्हे तो दीनानाथ, अशरण-शरण प्रभु की कृपा के लवलेश ही से 'परम विश्राम' मिल सका जिसका उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है :—

"सुन्दर सुजान कृपानिधान अनाथ पर कर प्रीति जो।
सो एक राम अकाम हित निर्वान प्रद सम आन को।
जाकी कृपा लवलेस तें मतिमन्द तुलसीदास हूँ।
पायो परम विश्राम राम समान प्रभु नाही कहूँ[1] ।।"

राम के इस स्वरूप का स्वभाव विलक्षण है :—

"एक बानि करुना निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की[2]।।"

इस रूप के जो दर्शन शबरी के प्रसग में हुए वे अन्यत्र नही। 'छलिन की छोडी निगोडी' 'छोटी जाति पाँति' वाली, 'भोंडे भील की नारी' की हीनता जितनी अधिक है उतनी ही राम की महानता भी। शबरी की प्रणति और कृपालु प्रभु की प्रकृति दोनो ही में कुछ ऐसी विलक्षणता है कि इस सरस प्रसंग को गाते समय तुलसी का हृदय आनन्दमग्न हो गया है और वे इस प्रसग की फल-श्रुति भी गा उठे है[3] :—

"तुलसी भनिति, सबरी प्रनति, रघुबर प्रकृति करुनामई।
गावत सुनत, समुझत भगति हिय होय प्रभु पद नित नई[4] ।।"

---

१ 'मानस', उत्तर०, अन्तिम छन्द।

२ वही, अरण्य० ३·८।

३ 'रामचरित-मानस' में भगवान् के चरित की फलश्रुति अनेक स्थानों पर है। भक्तों में यदि किसी के चरित की फलश्रुति है तो भरत-चरित की। इनके अतिरिक्त केवल शबरी की प्रणति की यह फलश्रुति 'गीतावली' में है।

४ 'गीतावली, अरण्य १७

शबरी की प्रणति और रघुबर की करुणामय 'बानि' का जितना ही गान किया जाए, सुना जाए और उसे जितना ही समझा जाए उतना ही हृदय में नित्य नूतन भक्ति का प्रादुर्भाव होता रहेगा। 'भरत-चरित' की भी फल-श्रुति कही गई है :—

"भरत चरित करि नेम तुलसी जे गावहिं सुनहिं।
सीय राम पद प्रेम अवसि होइ भव रस बिरति[1] ॥"

दोनो का अन्तर विचारणीय है। भरत के चरित को सुनना ही पर्याप्त है पर शबरी-उद्धार के चरित को समझना भी है। भरत का चरित भवरस से विरक्ति और राम-प्रेम का उद्बोधक है तो शबरी का आत्मसमर्पण पूर्ण प्रेम नित्य नूतन भक्ति प्रदान करने वाला है। कारण वह प्रेम ही 'सकल प्रकार दृढ भक्ति' का प्रदायक है। इस प्रकार शबरी की प्रेम-साधना उस युग के मुक्ति-प्रेमी भक्तो को आदर्श रूप में ग्राह्य हो सकती थी। उसमे बतला दिया गया था कि साधन और कुछ नही, यदि कुछ है तो 'विप्रपद पूजा' मात्र है। कारण, गुरु ने ही शबरी को राम के सम्बन्ध मे बतलाया था। वह यदि मतंग की सेवा न करती तो राम-लक्ष्मण के आगमन पर वह बुद्धिहीन उन्हे पहचानती कैसे? वस्तुत गुरु वचनों के सहारे ही उसने उन्हे पहचाना[2]। इसे विप्रपद-पूजा का ही प्रताप समझना चाहिए कि विप्र की कृपा से प्रभु का पता मिला और प्रभु की कृपा से कैवल्य परमपद। 'जोगि वृन्द दुर्लभ गति' का अधिकारी हो जाने पर योग-सुलभ सिद्धि का प्राप्त होना स्वाभाविक रूप से अवश्यम्भावी है। उसी के फलस्वरूप शबरी सुग्रीव से मित्रता आदि की भविष्यवाणी कर सकी। सीता का पता पूछने पर वह राम को जो उत्तर देती है उसका यही सकेत है। 'जोगिवृन्द दुर्लभ गति' और सहजस्वरूप की प्राप्ति का वरदान दे चुकने पर राम उससे कहते है कि हे भामिनी! हे करिवर-गामिनी! जनक सुता का समाचार बतलाओ। यह नही कहते कि यदि ज्ञात हो तो बतलाओ, जैसा 'अध्यात्म रामायण' मे पूछते है[3]।

---

१ 'मानस' अयो० ३२६।

२ "शबरी देखि राम गृह आए। मुनि के बचन समझि जिय भाए॥"
वही, अरण्य० २७ ७।

३ 'अध्यात्म रामायण' अरण्य० १० २२ ३२

'मानस' में शबरी के संक्षिप्त उत्तर[1] का संकेत यही है कि आप धीरमति होते हुए और अपनी लीला का कार्यक्रम जानते हुए भी जो पूछ रहे है, उसका कारण मैं समझ गई। आपकी कृपा से सहज-स्वरूप का बोध हो जाने पर आपकी लीला का रहस्य जानने मे क्या देर लग सकती है ? मुझे ज्ञात हो गया कि ललित-नर-लीला के अन्तर्गत अब सुग्रीव-मिताई, सीता की खोज और रावण-वध का समय आ रहा है। उसके अनुसार आपको सुग्रीव द्वारा ही शेष ज्ञातव्य जानना उचित है। यदि मैं ही सब बतला दूँगी तो 'सुग्रीव मिताई' की लीला का प्रयोजन पूरा होने में किंचित् त्रुटि हो जाएगी। आपको तो वहाँ उसी प्रकार नितात अनभिज्ञ बनकर ही पूछना है जैसे जटायु द्वारा सब वृत्तान्त जानने के बाद भी मुझसे पूछ रहे हैं। यहाँ शबरी की योगसिद्धि का प्रमाण मिल गया जिसके द्वारा उसे भूत और भविष्य दोनों का ज्ञान हो गया है। प्रश्न उठता है कि परम्परा प्राप्त आख्यान के अनुसार शबरी के महर्षिलोक अथवा विष्णुलोक प्राप्त करने का उल्लेख न कर गोस्वामी जी उसे 'ब्रह्मपद' क्यों दिलवाते है ? सर्वत्र तो वे बार-बार सगुणोपासकों द्वारा इस मुक्ति की उपेक्षा ही करवाते रहे हैं। राम के दर्शन करने वाले मृगो से लेकर योगाग्नि मे शरीर भस्म करनेवाले शरभंग तक को सगुणोपासकों ही का प्राप्य किसी न किसी रूप मे मिलता रहा है फिर प्रेम-विभोर शबरी को ही 'अगुन मुकुति'[2] का वरदान किस लिए ?

इसका कारण विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है। जिस युग मे अछूत को निकालकर भगवान् का द्वार बन्द कर लिया जाता था उसी युग मे युगप्रवर्तक संत तुलसीदास ने शूद्रनारी को उसी स्थान का अधिकारी बतलाया जिसे कट्टर धर्मावलम्बी तपस्वियों, ज्ञानियों एवं धर्मध्वजियों के लिए ही सुरक्षित समझते थे, तो आश्चर्य क्या ? राम के प्रति सहज प्रेम को समस्त साधनो से श्रेष्ठ मानने के कारण वे उनसे उसी की याचना करते है :—

---

१ "पंपासरहि जाहु रघुराई।
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥
सो सब कहिहि देव रघुबीरा।
जानत हू पूछहु मति धीरा॥ 'मानस,' अर० १६ ११, १२।

२ "जिन्हके मन मगन भए हैं रस सगुन तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कवनि" गीता० अरण्य ५

"राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को।
सुख जीवन ज्यों जीव को, मनि ज्यों फनि को,
हित ज्यों धन लोभ लीन को।
ज्यों सुभाव प्रिय लागति नागरी नागर नवीन को[1] ॥"

हमे भूलना न चाहिए कि उस युग के सन्तमत में जाति-पाँति की अवहेलना और 'हरि को भजै सो हरि को होई' का ही जोर था। यह हरि केशव, राम, गोविन्द, मुरारी आदि नामों से पुकारा जाने पर भी अवतारों से भिन्न बतलाया जाता था।[2] पंडितों को चुनौती दी जाती थी कि जिस ब्रह्म को तुम वेदशास्त्र में ढूँढते हो उसे हमने इसी शरीर में प्राप्त कर लिया है। 'प्रेम पियाला' पीकर जब 'सोवत नागिन' जाग उठती है[3] तभी 'गगन गुफा' में अजस्र रस की वर्षा होती है जो साधक को 'दस दिसि दमकै दामिनी भीजै दास कबीर' की दशा मे परम प्रियतम का साक्षात्कार कराकर उन्मत्त बना देती है। यही वह अवस्था है जब 'सुन्दरी' को 'सीस' में ब्रह्म की झलक मिलती है।[4] अब इसकी तुलना शबरी से कीजिए और देखिए कि दोनो मे क्या अन्तर है। शबरी को किसी कनफटे योगी से 'सोवत नागिन' जगाने की प्रक्रिया सीखने नहीं जाना पड़ा और न किसी सूफी साधक से उस 'प्रेम पियाला' की प्राप्ति के लिए दीक्षा लेनी पड़ी जो मदिरा का समकक्ष बन, उन्मत्त बना दे।[5] उसके चरित से यह चरितार्थ हो गया कि इन सबके स्थान पर यदि 'दशरथ सुत' राम से निश्छल प्रेम किया जाए

---

१ "विनय" पद २६९।

'मानस' के अन्त में भी उनकी यही याचना है :—
"कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥"

२ देखिए पीछे पृष्ठ २।

३ "प्रेम पियाले पीवन लागै, सोवत नागिनि जागी।"
कबीर ग्रं० पृ० १११, पद ७४।

४ "तब सुख पावै सुन्दरी ब्रह्म झलक्कै सीस।"
क० ग्रं० 'मन कौ अंग' पृ० २९।

५ "हरि रस पीया जाणिये जे कबहुँ न जाइ खुमार।
मैमता घूमत रहै नाहीं तन की सार।"
वही 'रस कौ अंग' पृ० १६।

और श्रद्धापूर्वक विप्रपदपूजा की जाए तो भी उसी पद की प्राप्ति हो सकती है जिसे निर्गुण भक्तो के शिरोमणि कबीर ने परम प्राप्य ठहराया था और जिसका अभिमान (सात्त्विक ही सही) उन्हे बारबार पंडितों को चुनौती देने के लिए बाध्य कर दिया करता था। शबरी ने शुद्ध प्रेम के बलपर ही 'दशरथ सुत' को और उनकी कृपा से ब्रह्मपद की प्राप्ति की। उन्ही को कृपा से हुई उसे योगसिद्धि की प्राप्ति भी। हाँ, इसका उपयोग कर, ससार को चमत्कृत करने के लिए जीवित रहने की उसने आवश्यकता नहीं समझी। इस प्रकार वह किसी भी निर्गुणिये सत से एक कदम आगे बढ़ गई क्योंकि उसने उनके द्वारा निर्दिष्ट किसी प्रकार की साधना के बिना ही सभी कुछ प्राप्त कर लिया।

शबरी के प्रसंग में करुणाकर प्रभु ने जो कृपा, भक्तवत्सलता और मधुरता दिखलाई वह अन्यत्र नही। मर्यादा पुरुषोत्तम ने यहाँ अनेक मर्यादाएँ तोड दी[1]। यहाँ तक कि उसे 'भामिनी' कहकर सम्बोधित किया और 'करिवर गामिनी' के विशेषण से विभूपित कर दिया। 'मानस' के कुछ व्यख्याता 'विनय-पत्रिका' से प्रमाण देकर सिद्ध करते है कि शबरी 'मानस' में माता के रूप मे चित्रित है। परन्तु इसमे सन्देह नहीं कि गोस्वामी तुलसीदास ने 'मानस' में प्राय प्रत्येक पात्र में अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा कुछ न कुछ विशेषता अवश्य ही दिखलाई है। प्रतीत होता है कि शबरी को भी यहाँ उक्त सबोधन एवं विशेषण से विभूपित करने का विशेष प्रयोजन है। कोई भी पुत्र अपनी माता को 'करिवर गामिनी' कहकर सम्बोधित नही कर सकता, फिर मर्यादा-पुरुषोत्तम की बात ही क्या? ध्यान देने की बात है कि कुछ सगुणोपासको, विशेष रूप से कृष्ण-भक्तो को माधुर्य-भाव में ही प्रेम का परमोत्कृष्ट रूप दिखाई देता है जिसके लोभ में वे पुरुष-शरीर पर भी नारी की वेशभूषा धारण कर उसकी रसमयी अनुभूति मे मग्न होने की चेष्टा किया करते है। निर्गुण भक्त भी परम प्रियतम के प्रेमरस-पान के हेतु ही 'शून्य महल' में सेज बिछाया करते थे जिसके दर्शन कभी-कभी प्रेमयोगिनी कृष्ण-भक्त मीरा के यहाँ भी हो जाते है[2]। अतः संदेह नही कि 'मानस' मे शबरी के प्रति उक्त सम्बोधन इन्ही

---

१ पंडित जीवनशंकर याज्ञिक ने अपने लेख 'शबरी की भक्ति' में इसे भलीभाँति सिद्ध किया है। देखिए 'कल्याण', भक्ति-अंक पृ० २१८।

२ मीराबाई की वेदनापूर्ण वाणी प्रसिद्ध है—

"सुन्न महल में सेज पिया की किस विध मिलना होय

निर्गुण प्रेमियो को दृष्टि मे रखकर किए गए है। अन्यथा 'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि[1]।' की घोषणा करने वाले तुलसीदास भला मधुरभाव को आश्रय कैसे दे सकते थे ? उन्होने उसे उन्ही के लिए सुरक्षित रखा जो सेवको के सर्वस्व होते हुए भी कभी मधुर भाव के प्राप्य और निर्गुण भक्ति प्रदान करने वाले भी हो सकते है। अस्तु, राम के द्वारा प्रयुक्त उक्त विशेषणो और शबरी के ब्रह्मपदलीन होने का यही रहस्य है।

निश्चय ही गोस्वामी तुलसीदास की शबरी भक्ति के क्षेत्र में नारी के ऊँचे आसन के अधिकार का ज्वलन्त उदाहरण और नारी-जाति को पददलित करने वाले समाज के कट्टर धर्मध्वजियों के लिए खुली चुनौती है। शबरी के साथ-साथ निषाद की भक्ति के रहस्योद्घाटन से यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि तुलसीदास के मत में शूद्र की और उससे आगे बढकर नारी की—चाहे वह शूद्र नारी क्यो न हो—कहाँ तक पहुँच है और उसके लिए विप्रपद-पूजा का क्या महत्व है। निर्गुण सन्त नित्य ही सगुण-भक्ति की निराधार चर्चा करते तथा वेदविद् ब्राह्मण और पंडितों को फटकार बताते थे। उनकी इस अनधिकार चेष्टा और अनर्गल चर्चा का निराकरण किए बिना वह रामभक्त कैसे चुप रहता जिसका दावा था कि उसे राम का बल है और किसी मानव की चिन्ता नही[2]। अत: सन्तो की ललकार के उत्तर में ही यह चुनौती दी गई थी। अन्तर दोनो में इतना ही था कि निर्गुण प्रचारकों की चुनौती उनकी शिक्षा-दीक्षा के अनुरूप खुली और भद्दी होती थी और गोस्वामी जी की चुनौती उनकी शिक्षा-दीक्षा एवं संस्कारों के फलस्वरूप बडे शिष्ट और मधुर ढंग से व्यंग्य रूप मे सामने आई। इसमें वह मधुर रस था जो चट गले के नीचे उतर जाता और संतमंडली उसका पान कर तृप्त हो जाती। पर इसे पान करने और इसका मूल्य चुकाने का साहस किसी निर्गुण-पंथी के पास न था। अत: यह सगुण भक्तों के लिए आनन्द की वर्षा करता रहा और निर्गुणियों को यह लालच दिलाता रहा कि भीगना हो तो भीग लो। यहाँ 'दसदिसि' दामिनी की दमक नही, घनश्याम के मनोहारी रूप के दर्शन और सरस प्रेम की मन-मोहक मधुर फुहार है जो 'अति आतप' से व्याकुल को शीतलता, सन्तोष और

---

१ 'मानस' उत्तर० ११६।

२ "जग में गति जाहि जगत्पति की परवाह है ताहि कहा नर की।"

—कविता० 'उत्तर०' १७

परम शान्ति प्रदान करने वाली है। बात यह थी कि न तो तुलसीदास को व्यर्थ का वितण्डा ही प्रिय था और न उन्होने 'निर्गुन कौन देस को बासी'[१] कहकर निर्गुण की धूल उडाकर सगुण की पताका फहरानी चाही थी। उन्होने बड़े कौशल से निर्गुण और सगुण की सीमा निर्धारित कर उनका अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण आधिपत्य रहते हुए भी उनमे इतनी अभिन्नता स्थापित कर दी कि एक क्षेत्र से दूसरे में प्रवेश करने वाले का सहर्ष स्वागत हुआ और किसी विवाद के लिए कोई अवकाश नही रह गया। व्यर्थ के गाल बजाने वालो का भी मुँह सिल दिया गया ताकि वे हल्ला मचा कर इन दोनो क्षेत्रो की उस शान्ति को भंग न कर सकें जो वहाँ के यात्रियो के लिए परमावश्यक है। हमें भी तुलसीदास की भाँति "परम विश्राम"[२] तभी मिल सकता है जब हम इस रहस्य को समझें और 'मानस' के अन्त मे 'सठमना' को दी गई चेतावनी को हृदयंगम करें[३]।

निष्कर्ष यह कि निषाद और शबरी भक्तिमार्ग दिखलाने वाले वे दो नेत्र है जिनके सहारे कोई आर्त प्राणी घोर निराशा के अन्धकार मे भी उस मार्ग पर सरलता से आगे बढकर गन्तव्य तक पहुँच सकता है। तुलसीदास के युग के शूद्र और नारी ने इन्ही नेत्रों से अपना पथ पहचान लिया। फलत. हिन्दू जनता का एक बड़ा भाग जो ब्राह्मण धर्म में अपना बहिष्कार देख उद्धार की आशा से निर्गुणियों के आश्रय मे जा रहा था, वापस लौटकर तुलसी के राम को ही भजने लगा। निर्गुणियो के राम के रहस्यमय रूप की अपेक्षा उसे तुलसी के राम का प्रत्यक्ष और सर्वसुलभ रूप अधिक सरस और सरल जान पड़ा। वह बडे प्रेम से निषाद और शबरी की भक्ति का गानकर और केवट-राम संवाद सुन कर तथा कोल-भीलो के प्रति प्रभु का सहज व्यवहार[४] देखकर स्वयं को प्रभु

---

१ 'भ्रमरगीतसार' पद ६४।

२ "पायो परम विस्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।"

'मानस' उत्तर० अन्तिम छंद

३ "पाई न गति केहि पतित पावन राम भजि सुन सठ मना।
गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना॥
आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे।
तेउ नाम बारक लेत पावन होहिं राम नमामि ते।"

वही, १२९.६ १२।

४ देखिए वही अयो० १३४ १–१३६।

के समीप समझ हर्ष से उल्लसित हो उठा और निर्गुण पंथ की ओर जाते हुए अन्य बृहत् दलित वर्ग को भी उसने अपनी ओर खींच लिया। सर्वविदित है कि कबीर के अनुयायी तुलसी के पूर्व जितने थे उतने उनके बाद नही रह गए। कहना नहीं होगा कि मानस-रूपक के रहस्य अथवा काकभुशुंडि-गरुड-संवाद की तत्त्वपूर्ण विवेचना समझने की क्षमता इस अपढ जनसमुदाय मे न थी। अतः भगवान् और भक्तो के उक्त प्रसंग ही ऐसे थे जो उन्हें उस निरवलम्बता की स्थिति मे पथ-प्रदर्शन कर परित्राण का आश्वासन दे सकते थे। भक्ति-मार्ग के प्रदर्शक उक्त दोनों नेत्रों द्वारा जहाँ एक ओर संत तुलसीदास ने निर्गुणिया सन्त-सम्प्रदाय को रामभक्ति के सच्चे स्वरूप के दर्शन कराने का प्रयत्न किया वही दूसरी ओर अधम की श्रेणी में परिगणित होने वाले समाज को दृढ अवलम्बन प्रदान किया। उसका सहारा लेकर पतित समझी जाने वाली नारी अपनी अधमाधम स्थिति मे भी केवल भगवान् के प्रति गूढ और मूक-स्नेह धारण करके ही उनका स्मरण करती हुई अपने नारकीय जीवन से मुक्ति पा उनके चरणो में स्थान पाने की अधिकारिणी हो सकती है, इस भावना ने कितनी असहाय अबलाओ के जीवन मे शान्ति और सन्तोष प्रदान किया होगा, इसे कहने की आवश्यकता नही। निषाद और शबरी युगपुरुष तुलसीदास की महान् देन है।

ज्ञान और योग के क्षेत्र में भी नारी की स्थिति पर कुछ विचार हो जाना चाहिए। मानसान्तर्गत ज्ञान-दीपक के रूपक तथा ज्ञान सम्बन्धी अन्य उक्तियो से यह निश्चित हो जाता है कि शुद्ध ज्ञान-मार्ग द्वारा अद्वैत की प्राप्ति का अधिक महत्त्व तुलसीदास की दृष्टि मे नही है। इसे सम्भव मानते हुए भी उन्होने ज्ञानमार्ग को भगवत्-प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन नही माना है। उनके विचार में वही ज्ञान ग्राह्य है जो राम प्रेम के आश्रित हो। इस सम्बन्ध मे ज्ञानी और भक्त के सम्बन्ध मे कही गई इन दो उक्तियो को समझ लेना चाहिए। ज्ञानी के लिए कहा गया :

"ज्ञानी प्रभुहि विशेषि पियारा[1]॥"

और भक्त के लिए कहा गया :—

"अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसहि धन्न जैसे[2]॥"

प्रभु को प्रिय है दोनो ही, पर दोनो भावनाओ मे बडा अन्तर है। संसार मे

---

१ 'मानस', बाल० २६.७।

२ वही सुन्दर० ४७७

किसी का प्रेम सब पर एक-सा नहीं होता। इसी प्रकार प्रभु का प्रेम सभी भक्तों पर होता है पर किसी की चिन्ता उन्हें कम है तो किसी को अधिक। किसी के प्रति वे 'अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती[१]' के समान चिन्तित रहते हैं, किसी की चिन्ता वैसे ही करते हैं जैसे पिता अयोग्य, पर आज्ञाकारी पुत्र की करता है और किसी की रक्षा के लिए वैसे ही व्यग्र रहते हैं जैसे माता अपने अबोध शिशु के लिए। इन दोनों के प्रति अपनी भावना उन्होंने नारद से व्यक्त की है :—

"मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥[२]"

स्पष्ट है कि प्रभु के सर्वाधिक प्रेम का पात्र 'अमानी दास' होता है। ज्ञानी पर विशेष प्रेम का उल्लेख जिज्ञासु और अर्थार्थी से उसकी भिन्नता दिखाने के लिए किया गया है, कुछ प्रेमी भक्त से नहीं। ज्ञानी विशेष प्यारा होता है पर शरणागत आर्त भक्त तो प्रभु के विशेषातिविशेष अविरल और अटल प्रेम का भाजन होता है। तुलसीदास ने सर्वत्र ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का महत्त्व स्वीकार किया है और उनके यहाँ उसी ज्ञान की मान्यता है जो भक्ति को लेकर चलता है, उसकी नहीं जो कोरे तर्क को महत्त्व देता अथवा जो योगादि साधनों का अवलम्बन कर निर्विकल्प समाधि की कामना करता और जगत् को स्वप्नवत् एवं मिथ्या मानकर त्याज्य समझता है। इस मार्ग को वे पुरुष अथवा स्त्री किसी के लिए ठीक नहीं समझते। 'विनय-पत्रिका' के अनेक पदों में कोरे ज्ञानियों का रूप खोलकर रख दिया गया है। यह भी समझा दिया गया है कि ज्ञान द्वारा प्रतिपादित मिथ्या माया का जाल बिना हरिकृपा के केवल ज्ञान से नहीं कट सकता। और कृपा त्रिगुणातीत निर्गुण निर्विकार रूप की नहीं, सगुण रूप की होती है। अतः हरिकृपा से प्राप्त ज्ञान संशयोच्छेद कर सकता है पर शोभा उसकी हरि-प्रेम को अंगीकार कर भक्ति का अनुगामी बनने पर ही होती है। राजा जनक जैसे परम ज्ञानी जीवन्मुक्त के ज्ञान की शोभा भी रामप्रेम के कारण ही है। उनके प्रसंग में कहा गया है :—

"सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू।
करनधार बिनु जिमि जलजानू॥[३]"

---

१ 'मानस' अयो० ६.८।
२ वही, अरण्य० ३६.८।
३ वही अयो० २७६.५

तात्पर्य यह कि राम-प्रेम से ज्ञान की शोभा और हरिकृपा से उसमें सफलता है। अन्यथा वह वाक्यज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं जो दम्भ और पाखंड को बढ़ाता है[१]।

सारांश यह कि गोस्वामी जी ने भगवत्-प्रेम के आश्रित ज्ञान की प्रतिष्ठा की है। यह ज्ञान राम-चरित के प्रभाव से कल्याणकारिणी शक्ति—भक्ति में परिवर्तित हो जाता है। इसकी स्थापना के लिए उन्होंने पार्वती सदृश नारी को चुना है जिनके जीवन में ज्ञान का उक्त स्वरूप पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है। उनका सम्पूर्ण वृत्तान्त इसी का उदाहरण है और शिव-चरित के माहात्म्य का एक कारण यह भी है। ज्ञान और भक्ति के आदि आचार्य भगवान् शकर 'मानस' के प्रतिष्ठापक प्रधान वक्ता और पार्वती उसकी प्रधान श्रोता है। पार्वती के चरित पर विचार करते हुए हमें देखना है कि उसके द्वारा कवि ने हमें क्या प्रदान किया है, क्यों उन्हें श्रोताओं में अग्रणी माना तथा याज्ञवल्क्य द्वारा शिव-चरित की महिमा का गान कराकर उसे राम-प्रेम की कसौटी सिद्ध किया है। वास्तव में शिव-चरित ही राम-चरित को समझने की कुंजी एवं राम-भक्ति की भूमिका है। उसमें प्रवेश हुए बिना 'मानस' में अवगाहन सम्भव नहीं।

शिव-चरित का आरम्भ होता है सती-मोह के आख्यान[२] से। त्रेतायुग में शंकर भगवान् अपनी अर्द्धांगिनी सती के साथ महर्षि अगस्त्य के आश्रम गए। महर्षि से उन्होंने राम-कथा सुनी और भक्ति की चर्चा की। राम का गुणगान करते हुए कुछ दिन वहाँ निवास करने के पश्चात् वे सती के साथ अपने स्थान को लौटे। सती बराबर राम की चर्चा सुनते रहने पर भी रामचरित का रहस्य न समझ सकी। लौटते हुए मार्ग में जब शकर भगवान् ने 'विरहविकल' सीतान्वेषण में तत्पर राम को 'जय सच्चिदानन्द जगपावन' कहकर प्रणाम किया और प्रेममग्न हो गए तब सती के मन में महान् संशय उत्पन्न हो गया[३]। वे तर्क-वितर्क में पड़ गईं कि जगद्-वंद्य जगदीश शकर, जिन्हें ऋषि-मुनि और सुर-नर सभी प्रणाम करते हैं, आज एक राजकुमार को सच्चिदानन्द कहकर

---

१ 'विनय-पत्रिका' के अनेक पदों में कवि ने स्वयं को वाक्यज्ञानी कहकर अपनी ही भर्त्सना की है पर उससे प्रकारान्तर से कोरे ज्ञानियों का ही रूप प्रत्यक्ष होता है। उदाहरणार्थ देखिए पद १३३, १५८।

२ 'मानस' बाल० ५२.१–६२।

३ वही, ५४.५ ५५.४

प्रणाम कर रहे और इस प्रकार प्रेम मग्न हो रहे है, इसका रहस्य क्या हो सकता है? क्या ये सचमुच सच्चिदानन्द ब्रह्म है? बस, तर्क ने कुतर्क का रूप धारण किया और सती विचारने लगी :—

"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥
बिस्नु जो सुरहित नर तनु धारी। सोउ सरबग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यान धाम श्रीपति असुरारी॥
संभु गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सरबग्य जान सब कोई[1]॥"

सती ने मन को समझाया पर किसी भाँति प्रबोध नहीं हुआ।

अन्तर्यामी शंकर ने उनकी यह दशा समझ कर उन्हे सचेत किया कि ऐसा संशय उचित नही। उन्होंने कहा कि ये मेरे इष्टदेव वही राम हैं जिनकी कथा कुंभज ऋषि ने हमें सुनाई है तथा जिनका ध्यान सिद्ध, योगी एव मुनि सभी करते है। वही मायापति ब्रह्म अपने भक्तो के लिए भूमण्डल पर अवतरित हो लौकिक चरित कर रहे है[2]। शंकर भगवान् के बारम्बार समझाने पर भी सती का संशय दूर नही हुआ। दूर होता भी कैसे? अभी उन्हे विश्वास की प्राप्ति नही हो सकी थी। अभी शंकर से उनकी पूर्ण अभिन्नता स्थापित नही हुई थी, अन्यथा जो शंकर का मत होता वही उनका भी मत होता। कथा सर्वविदित है, विस्तार की आवश्यकता नही[3]। निदान सर्वज्ञ शंकर सब कुछ भाँप कर बोले :—

"जो तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीक्षा लेहू॥
जैसे जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतनु बिबेक बिचारी[4]॥"

मोह-ग्रस्त सती मे विवेक शेष रह जाता तो वे पति के वचनो मे सदेह ही क्यों करती? गईं, परीक्षा ली और वह भी बडे निराले ढग से। राम के 'अज अबिनासी' रूप की परीक्षा लेनी थी तो यही कहती कि हे सच्चिदानन्द! मुझे अपने विराट् रूप के दर्शन दीजिए। राजकुमार मात्र होने पर असमर्थता प्रकट हो ही जाती। सती ऐसा न कर, सीता का रूप धारण कर इस विचार

१ 'मानस' बाल० ५५, ५५.१-३।
२ वही, ५५ ७, ८, छन्द।
३ सम्पूर्ण प्रसग के लिए देखिए बाल०, ५२१-६६.४।
४ वही, ५६ १ १।

से आगे-आगे चली कि यदि राजकुमार हुए तो मुझे सीता समझेंगे, ब्रह्म होंगे तो पहचान लेंगे। उन्होंने यह नहीं विचारा कि यदि राजकुमार मात्र हुए और इस 'बिरह बिकल' अवस्था में उद्विग्न हो भटकते हुए एकाएक मुझे सीता समझ कर कुछ कह बैठे तो भगवान् शंकर भले ही उन्हें भस्म कर दें पर मेरा अपमान तो हो ही जाएगा। राम के दर्शन होने पर 'नारि सहज जड अज्ञ'[1] कहकर उन्हें अपनी इसी जडता का पश्चात्ताप करना पडा। जो हो, सती ने परीक्षा ली। प्रभु ने प्रणाम किया और अपने स्वरूप के दर्शन करा दिए। अब सती से दूसरी भूल हुई। भयवश शंकर जी से असत्य भाषण किया कि परीक्षा नहीं ली। यहाँ तक कह गईं :—

"तुम जो कहा सो मृषा न होई। मोरे मन प्रतीति अति सोई[2]॥"

अन्तर्यामी शंकर ने सब रहस्य जानकर जब सती के त्याग की प्रतिज्ञा की तो देवताओं ने प्रशंसा की। सती के कान खड़े हो गए। पूछा, 'भगवन्! क्या प्रण किया ?' वे टाल गए और कैलास पहुँच अखण्ड समाधि में लीन हो गए कि न समाधि टूटेगी न सती का सामना होगा। बहुत काल व्यतीत हो गया। सती क्षुब्ध रहने लगीं। उसी समय दक्ष ने यज्ञ किया और सभी देवगणों को जाते देख सती शंकर के रोकने पर भी हठ ठानकर पिता के यहाँ गईं। कोई स्वागत नहीं हुआ। शंकर से विरोध मानने के कारण दक्ष सती को देखकर जल उठे। अब सती को शंकर की बात सत्य जान पडी। यज्ञ में शंकर का भाग न देख, उनके अपमान का ध्यान कर क्रोधाभिभूत हो पिता को शाप दिया और योगाग्नि में अपना शरीर भस्म कर दिया। शंकर भगवान् ने सुना तो क्रुद्ध हो अपने गणों को भेजा। दक्ष का यज्ञ ध्वस्त हुआ और उनकी बड़ी दुर्गति हुई।

इस आख्यान से प्रत्यक्ष हो जाता है कि सती ने विश्वास को पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं किया है। राम के रूप में सन्देह, शिव की बातों में अविश्वास, राम की परीक्षा लेना, असत्य भाषण, पति की आज्ञा न मानकर हठ ठानना, क्रोध करना और पिता का नाश करना, ये सभी कार्य अज्ञान के हैं। विश्वास की कमी और विश्वास रूप शंकर का अवलम्ब न लेने के कारण ही ये सारे अनर्थ होते हैं। अत: सती का आख्यान पुकार-पुकार कर कहता है कि विश्वास की

---

१ 'मानस' बाल० ६२।

२ वही, ६०।२

अवहेलना कर यदि राम का लौकिक और अलौकिक रूप समझना चाहोगे तो तुम्हारे हाथ कुछ न लगेगा। संशय-ग्रस्त हो जाओगे। बुद्धि के बल पर उस रूप को समझ नहीं सकोगे। उसकी महानता बुद्धि से परे है। बुद्धि और भी भ्रमित होगी। परिणाम-स्वरूप सन्ताप की ज्वाला में जलते रहोगे। दक्ष व्यक्तियों से अपमानित हो क्रोध करोगे। अन्त में विनाश के भागी बनोगे। तुम्हारे साथ सगे-सम्बन्धी कष्ट उठायेंगे।

यहाँ यह भी प्रत्यक्ष हो जाता है कि जो अखण्ड विश्वास युक्त हो ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप मे भेद नहीं मानता वह कभी अस्थिर नही होता। वह अविचल शान्ति में रमण करता है। इसके विपरीत, यदि निर्गुण है तो सगुण कैसे, सगुण है तो मनुष्य कैसे, मनुष्य है तो अति साधारण मनुष्य की भाँति काम-क्रोध से युक्त कैसे, इसी छानबीन में पड़ा हुआ व्यक्ति न अपना न अन्य का ही कल्याण कर सकता है। उसका संशय उसे ले डूबता है। सती के आख्यान का यही रहस्य है और यह 'संशयात्मा विनश्यति' का सजीव उदाहरण है।

इस संशयपूर्ण जीवन के समाप्त होने पर सती ने पार्वती का रूप प्राप्त किया और जिस विश्वास की तब अवहेलना की थी अब उसे ही प्राप्त करने के लिए अखण्ड तप किया[1]। कारण, यह बोध हो गया था कि विश्वास की ही शरण में जाने से निर्गुण-सगुण के रहस्य का बोध और परमानन्द प्राप्ति का लाभ हो सकता है। विश्वास 'दुराराध्य' है। परन्तु पूर्ण सात्विक हृदय और शंका रहित मन से दृढतापूर्वक एकान्त मे चिन्तन करने पर वह सुलभ हो सकता है। प्राप्ति का दृढ संकल्प होने पर सम्मुख आने वाली विघ्न-बाधाओं को हटाया जा सकता है। प्राप्त होते-होते विकट परिस्थिति भी उत्पन्न हो सकती है पर सच्ची लगन और चाह होने से वह परम शिव रूप मे प्राप्त होता है। पार्वती के जन्म से लेकर विवाह तक के आख्यान का यही संकेत है। पार्वती को पूर्व-जन्म की पूरी स्मृति बनी थी। इसी से नारद के वचन सुन हर्ष से उत्फुल्ल हृदय और दृढ संकल्प से युक्त हो, वन मे जाकर वे तपस्या में लीन हो गई थी। विश्वास की यह दृढ लगन पवित्र हृदय की वह स्थिति है जिसे बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नही होती। इसीलिए यज्ञादि कर्मो का सहारा नहीं लिया गया। नितान्त एकान्त में सब कुछ त्याग, एकाग्रचित्त होकर विश्वास की उपलब्धि का प्रयत्न हुआ। विश्वास की अवहेलना कर राम की परीक्षा लेने

[1] सम्पूर्ण प्रसंग के लिए देखिए 'मानस' बाल० ६६ ६ ८६

वाली की, इस समय, विश्वास की प्राप्ति के लिए परीक्षा हुई। विश्वास के पथ पर थी अनन्त विरक्ति और राम-चरित की चर्चा। अतः सुख-समृद्धि, श्री और ऐश्वर्य का प्रलोभन सम्मुख रखा गया। भक्तशिरोमणि नारद द्वारा निर्दिष्ट पथ का अनुसरण करती हुई पार्वती के संकल्प की परीक्षा विद्या-बुद्धि विशारद सप्तर्षियो ने ली। हिमाचल-कन्या अडिग रही और सिद्ध कर दिया कि भक्ति का पथ तर्क-जाल से अछूता रहता है और उसी पर निष्काम भाव से चलने से विश्वास की प्राप्ति होती है। बुद्धि तर्क-वितर्क द्वारा कितने ही ऐश्वर्य का लोभ दिखाए पर भक्ति-पथ का पथिक दृढ़ निश्चय के बल पर गन्तव्य तक पहुँच कर उस अखण्ड विश्वास की प्राप्ति करता है जो 'शर्वः सर्वगतः शिव' है। पार्वती ने विश्वास की प्राप्ति की। संशय के लिए अब कोई स्थान नही रहा। उन्हे निर्गुण और सगुण की एकता का विश्वास तो हो गया पर अभी उस कथामृत के रस का पान शेष रह गया जिससे सती के जन्म मे, वे संशय-वश वंचित रह गई थीं। निदान, उसकी उपलब्धि के लिए एक दिन उन्होंने शकर जी के सामने अपनी जिज्ञासा प्रकट की।

पार्वती की जिज्ञासा क्या थी, शकर भगवान् उसे सुनकर, उत्तर देने के पूर्व ध्यानमग्न क्यों हो गए और उन्होने क्या उत्तर दिया, सभी प्रश्न महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। पार्वती का प्रश्न क्या था पूरा खाता था, अब तक का इतिहास था, अपने अधिकार की घोषणा थी और पूछा गया था वह राम-रूप और राम-रहस्य जो दो-चार शब्दो या दो-चार घडियो मे नही समझाया जा सकता था। तर्क द्वारा समझने की यह बात ही न थी। बात तो थी श्रवण, मनन और रस पान की। तभी तो उत्तर देने के पहले भगवान् शकर दो दण्ड तक ध्यान-मग्न रहे —

> "मगन ध्यान रस दण्ड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
> रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनइ लीन्ह[1]॥"

तदनन्तर पार्वती को भी वह रस प्रदान किया जिसके अभाव में उन्हे घोर सन्ताप सहन करना पडा था, और कथा श्रवण कर जिसके आनन्दातिरेक में कह उठी थीं :—

> "नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर।
> श्रवन पुटन्ह मन पान करि नहिं अघात मति धीर॥"

---

१ 'मानस' बाल० ११९

राम चरित जे सुनत अघाहीं । रस विसेष जाना तिन्ह नाहीं[1] ।।"

स रस की व्याख्या 'भक्तिरस' के रूप में की जाती है। प्रश्न है कि यदि यह स 'भक्ति' ही है और पार्वती ने उसे प्राप्त भी किया है तो इस रस को प्रदान रने वाली कथा के श्रवण की याचना के समय भक्ति की पूर्ण अधिकारिणी ारी के मुख से तुलसीदास ने यह किस हेतु कहलाया '—

"जदपि जोपिता नहिं अधिकारी । दासी मन क्रम बचन तुम्हारी[2] ।।"

पार्वती के सम्पूर्ण प्रश्न का विवेचन करने पर इसका रहस्य खुल जाता । उन्होंने कहा तो यह कि 'कथा' पूछना चाहती है पर कुछ और ही पूछना ारम्भ किया '—

"प्रभु जे मुनि परमारथ बादी । कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी ।।
सेष सारदा बेद पुराना । सकल करहिं रघुपति गुन गाना ।।
तुम पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनंग अराती ।।
राम सो अवध नृपति सुत सोई । की अज अगुन अलख गति कोई ।।
जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि ।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि ।।
जौ अनीह ब्यापक बिभु कोऊ । कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ ।।

× × ×

तब कर अस बिमोह अब नाहीं । राम कथा पर रुचि मन माही[3] ।।"

इस प्रकार समस्त कथा की जिज्ञासा करके अन्त में आग्रह किया यह —

"पुनि प्रभु कहहु सो तत्त्व बखानी । जेहिं बिग्यान मगन मुनि ग्यानी ।।
भगति ग्यान बिग्यान बिरागा । पुनि सब बरनहु सहित बिभागा ।।
औरो राम रहस्य अनेका । कहहु नाथ अति बिमल बिबेका ।।
जौ प्रभु मैं पूछा नहिं होई । सोउ दयाल राखहु जनि गोई ।।
तुम त्रिभुवन गुरु बेद बखाना । आन जीव पाँवर का जाना[4] ।।"

पार्वती की इस जिज्ञासा के लिए कहा गया'—

"प्रस्न उमा कर सहज सुहाई । छल बिहीन सुनि सिव मन भाई[5] '।

---

१. 'मानस' उत्तर० ५२, ५२.१।
२. वही, बाल० ११४.१।
३. वही, ११२.५—११३.१,७।
४. वही, ११५.१-५।
५ वही ११५ ६

ध्यान देने की बात है कि प्रश्न कथा के सम्बन्ध में नहीं है। सच पूछिए तो प्रश्न वही है जो प्रारम्भ में किया गया। वही प्रतिपाद्य विषय है। अन्यथा उन्होंने बाद में आग्रह ही किया है कि यह कहिए, वह कहिए। यह नहीं कहा कि ऐसा क्यों है, वैसा क्यों है, फिर इसे प्रश्न क्यों कहा जाय ? प्रश्न उठा है राम के स्वरूप के सम्बन्ध में, कथा के प्रसंग में नहीं। और पार्वती को तो राम के स्वरूप में भी संशय नहीं है[1], तब प्रश्न कैसा ? सच बात तो यह है कि पार्वती को राम के स्वरूप का प्रतिपादन इष्ट था और वह हो सकता था राम-चरित के द्वारा ही। अतः कथा सुनने का आग्रह किया गया उस उलझन को सुलझाने के लिए जो उस समय के निर्गुणिया जाल के कारण उत्पन्न हो गई थी। निर्गुण की धूल आखो में पड़ने से जिनकी दृष्टि में दोष[2] आ गया था उन्हे मार्ग सुझाने की आवश्यकता थी। इसीलिए यह अनुरोध हुआ शिवा का शिव से, जगदम्बा का विश्वनाथ से और हुआ एक ज्ञानी वक्ता से एक आर्त जिज्ञासु की कथा-श्रवण की जिज्ञासा

---

१ शंकर भगवान का वचन था —

"राम कृपा तें पारबति सपनेहु तव मन माहिं।
सोक मोह सन्देह भ्रम मम बिचार कछु नाहिं ॥"

'मानस', बाल० ११७।

२ "निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी ॥
जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी ॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ ॥
उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥"

वही, ११९.१-४।

और भी :—

"नयन दोष जाकहुँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह सोई ॥
जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा ॥
नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोह बस आपुहि लेखा ॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परसपर मिथ्याबादी ॥
हरि बिषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहु नहिं अग्यान प्रसंगा ॥
माया बस मतिमन्द अभागी। हृदय जवनिका बहुबिधि लागी ॥
ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अग्यान राम पर धरहीं ॥"

वही उत्तर० ७२ १ १

के रूप मे। अनुरोध किया गया उसी लोक के कल्याण-हेतु जिसके समक्ष यह सशय उपस्थित होकर सती की भाँति उसे 'भ्रमित बुद्धि' कर रहा था। इसीलिए पार्वती से प्रसन्न होकर शंकर उनकी प्रशंसा कर उठे :—

"धन्य धन्य गिरिराज कुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी॥
पूछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥
तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी॥
राम कृपा ते पारबति सपनेहुँ तव मन माहि।
सोक मोह सन्देह भ्रम मम बिचार कछु नाहि॥
तदपि असंका कीन्हिहु सोई। कहत सुनत सब कर हित होई॥[१]"

एक ओर पार्वती की यह स्थिति और दूसरी ओर उनमे कहलाया गया—
"जदपि जोपिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥
गूढ़ौ तत्त्व न साधु दुरावहि। आरत अधिकारी जहँ पावहि॥
अति आरत पूछौं सुरराया। रघुपति कथा करहु करि दाया॥[२]"

शंका उठती है कि जिसके ऊपर राम की कृपा हो चुकी और जो शोक, मोह, सन्देह और भ्रम से मुक्त है वह अधिकारी कैसे नहीं है? इस शंका का समाधान भी सरलता से हो जाता है। पार्वतीके 'जोपिता नहिं अधिकारी' कहने का तात्पर्य कुछ और है। भक्ति के क्षेत्रमे तो बहुतों को नारी का अधिकार मान्य था परन्तु पार्वती ने कथा के अतिरिक्त और जो कुछ पूछा था उसमे नारी का अधिकार विवादास्पद था। पार्वती के चरित्र द्वारा मानसकार ने नारी को ज्ञान की अधिकारिणी प्रमाणित करनेका सफल प्रयास किया है। उसके द्वारा प्रकारान्तर से अनधिकारी का रूप भी प्रत्यक्ष कर दिया गया है। प्रयोजनवश पार्वती का उपर्युक्त निवेदन हुआ है। उसका तात्पर्य यही है कि यद्यपि वे नारी होनेके कारण ज्ञान की—ब्रह्म के स्वरूप-बोध के लिए जिसकी आवश्यकता है उस ज्ञान की—अधिकारिणी नहीं मानी जा सकतीं, तथापि वे उसके लिए उस साधना का अवलम्ब लेने वाली भी नही है जिसमे विभूति रमा, धूनी लगाकर, समाधि मे निर्गुण की उपलब्धि का विधान है और जिसका उपदेश ज्ञानी उद्धव ने विरहाकुल गोपियों को दिया था। उन्होंने संकेत कर दिया कि वे सती की भाँति तर्क-वितर्क अथवा बुद्धिवादी जिज्ञासु की भाँति उत्तर-प्रत्युत्तर करके

---

१ 'मानस' बाल० ११६. ६—११७.१।

२ वही, ११४ १-३

राम का रूप समझने नहीं आई है। वे तो आज 'दासी मन क्रम बचन तुम्हारी' की भावना में पूर्ण आत्मसमर्पण कर आर्त जिज्ञासु के रूप में वही ज्ञान शंकर के प्रसाद-रूप में प्राप्त करने आई हैं। आर्त अधिकारी की स्थिति ऐसी होती है कि गुरु उस पर द्रवीभूत हो गूढ तत्त्वों को भी अनावृत कर देता है।

सती के रूप में पार्वती उसकी अधिकारिणी नहीं थी क्योंकि तबतक उन्हें विश्वास की प्राप्ति नहीं हो सकी थी। इसी कारण कुंभज ऋषि से कथा सुनने पर भी उनका संशय दूर नहीं हुआ। वे विश्वास की अवहेलना कर, मन, बुद्धि और वाणी में अतर्क्य राम को सीमित बुद्धि के तर्क द्वारा समझने के फेर में पड़ी रहीं।[1] आज स्थिति भिन्न है। आज वे शंकर को त्रिभुवनगुरु मानकर सब तर्क त्याग कर केवल चरित-श्रवणके द्वारा राम का स्वरूप समझना चाहती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि तुलसीदास की दृष्टि में इसी ज्ञान का महत्त्व है, कोरे तर्क-प्रतिपादित शास्त्रार्थ का नहीं। उन्होंने एक नारी के चरित्र द्वारा भलीभाँति प्रदर्शित कर दिया है कि सती जैसा नहीं, पार्वती जैसा प्राणी ज्ञान का अधिकारी हो सकता है। इसीलिए ज्ञानी याज्ञवल्क्य से कहलाया गया है :—

"रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा[2]॥"

'सुसमउ' का संकेत यही है कि सती के संशय के समय उपयुक्त अवसर नहीं था, आज वह अवसर आ गया है। सती जब पार्वती के रूप में ज्ञान की अधिकारिणी बन सकीं तभी उनसे वह राम-चरित कहा गया जिसे श्रवण कर उन्होंने उसका तत्त्व प्राप्त किया और साहस पूर्वक घोषित कर दिया :—

"राम चरित जे सुनत अघाहीं। रसविसेष जाना तिन्ह नाहीं[3]॥"

भगवान् शंकर दो दण्ड तक उसी रस में मग्न रहने के कारण ही ध्यानस्थ रहे थे।

---

१ इसलिए शंकर भगवान् का उनसे यही कहना था :—
"राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥"
'मानस', बाल० १२५.३।

२ वही, ३९. ११।

३ वही उत्तर० ५२ १

अब देखना चाहिए कि यह रस क्या है ? इस रस को समझ लेने से उस ज्ञान का रूप भी स्पष्ट हो जाएगा जिसे तुलसी ने भक्ति का विशेष अंग मानकर

"चहूँ चतुर कहुँ नाम अधारा । ज्ञानी प्रभुहि बिसेसि पियारा[1] ।।"

का उद्घोष किया है ।

इस रामनाम की महिमा भगवान शंकर के यहाँ द्रष्टव्य है:—

"महामंत्र जोइ जपत महेसू । कासी मुकुति हेतु उपदेसू ॥
सहस नाम सम सुनि सिव बानी । जपी जाइ पिय संग भवानी ॥
हरषे हेतु हेरि हर ही को । किय भूषनु तिय भूषन ती को ॥
नाम प्रभाउ जान सिव नीको । काल कूट फल दीन्ह अमी को[2] ॥"

यह राम प्रेमियों का सर्वस्व है —

"सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन ।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन ॥[3]"

शंकर भगवान्‌ने इसकी प्राप्ति जिस प्रकार की वह भी दर्शनीय है :—

"ब्रह्म राम ते नाम बड बरदायक बर दानि ।
राम चरित सत कोटि महँ लिये महेस जिय जानि[4] ॥"

इसमें कोई सन्देह न रहा कि राम-नाम ही अखण्ड अमृत तत्त्व की वर्षा करने वाला वह रस है जिसे 'शत कोटि राम चरित' के सार रूप में ग्रहण कर भगवान् शंकर ने अपने अन्तःकरण मे संचित कर रखा है और जिसके 'प्रेम पियूष ह्रद' में वे लीन रहते है। राम-नाम को ब्रह्म और राम दोनों से ही बडा कहा गया है। नाम को राम से बडा समझना सरल पर ब्रह्म से बडा समझना टेढी खीर है ।

नाम की वन्दना में यह भी कहा गया है :—

"वन्दौ नाम राम रघुबर को । हेतु कृसानु भानु हिमकर को ।
बिधि हरि हर मय बेद प्रान सो । अगुन अनूपम गुननिधान सो[5] ॥"

यहाँ नाम को विधिहरिहरमय, वेदों का प्राण, अगुण, अनुपम और गुण-

१ 'मानस' बाल० २६.७ ।
२ वही, २३.२, ६-८ ।
३ वही, २७ ।
४ वही ३० ।
५ वही २११, २

निधान कहा गया है। वेदों में ओंकार से ब्रह्म को अभिहित किया जाता है। अतः अनेक विचारकों का मत है कि 'ॐ' का परिवर्तित रूप 'राम' है। हमारी दृष्टि में इसका सीधा समाधान यही है कि ब्रह्म को ही वेदोंने सृष्टि का आदि और अन्त तथा उत्पत्ति, स्थिति और संहारकर्ता माना है। सर्वव्यापी होते हुए भी वह सबसे परे, अतः पूर्ण, निर्गुण और निर्विकार है। सारा जगत उसकी अभिव्यक्ति है। तात्पर्य यह कि वह 'गुन निधान' होते हुए भी 'अगुन' और इसीसे 'अनुपम' भी है। सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार का कर्ता होने से वही 'विधिहरिहरमय' भी है। वेदों के निरूपण का साराश यह है और यही है 'वेदप्रान' का तात्पर्य भी। यह तो हुई नाम और ब्रह्म की एकता। अब नाम ही ब्रह्म और राम कैसे है। यह भी विचारणीय है। उसे भी इस प्रकार समझाया गया है :

"समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी ॥
नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी ॥
को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू ॥
देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना ॥
रूप बिशेष नाम बिनु जाने। करतल गत न परहिं पहचाने ॥
सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेखे ॥
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी ॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी[1] ॥"

नाम और रूप का अभिन्न सम्बन्ध है। एक साथ रहने पर ही दोनों का रूप पूर्ण होता है। एक के बिना दूसरे का मूल्य नहीं। 'सगुन' और 'अगुन' भी एक है। दोनों के बीच मध्यस्थ हो इस एकता को स्थापित करने वाला दुभाषिया नाम ही है। प्रतीत होता है कि ब्रह्म निर्गुण है अतः मनुष्य रूप में राम नहीं, राम मनुष्य हैं, अतः निर्गुण नहीं। जो निर्गुण, सगुण और मनुष्य भी है वही वास्तव में राम है। अन्यथा एक दिखता है ब्रह्म और दूसरा 'दशरथ सुत'। ब्रह्म और दशरथ सुत की एकता, उसका रहस्य और उसका रस रामनाम में ही सम्पुटित है। इसीलिए कहा गया है :

"हिय निर्गुन, नयनन्हि सगुन, रसना नाम सुनाम ॥
मनहुँ पुरट-सम्पुट लसत, तुलसी ललित ललाम[2] ॥"

---

१ 'मानस' बाल० २५.१-८।

२ 'दोहावली' दोहा ७

नाम-रूपी रत्न के पारखी तुलसीदास ने राम-नाम का रहस्य समझा दिया है। यही पार्वती का ज्ञातव्य भी है। उन्होंने जानना चाहा है निर्गुण और सगुण का स्वरूप, राम का रहस्य, सगुण का चरित और इसके साथ ज्ञान और भक्तिका भेद जो यह स्पष्ट कर दे कि किस प्रकार इसी निर्गुण-सगुण की प्राप्ति करना मानव-जीवन का परम लक्ष्य है। आज शंकर भगवान् ने अपने मानस[1] की गहराई में पैठ कर वही नामामृत प्राप्त किया जिसे इतने दिनों से उन्होंने गुप्त ही रखा था कि जब सती अधिकारी होकर जिज्ञासा करें तब उन्हें वह रस उस कथा के रूप में ढाल कर प्रदान किया जाए जिसमें ब्रह्म-निरूपण और ज्ञान का समस्त सार सन्निहित है[2]। उमा उसे पाकर कृतार्थ हो गईं। उन्होंने निवेदन किया :—

"तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह।
जानेउँ राम प्रताप प्रभु चिदानन्द संदोह[3]॥"

संशयात्मा, चंचलमति सती को आज धीरमति के रूप में देख शंकर को भी परम सन्तोष हुआ। तभी आज वे उमा को 'सती' नाम से सम्बोधित कर उठे।

"धन्य सती पावन मति तोरी। रघुबर चरित प्रीति नहिं थोरी॥"

तात्पर्य यह कि पार्वती ने जो ज्ञान प्राप्त करना चाहा उन्हें कथा के रूप में प्रदान किया गया और उसी ज्ञान का तुलसीदास के यहाँ महत्त्व है। तभी तो 'मानस' के अन्य वक्ता-श्रोता ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य और 'परमारथ पद परम सुजाना' महर्षि भरद्वाज भी उसी कथामृत का पान करते रहते हैं।

---

१ "रचि महेस निज मानस राखा"।

'मानस' बाल० ३५.११।

२ इसी को अन्यत्र स्पष्ट किया गया है :—

"ब्रह्म पयोनिधि मन्दर ज्ञान सन्त सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढहिं भगति मधुरता जाहिं॥"

वही, उत्तर० १२०।

इसे और भी खोलकर बतला दिया गया है कि राम-कथा का सार राम नाम ही है—

"एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान-श्रुति सारा॥"

वही, बाल० १४.१।

३ वही, उत्तर० ५२।

४ वही ५४.७ १ ७

भरद्वाज ने जिस प्रकार प्रश्न किया उससे स्पष्ट है कि वे तत्त्वविवेचन नहो सुनना चाहते। वह तो माघस्नान के अवसर पर सन्तमण्डली में बहुत हो चुका है। उसके पश्चात् जो याज्ञवल्क्य को रोककर वे आग्रह करते हैं वह इस तत्त्व-बोध के लिए कि जो निर्गुण, सगुण और दसरथसुत एक साथ है वह राम कौन है? उत्तर में याज्ञवल्क्य उन्हें शिव-चरित और शिव-पार्वती सम्वाद सुनाते है। संकेत यह है कि परम ज्ञानी के ज्ञान की कसौटी है ज्ञान के विषय परात्पर ब्रह्म का स्वरूप-बोध कथा के द्वारा करा देना।

'मानस' के श्रोताओं एवं वक्ताओंमें याज्ञवल्क्य हैं 'परम विवेकी', भरद्वाज हैं 'परमारथ पथ परम सुजाना' और 'तापस सम दम दया निधाना', काकभुसुंडि है 'सर्वज्ञ तज्ञ तम पारा' और गरुड हैं 'महाज्ञानी गुनरासी'। शंकर भगवान् ज्ञान एवं भक्ति के आद्याचार्य ही ठहरे, पार्वती है अति आर्त, राम-रस-पान को आतुर। 'मानस' की परम्परा में इनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा। राम भगति अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥
ते श्रोता वक्ता सम सीला। समदरसी जानहि हरि लीला॥
जानहि तीन काल निज ज्ञाना। करतल गत आमलक समाना[1]॥"

और भी :—

"श्रोता बक्ता ग्याननिधि कथा राम की गूढ़[2]।"

द्रष्टव्य है कि यहाँ सभी श्रोता-वक्ता समशील, समदर्शी, हरिलीलारहस्य के ज्ञाता, त्रिकालज्ञ एवं ज्ञाननिधि कहे गए है। केवल गरुड का उल्लेख यहाँ नही है। उन्हें कुछ पक्षी होने के नाते नही छोड़ा गया। पक्षी (काक) तो यहाँ प्रमुख स्थान ग्रहण किए हुए है। उसने स्वयं शकर भगवान् से रामचरित प्राप्त किया और उसे श्रोता मिला याज्ञवल्क्य जैसा ब्रह्मर्षि। स्पष्ट है कि 'महाज्ञानी' होते हुए भी गरुड़ उक्त श्रोता-वक्ताओं की कोटि में परिगणित नहीं किए जा सकते। उन्हे श्रोता बनने का सौभाग्य मिला उस भ्रम के कारण जिसका निवारण स्वयं न कर शंकर भगवान् ने उन्हें काक के पास भेजा। इससे

---

१ 'मानस'- बाल० ३४ ३-७।

२ वही ३५

सिद्ध हुआ कि 'महाज्ञानी' से बढ़ कर ज्ञान भक्त को भी हो सकता है[1]। ब्रह्मानुभूति ही ब्रह्मज्ञान है चाहे शास्त्रार्थ, तप और योग से प्राप्त हो अथवा प्रभु-कृपा और भक्ति से। निदान, काकभुशुंडि सच्चे ब्रह्मज्ञानी भक्त है। गोस्वामी जी ने पार्वती को उनके समकक्ष आसीन किया है, अन्यथा गरुड की भाँति इस परम्परामें उनका भी नामोल्लेखन न होता। यहाँ पार्वती भी शकर के समशील और समदर्शी मानी गई है, उन्हे निर्गुण-सगुण की एकता और राम-रहस्य का बोध हो चुका है। उनका प्रश्न सन्देह के कारण नही, लोक-कल्याणार्थ शंकाकुल हृदयोंका प्रतिबिम्ब बनकर आया है। इसे शकर भगवान् कथा के पूर्व स्वयं स्वीकार करते है[2] और उत्तर मे जो कुछ कहते है वह हर काल और हर देश के व्यक्ति का सशयोच्छेद कर सकता है। आवश्यकता इतनी ही है कि श्रोता रामचरित के पहले शिव-चरित को समझ ले। तभी उसे शकर-पार्वती की कृपा प्राप्त होती और वह 'मानस', का अधिकारी बन सकता है। इसीलिए राम-चरित सुनने के पूर्व याज्ञवल्क्य भरद्वाज को शिव-चरित सुनाते और उनके अधिकारी होने की घोषणा करते है —

"प्रथमहि मैं कहि सिव चरित बूझा मरम तुम्हार।
सुचि सेवक तुम राम के रहित समस्त विकार॥"

प्रेम से शिवचरित सुननेवाला, समस्त विकार-रहित, राम का 'सुचि सेवक' ही राम-कथा का अधिकारी होता है। वह सांप्रदायिकता की बेडी से जकड़ा नही रहता, भावना और विवेक के खुले क्षेत्र मे जाता और परमार्थ पथ का अनुसरण करने के पूर्व यह भलीभाँति समझ लेता है कि जो राम है, वही कृष्ण है और वही शकर ही नही, सारे विश्व में भी व्याप्त हो रहा है। अस्तु, शिवचरित मे ही वह गूढ तत्त्व है जिसकी प्राप्ति रामचरित का अधिकारी होने के लिए आवश्यक है। शंकर-पार्वती के चरित को समझे बिना रामका मर्म पाना असम्भव है। राम-कथा में उस ब्रह्म की अभिव्यक्ति है जो पूर्ण निर्विकार और कूटस्थ है। उसकी नित्यलीला का आनन्द लाभ लेने के लिए शकर-पार्वती का प्रसाद अनिवार्य है। उन्ही की कृपा से

१. तभी उद्धव को कहना पडा था। –
"सूर सकल ब्रज षटदरसी हौं बारहखड़ी पढाऊँ।"

२. 'मानस', बाल० ११६.६—११७.१।

३ वही १०६।

स्वान्तस्थ ईश्वर और राम की एकता का अनुभव हो सकता है, अतः 'मानस' के आदि मे ही कहा गया है :—

"भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्[1] ॥"

'मानस' का मर्म प्राप्त करने के लिए किसी विलक्षण बुद्धि की नहीं, ग्रंथकार की अभिव्यंजना-प्रणाली समझने की आवश्यकता है। उसने समझा दिया है कि श्रद्धा विश्वास युक्त हो शंकर-पार्वती सम्वाद के श्रवण और मनन से रामभक्ति की प्राप्ति द्वारा परम शांति-लाभ हो सकता है। पार्वती के सदृश श्रोता बनने से वही प्राप्त होगा जो उन्हे मिला। 'राम-चरित-मानस' के श्रवण से राम के स्वरूप, निर्गुण-सगुण, ज्ञान और भक्ति एवं अनेक अन्य ज्ञातव्य तथ्यों का बोध हो जाने पर पार्वती को जो प्राप्त हुआ, वह उनके वचनो से प्रकट है.—

"नाथ कृपा मम गत सन्देहा। राम चरन उपजेउ नव नेहा ॥
मैं कृतकृत्य भइऊँ अब तव प्रसाद विस्वेस।
उपजी राम भगति दृढ बीते सकल कलेस[2] ॥"

ग्रन्थकार तत्काल ही इस सम्वाद की विशेषता घोषित कर देता है :—

"यह सुभ सम्भु उमा संबादा। सुख संपादन समन बिषादा ॥
भव भंजन गंजन सन्देहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा ॥
राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्हके कछु नाही[3] ॥"

इसे सर्वसुलभ बनाने के लिए इसकी रचना संस्कृत में न कर भाषा में की गई कि 'गनी गरीब ग्राम नर नागर। पंडित मूढ़ मलीन उजागर[4]' सभी इसमें यथामति प्रवेश कर अपनी योग्यतानुसार राम-रस प्राप्त कर सकें। 'मानस' मे डुबकी लगानेवाला प्रत्येक मर्मी अपनी गतिके अनुसार मुक्ता प्राप्त कर सकता है। निरन्तर मुक्ता चुगनेवाले तो वे ही परमहंस है जो समदर्शी, समशील, हरिलीला का रहस्य जाननेवाले वक्ता और श्रोता है। उन्हें भक्ति और ज्ञान दोनो प्राप्त हैं।

---

१ 'मानस', वन्दना श्लोक २।
२. वही, उत्तर० १२८ ८, १२९।
३ वही १२९ ३
४ वही बाल० १२ ६

वस्तुत: 'मानस' में जीवन के साथ अध्यात्म और भक्ति के साथ ज्ञान का मणि-काँचन योग है। महाकवि ने स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान से उसका तात्पर्य क्या है, किस प्रकार उसे भक्ति में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है और उसमे नर और नारी का समान अधिकार है। इसीलिए उन्होने उमा को 'मानस' के प्रमुख श्रोता के रूप मे, अध्यात्म के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ आसन पर प्रतिष्ठित किया है। इसके द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि उनकी दृष्टि मे नारी भी ज्ञान के क्षेत्र में ऊँचे आसन की अधिकारिणी हो सकती है। हमे भूलना न चाहिए कि गोस्वामी जी ने मातृशक्ति को सर्वत्र अत्यन्त महत्त्व दिया है। नारी में माता का रूप देखना 'मानस' के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य की प्राप्ति करना है[1]। उसकी अवज्ञा करना 'मानस' के एक बड़े मर्म से हाथ धो बैठना है।

अब तपस्या एवम् योग-साधना मे नारी की स्थिति पर विचार कर लेना है। तप की महिमा का वर्णन गोस्वामी जी ने पार्वती-तपस्या के प्रसग मे किया है।[2] उनकी तथा शतरूपा की तपस्या में नारी की तपस्या-शक्ति का चरमोत्कर्ष दिखाई पडता है। रही योग की बात। सती और शबरी दोनों योगाग्नि में अपना शरीर भस्म करती है। परन्तु शबरी को मिलता है ब्रह्म-पद और सती का होता है पुनर्जन्म। शबरी को यह मिलता है राम-प्रेम और राम-कृपा से। ब्रह्मपद के प्राप्त होने पर पुनर्जन्म का प्रश्न नही रहता। सती को योगसिद्धि अवश्य प्राप्त थी पर राम-प्रेम प्राप्त न था। अत. योग कुयोग हो गया,[3] और हरिपद प्राप्त नहीं हो सका। कारण, संशय बना रहा और योग में सशयोन्मूलन हुए बिना हरिपद सम्भव नही[4]। इस क्षेत्र में इन दो के अतिरिक्त तीसरी नारी के भी दर्शन होते है जिसकी अन्तिम गति का पता नही चलता, पर जिसकी कुछ योग-सिद्धि और तपस्या प्रत्यक्ष हो जाती है।

---

१ यहाँ तक कि 'ज्ञानिनामग्रगण्यं' महावीर सुरसा जैसी नारी को भी 'माई' कहकर ही सम्बोधित करते है।

२ 'मानस' बाल० ७१.३-५।

३ तुलसीदास का मत है—
"जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥"
वही, अयो० २९०.२।

४ "सकल दृस्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत बियोगी॥
सोक, मोह, भय, हरष, दिवस-निसि, देस-काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यह दसा हीन संसय निर्मूल न जाहीं॥"
'विनय पद १६७

उसके स्वरूप-दर्शन से प्रश्न उठता है कि 'मानस' में सर्वत्र राम-प्रेम का महत्त्व प्रतिपादित होते हुए भी राम-प्राप्ति के प्रयत्न में इस नारी द्वारा योग-साधना तथा तपस्या का विधान क्यों किया गया है और इसे इष्ट-प्राप्ति के लिए राम के साक्षात्कार के पश्चात् भी उन्ही के द्वारा बदरीबन जाने की आज्ञा क्यों दिलवाई गई है ? यह है स्वयंप्रभा तपस्विनी जिसका उल्लेख बड़े अनोखे ढंग से हुआ है।

गोस्वामी जी ने स्वयंप्रभा का आख्यान विशेप रूप में प्रस्तुत किया है। यह आख्यान बाल्मीकीय एवं अध्यात्म रामायण मे विस्तार से दिया गया है। दोनों मे बहुत भिन्नता है, परन्तु गोस्वामी जी ने इसे एक तीसरा ही रूप दिया है। उन्होने यह प्रसंग अति संक्षेप मे रखा है और इसका विस्तृत विवरण व्यंग्य रूप मे ही रहने दिया है कि जो चाहे जिस रूप में ग्रहण करे। 'बाल्मीकि-रामायण' के अनुसार स्वयप्रभा मेरुसावर्णि की पुत्री एवं वृद्धा तपस्विनी है जिसकी तपस्या का कारण नही बतलाया गया है। वह मयासुर द्वारा निर्मित विशाल ऐश्वर्यशालिनी नगरी की रक्षा करती हुई अपनी सखी हेमा का कार्य भी कर रही है, पर है वह 'सर्वज्ञा' और धर्मानुष्ठान में लगी हुई। उसने वानरो से कहा कि मुझे किसी से कोई प्रयोजन नही है। उसने उनका आतिथ्य किया। तत्पश्चात् उन्हे आँखें मुँदवा कर एक योजन लम्बी विशाल गुहा के बाहर पहुँचा दिया और उन्हे सामने विन्ध्य प्रस्रवणगिरि तथा महासागर दिखलाकर पुनः उस गुहा में प्रवेश किया[1]।

'अध्यात्म रामायण' मे इसका रूप कुछ भिन्न है[2]। उस गुहा के भीतर जाकर वानरों ने मणिमय वस्त्रालंकारों से युक्त भवन, सरोवर, उपवन आदि के मध्य 'चीर वस्त्र' धारण किये हुए योगाभ्यास मे तत्पर स्वर्णसिंहासन पर आसीन योगिनी स्वयप्रभा के दर्शन किए। वह दिव्यगन्धर्व की पुत्री तथा विश्व-कर्माकी पुत्री हेमा की सखी थी, जिसने भगवान् शंकर को अपने नृत्य से प्रसन्न करके यहाँ की विभूति उपलब्ध की थी। उसने वानरों से कहा कि मै मोक्ष की आशा से विष्णु की उपासना में तत्पर थी और हेमा ने यहाँ से जाते समय मुझे बतलाया था कि त्रेता युग में राम का कार्य करने वानर आएँगे तब उनका सत्कार करके तू राम के पास जाकर उनकी वन्दना कर विष्णु का नित्य-धाम प्राप्त करेगी जो योगियो के प्राप्त होने योग्य है। उसने वानरो से आँखें

१ देखिए 'बाल्मीकि-रा०' किष्कि० सर्ग ५०-५२।

२ 'अध्यात्म-रा०' किष्कि० सर्ग ६ १२ ८४।

बन्द करवाकर उन्हे गुहा के बाहर पहुँचाया और तत्काल राम के पास आई। उनकी वन्दना कर याचना की कि जन्म-जन्म में मुझे भक्ति ही दीजिये। राम ने उससे कहा—बदरिकाश्रम को जा। मेरा स्मरण करती हुई पांचभौतिक शरीर छोड मुझ परमात्मा को ही प्राप्त हो जाएगी।

विचारणीय है कि गोस्वामी जी ने बाल्मीकीय और अध्यात्म रामायण के अनेक विस्तृत वृत्तान्तो को 'मानस' मे स्थान न देते हुए भी यह छोटा आख्यान नही छोडा और इसके द्वारा उस नारी के दिव्य स्वरूप का परिचय दिया जो स्वय प्रकाशित होने से स्वयप्रभा नाम की अधिकारिणी प्रतीत होती है। 'मानस' मे यह आख्यान सक्षिप्त पर अत्यन्त सारगर्भ रूप मे आया है[1]।

उपर्युक्त दोनो रामायणो के आख्यानों के साथ 'मानस' के आख्यान की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी ने केवल तपस्विनी की स्थिति एव उसके द्वारा वानरो की सहायता, इतना ही अंश वहाँ से ग्रहण किया है और शेष को विशिष्ट रूप किसी अज्ञात प्रयोजन से ही दिया है। 'मानस' के परम्परा-प्राप्त आख्यानो मे गोस्वामी जी ने जहाँ कही परिवर्तन किया है वहाँ उसका विशेष लक्ष्य है और यह भी अनुसन्धान के लिए एक रुचिकर

---

१. "चढि गिरि सिखर चहूँ दिसि देखा। भूमि बिबर एक कौतुक पेखा॥
चक्रबाक बक हंस उडाहीं। बहुतक खग प्रबिसहिं तेहि माहीं॥
गिरि ते उतरि पवन सुत आवा। सब कहुँ लेइ सोइ बिवर देखावा॥
आगे कै हनुमन्तहि लीन्हा। पैठ बिबर बिलंबु न कीन्हा॥

दीख जाइ उपवन बर सर बिगसित बहु कंज।
मंदिर एक रुचिर तहँ बैठि नारि तपपुंज॥

दूरि ते ताहि सबन्हि सिरु नावा। पूछें निज बृत्तान्त सुनावा॥
तेहि सब कहा करहु जल पाना। खाहु सुरस सुन्दर फल नाना॥
मज्जनु कीन्ह मधुर फल खाए। तासु निकट पुनि सब चलि आए॥
तेहि सब आपनि कथा सुनाई। मै अब जाब जहाँ रघुराई॥
मूँदहु नयन बिबर तजि जाहू। पैहहु सीतहि जनि पछिताहू॥
नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढे सकल सिन्धु के तीरा॥
सो पुनि गई जहाँ रघुनाथा। जाइ कमल पद नाएसि माथा॥
नाना भाँति बिनय तेहि कीन्हीं। अनपायनी भगति प्रभु दीन्हीं॥

बदरीबन कहुँ सो गई प्रभु आज्ञा धरि सीस।
उर धरि राम चरन जुग जे बदत अज ईस॥"

'मानस', किष्कि० २३ ५ २५।

विषय है। बिना किसी कारण, परम्परा-प्राप्त कथा में से किसी विशेष आख्यान को न निकाला गया है और न बिना किसी विशेष प्रयोजन के उसमें परिवर्तन ही किया गया है। दोनों रामायणों की इस कथा के स्वरूप में भी बहुत भिन्नता है। 'वाल्मीकि-रामायण' में इसका कोई आध्यात्मिक पक्ष नहीं, परन्तु 'अध्यात्म रामायण' में आध्यात्मिक पक्ष प्रधान है। तुलसीदास ने कथा के अनेक विवरणों को लिया ही नहीं है। उन्होंने उस स्थान की तपस्विनी का तथा उसकी तपस्या का स्वरूप एवं प्रयोजन सभी अपनी विशिष्ट दृष्टि से प्रस्तुत किए हैं। यहाँ न तो सुवर्ण और चाँदी के महल हैं न विविध ऐश्वर्य की सामग्री ही। तपस्विनी किसी स्वर्णसिंहासन पर विराजमान भी नहीं है। वह न तो हेमा की नगरी की रक्षा के लिए तपस्या कर रही है और न उसे हेमा यह बता ही गई है कि राम के आने पर तुम्हें विष्णु का धाम मिलेगा। वह एक ऐसी तपस्विनी है जो अपने तप-बल से 'तपपुंज' के रूप में दृष्टिगोचर हो रही है। उस गुहा में कोई भवनादि नहीं, केवल सरोवर, कुंज तथा एक मन्दिर है। वह किसका है ज्ञात नहीं। स्वयंप्रभा का पूर्व-परिचय कुछ नहीं है। अन्त में उसने वानरों को अपनी जो कथा सुनाई उसके वृत्तान्त का भी संकेत यहाँ नहीं है। अहल्या की संक्षिप्त कथा में इतना संकेत प्राप्त होता है.—

"गौतम नारी साप बस उपल देह धरि धीर[1]।"

यहाँ उतना भी नहीं। प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी उसका परिचय गुप्त ही रखना चाहते हैं। अन्यथा, वह किसकी पुत्री या सखी या पत्नी है इतना परिचय देने की उनकी प्रणाली अन्यत्र बराबर देखी जाती है, जैसे 'गौतम नारी', 'सुरसा नाम अहिन्ह कै माता', 'सूपनखा रावन कै बहिनी' आदि में। इसी प्रणाली पर वे 'स्वयंप्रभा हेमा की सखी' तो कह ही सकते थे। इसे उन्होंने गोपनीय ही रखा। क्योंकि उन्हें उसे केवल किसी प्राचीन कथा के पात्र के रूप में उपस्थित करना इष्ट नहीं था। उन्हें तो स्वयंप्रभा के रूप में नारी के उस रूप की प्रतिष्ठा करनी थी, जिसमें वह योग-साधना की पूर्ण अधिकारिणी है और इस क्षेत्र में भी पुरुष से एक कदम आगे बढ़ जाती है। वह इस बात में कि इस मार्ग पर भी वह अपने आत्मबल के आधार पर ही एकाकी रूपमें आगे बढ़ती और अपनी मूक साधना द्वारा भी वह कार्य कर सकती है जो बड़े-

---

१ 'मानस' बाल० २१५।

बडे योगियो के लिये सम्भव नही है तथा राम की कृपा से इसी एकान्त साधना द्वारा ही वह परमपद की अधिकारिणी हो सकती है।

स्वयंप्रभा 'तपपुंज' थी। निर्जन वन में तपस्या करते हुए अब तक राम के सगुण रूप की ही अराधना कर रही थी। उसने वानरो को सीता जी की प्राप्ति का आश्वासन देकर सागर तट तक एक क्षण मे पहुँचा दिया। यह विशेषता 'मानस' की स्वयंप्रभा मे ही है। पूर्वकथाओ में उसने वानरो को गुहा के बाहर तक अपने तप-बल से भेजा अवश्य है पर स्वयं उनके साथ उसके बाहर तक आई है। 'मानस' में विलक्षणता यह है कि उसने वहीं बैठे-बैठे वानरो को एक क्षण मे सिन्धु-तट पर पहुँचा दिया है।

स्पष्ट है कि अपनी साधना के तेज से स्वयं प्रकाशित इस 'नारि तपपुंज' ने सिद्धि के फलस्वरूप दिव्यदृष्टि प्राप्त की थी। अन्यथा इस एकान्त गुफा में, जिसका अनुमान पर्वत-शिखर पर चढकर जलपक्षियो को देखकर ही लगाया गया था, उसे सीता का पता देने कौन आया? वानरों ने सीता का पता उससे नही पूछा पर उसने दिव्यदृष्टि के बल पर ही उन्हे आश्वासन दिया—'पैहहु सीतहि जनि पछिताहू।' अलौकिक कार्य-साधना की शक्ति भी उसे प्राप्त थी। तभी तो ऐसे वानरवृन्द को, जिसके नेता 'अतुलितबलधामं' महावीर थे, एक क्षण मे अपने योग-बल से उसने सिन्धुतट पर पहुँचा दिया। इस सिद्धि से आगे बढकर उसे परम साध्य की उपलब्धि करनी शेष थी। उसके पहले उसे राम का कार्यसाधन करना था। प्रतीत होता है वह इसी कार्य के लिए रुकी हुई थी कि इसे सम्पन्न कर इष्ट पथ पर आगे बढे। इसीलिए अब तक वह तप मे निरत रही और इसके पश्चात् ही तुरन्त राम के दर्शन करने गई। उनसे अनपायिनी भक्ति का वरदान प्राप्त करने पर भी वह पूर्णकाम नही हो सकी। इसीलिए आगे और अधिक तप करने की, राम की आज्ञा मान कर, उसने दूरस्थ बदरीवन के लिए प्रस्थान किया। आगे की साधना के लिए प्रस्थान करते समय हृदय में धारण किया न सीताराम को न 'अनुज जानकी सहित' प्रभु को। धारण किया, हृदय में भगवान् के चरणों को ही। यह एक ऐसी साधक है जो भगवान् के दर्शन और 'अनपायिनी भक्ति'[1] प्राप्त करके भी वही स्थित नही रहती। कुछ भक्त राम के दर्शन के फलस्वरूप भक्ति का

---

१ "सो पुनि गई जहाँ रघुनाथा। जाइ कमल पद नाएसि माथा।
नाना भाँति विनय तेहि कीन्ही। अनपायनी भगति प्रभु दीन्ही॥"
मानस किष्कि २४।७-८।

वरदान पाकर अपने स्थान में ही भक्ति में लीन होते रहे, दूसरे मुक्ति प्राप्त कर परमधाम सिधारे। परन्तु यह एक विलक्षण भक्त इस रूप में है कि भगवान् की सेवा का कार्य साधा, उन्हें प्राप्त किया, दुर्लभ 'अनपायिनी' भक्ति[1] का वरदान पाया फिर भी दूरस्थ, नितान्त एकान्त और निर्जन वन में चली गयी। न तो तुलसी ने उसे दण्डक वन ही भेजा जो ऋषि मुनियों का तपस्थल था और न चित्रकूट ही भेजना उचित समझा जहाँ छ मास में ही केवल रामनाम के जप से सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाएँ[2]। और भी विलक्षणता यह कि अनपायिनी भक्ति का वर देने के पश्चात् भी राम ने स्वयं उसे बदरीवन जाकर तप करने की आज्ञा दी। फिर उसका क्या हुआ यह बतलाने की आवश्यकता कवि ने नहीं समझी। योग के तप से ब्रह्मपद प्राप्त नहीं होता यह तुलसीदास की धारणा नहीं है। यह तो सूर का मत है कि योग-साधना व्यर्थ है। गोस्वामी जी ने स्वयंप्रभा को बदरीवन तप में लीन होने भेजा है इसलिए कि उनके मतानुसार :—

> "सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
> सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत वियोगी[3]॥"

अस्तु सन्देह नहीं कि अनपायिनी-भक्ति-सम्पन्न इस तपपुंज नारी ने अवश्य ही राम-कृपा से अद्वैत परम पद की उपलब्धि की होगी।

---

१ यह भक्ति विरले ही भक्तों को प्राप्त होती है। शंकर भगवान् श्री हनुमान एवं सनकादि ने इसे प्राप्त किया है। भगवान् शंकर की याचना है—
"बार बार बर माँगौं हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥"

'मानस' उत्तर १४।

हनुमान का भी यही निवेदन है :—
"नाथ भगति अति सुखदायिनी। देहु कृपा करि अनपायिनी॥"

वही, सुन्दर ३३. १।

सनकादि ऋषियों की याचना है—
"परमानन्द कृपायतन मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम॥"

वही, उत्तर० ३४।

२ "पय अहार फल खाइ जपु राम नाम षट मास।
सकल सुमगल सिद्धि सब करतल तुलसीदास॥"

दोहा० ५

३ विनय० पद १६७

स्वयंप्रभा की साधना मे ऐसी नारी का रूप प्रत्यक्ष है जो तप के बल पर रामकृपा को प्राप्त करती और उसके द्वारा सगुण भक्ति से आगे बढ़कर अद्वैत की प्राप्ति भी करती है। प्रत्यक्ष हो जाता है कि योग-साधना का परम लक्ष्य सगुण नही है पर बिना सगुण के निर्गुण की प्राप्ति भी सम्भव नही[1]। माया विशिष्ट होने पर गुणों को स्वीकार कर निर्गुण ही सगुण रूप धारण करता है। निर्गुण की प्राप्ति सरलता से सम्भव न होने पर उसकी साकार कल्पना उसके ध्यान में सहायक हो सकती है। सम्भवत इसीलिए ब्रह्म-साक्षात्कार के अभिलाषी, निर्विकल्प समाधि के लिए प्रयत्नशील योगियों के यहाँ विभिन्न चक्रो मे विभिन्न देवताओं का रूप भी कल्पित किया जाता है। मूलाधार के देवता ब्रह्मा है, स्वाधिष्ठान के विष्णु और सहस्रदल पद्म के शून्य चक्र के देवता है सदाशिव अथवा परब्रह्म[2]। मूलाधार से सहस्रार तक कुंडलिनी ले जाना—सभी देवताओं के स्थान से आगे परब्रह्म के स्थान तक उसे पहुँचाना—ही उनकी साधना है। स्वयंप्रभा की स्थिति बहुत कुछ यही है। अन्तर केवल इतना है कि अन्य किसी की शरण न ले सीधे राम (सगुण) और वहाँ से सीधे परम तत्त्व (निर्गुण) तक उसे पहुँचना है। तपस्या द्वारा सिद्धि प्राप्तकर वह राम की सेवा का कार्य करती है, तब उन्हे प्राप्त कर सदाशिव की ओर अग्रसर होती है। गोस्वामी जी बतलाना यह चाहते है कि राम-कृपा-विहीन को परमपद की प्राप्ति नही हो सकती, चाहे उसकी तपस्या कितनी ही श्रेष्ठ क्यो न हो और फलस्वरूप उसे कितनी ही महान् सिद्धि क्यों न प्राप्त हो। स्वयंप्रभा की तप-सिद्धि कितनी महान् थी उसका उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु ब्रह्मपद-प्राप्ति के मार्ग पर वह तभी अग्रसर हो सकी जब उसने श्रीराम की कृपा से अनपायिनी भक्ति प्राप्ति की।

---

१ दीर्घ काल पर्यंत तपनिरत रहने पर भी स्वयंप्रभा बिना रामकृपा के बदरीवन नही जा सकी। गोस्वामी जी ने दृढ़तापूर्वक कहा भी है :—

"ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास॥"

'दोहा०' २५१।

२ देखिए 'कल्याण'—'योगांक'। इसके 'श्रीकुंडलिनी शक्तियोग' लेख में श्री त्र्यम्बक शास्त्री खरे ने इसका पूर्ण परिचय चित्रों सहित दिया है। सहस्रदल में सदाशिव का रूप अंकित किया जाता है जिसमें समाधिस्थ शंकर शक्ति सहित विराजमान रहते है

तुलसीदास के मत में साधना के क्षेत्र में भक्ति और योग की स्थिति क्या है, इसे भी देख लेना है। 'विनय-पत्रिका' में इस सम्बन्ध का एक पद है—

"रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई॥
जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी।
सफरी सनमुख जल प्रवाह, सुरसरी बहै गज भारी॥
ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ बल तें न कोउ बिलगावै।
अति रसज्ञ सूच्छम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै॥
सकल दृस्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत-बियोगी॥
सोक, मोह, भय, हरष, दिवस-निसि, देस-काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहि दसाहीन संसय निर्मूल न जाहीं[1]॥"

भक्ति की कठिन सरलता का यही रूप है। गंगा की प्रबल धारा हाथी को बहा ले जाती है किन्तु तैरने की कला में निपुण मछली वही प्रवाह बड़ी सरलता से काटकर विपरीत दिशा में चलकर पार हो जाती है। यह उलटा मार्ग 'मीन मार्ग' कहलाता है और इसके रहस्य का ज्ञाता संसार के प्रवाह को सरलता से पार कर लेता है। संतमत की साधना में जिस 'मीनमार्ग' का महत्त्व है उसका अर्थ जगत् के सहज प्रवाह से विपरीत दिशा की ओर जाना ही है। पर इस मार्ग की सफलता वहाँ भी दुष्प्राप्य बताई गयी है। किन्तु गोस्वामी जी ने इससे भक्ति की तुलना इसे अति सरल बताने के लिए की है। मछली की सहज प्रकृति उलटे रास्ते का अनुसरण करने की है। अतः जिसकी सहज विरक्ति संसार के सहज प्रवाह से हो गयी उसके लिए यह मार्ग उतना ही सरल है जितना मछली के लिए। मछली ने यह शिक्षा किसी गुरु से नहीं पाई, यह उसका सहज स्वभाव है। उसी प्रकार राम-भक्त भी संसारी विषयों के प्रति सहज विरक्ति लेकर अवतरित होते हैं[2]। फिर उनके लिए यह सरल क्यों न हो? कठिन तो उसी के लिए है जिसे सहज विरक्ति के अभाव में बरबस अपनी इन्द्रियों का दमन

---

१ 'विनय' १६७।

२ "रमाबिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥"
'मानस' अयो० ३२४।८

का चित्रण है जिसे संसार से सहज विरक्ति नहीं और जो किसी कारणवश रामरस का बोध होने पर भी उसकी अनुभूति से वंचित रही है। उसके लिए सिवा इसके क्या शेष रहा कि वह स्वयं को तप में लगाए तथा संसार के विषयों को उसमें भस्म कर स्वयं प्रकाशित हो उठे और उसे प्राप्त करे जो मानव मात्र को सदैव घेरे रहने वाले इन विषयों से मुक्त करने वाला तथा 'निरबान प्रद' है। 'जनम जनम रति राम पद' की कामना करने वाले सहज विरागी तो राम-रस-लीन रहने के कारण विषयों के मध्य में रहकर भी उनसे विमुख रह सकते हैं[1]। परन्तु सहजविरक्ति-हीन के लिए उनसे दूर रहना ही श्रेयस्कर है। इस स्थिति में निर्वाण की प्राप्ति ही उसका लक्ष्य होना स्वाभाविक है। ऐसे अनेक साधक किसी न किसी गुरु से दीक्षित हो साधना में संलग्न रहते हैं। स्वयंप्रभा की एक विशेषता यह भी है कि वह किसी गुरु की शरण लेती नहीं दिखलाई पड़ती। जान पड़ता है कि उसके चित्रण द्वारा कवि संकेत करना चाहता है कि नारी में वह आत्मशक्ति होती है जिसके बलपर एक बार दृढ़ निश्चय कर तपस्या का मार्ग ग्रहण करने से उसके स्खलित होने की संभावना नहीं रहती। अत. ऐसे अवसर पर सँभलने वाले गुरु की अपेक्षा भी नहीं।

स्पष्ट है कि तुलसीदास की दृष्टि में गुरु के अभाव में भी नारी केवल राम का सहारा लेकर योग-साधना और तपस्या के पथ पर अग्रसर हो परम प्राप्य सदाशिव पद तक निर्विघ्न पहुँच सकती है। अत. इसमें सन्देह नहीं कि भक्ति, रामप्रेम-प्रधान ज्ञान एवम् योग में नारी का अधिकार लोकद्रष्टा तुलसी को पूर्णरूपेण मान्य है।

'मानस' की अन्य नारियों की भी इस दृष्टि से संक्षिप्त चर्चा हो जानी चाहिए। कतिपय लोगो का मत है कि 'मानस' के सभी पात्र राम-भक्त है। कुछ राम-प्रेम के कारण प्रेमी भक्त है तो कुछ राम से विरोध अथवा बैर मानने के कारण विरोधी भाव के भक्त है। विरोध का भाव भी भक्ति के क्षेत्र मे प्रवेश पा सकता है या नही, हमें यहाँ इसका विवेचन इष्ट नही है। देखना

---

१. श्री भरत जी ऐसे भक्तों के शिरोमणि हैं। उन्होंने 'निर्बान' की उपेक्षा कर 'जनम जनम रति राम पद' की कामना की और अयोध्या के अद्वितीय ऐश्वर्य के मध्य चम्पक बाग में भ्रमर की भाँति भाव से रहे

यह है कि तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए जिन तीन नारियो को विशेष दृष्टि से विशेष क्षेत्रों मे सर्वोत्कृष्ट पद पर आसीन किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्य नारी पात्रों की भक्ति-भावना का स्वरूप क्या है।

पराभक्ति स्वरूपा जगज्जननी सीता का रूप निम्नांकित पंक्तियों में प्रत्यक्ष कर दिया गया है—

"गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बन्दौं सीता राम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥"[१]

अतः उन्हे राम से पृथक् एक भक्त के रूप मे न देखकर राम की अभिन्न शक्ति फलतः भक्तों की परम आराध्या के रूप मे ही देखना उचित है। हाँ, लौकिक चरित के अन्तर्गत उनका पत्नी रूप अवश्य विचारणीय है।

माता कौसल्या का स्थान इस क्षेत्र मे अद्वितीय और विलक्षण है। शतरूपा के रूप में उनकी तपस्या और भक्ति वन्दनीय है। उस समय उन्होंने अलौकिक विवेक का जो वरदान माँगा है वही उनके चरित की अनुपम महानता का कारण है। उनकी भक्ति वात्सल्य भाव की होते हुए भी सदा विवेक अथवा ज्ञान का आश्रय लेकर चलने वाली है। ज्ञान के योग से भक्ति में जो दिव्यता आ सकती है उसका साक्षात्कार कौसल्या में होता है। इसी के फलस्वरूप सामाजिक क्षेत्र मे उनके चरित्र द्वारा माता के अलौकिक आदर्श की प्रतिष्ठा हो सकी है।

माता सुमित्रा की भक्ति की जितनी प्रशंसा की जाए थोडी है। उन्होंने 'रघुपति भगत' पुत्र को जन्म देना ही मातृत्व की सफलता माना है।[२] उनका राम-प्रेम, उनका धैर्य, उनकी व्यवहार कुशलता सभी प्रशंसनीय है।

माता कैकेयी का राम-प्रेम या तो मन्थरा से वार्तालाप के समय ज्ञात होता है या फिर उनकी मूक ग्लानि ही उसका निवेदन करती रहती है। आध्यात्मिक दृष्टि से, स्वयं कलंक लेकर राम की कार्य सिद्धि मे सहायक कैकेयी का जीवन राम-भक्ति का अन्यतम उदाहरण है।

अयोध्या और जनकपुर की स्त्रियो से लेकर ऋषिपत्नियों, ग्रामवधूटियों तथा वनवासिनियों तक सभी स्त्रियाँ किसी न किसी रूप में प्रभु की कृपा-भाजन है।

---

१ 'मानस' बाल० २३।

२ वही, अयो० ७४.१।

मंथरा की स्थिति कुछ विचित्र है। वह सरस्वती की प्रेरणा से राम के प्रतिकूल कार्य अवश्य करती है परन्तु इसके पूर्व उसका यह रूप नहीं, यह स्पष्ट है।

वानर-समाज की तारा ने क्या साधना की, पता नहीं। यह अवश्य है कि प्रभु की अकारण दयालुता के कारण ही उसे ज्ञान हुआ और उसने भक्ति का वरदान माँग लिया :—

"तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया।
× × ×
उपजा ज्ञान चरन तब लागी। लीन्हिसि परम भगति बर मांगी॥"[१]

त्रिजटा एक ऐसी राक्षसी है जो राम-महिमा जानने वाली और जानकी की सहायिका है। राक्षस वर्ग की दो प्रमुख स्त्रियाँ हैं—शूर्पणखा और मन्दोदरी। शूर्पणखा रामभक्त नहीं है। वह तो राम को मानव समझकर ही मानवी रूप धारण कर अपनी दानवी प्रवृत्ति की तृप्ति के हेतु उनके समक्ष आती और तदनुसार फल भोगकर चली जाती है। प्रबन्ध-दृष्टि से उसका महत्त्व अवश्य है जिसका संकेत निम्नांकित दोहे में प्राप्त होता है —

"लछिमन अति लाघौ सो नाक कान बिनु कीन्ह।
ताके कर रावन कहुँ मनौ चुनौती दीन्ह॥"[२]

मय दानव की कन्या, त्रैलोक्यविजयी राक्षसराज की पत्नी मन्दोदरी सामान्य नारी नहीं है। प्रातःस्मरणीय पंच कन्याओं में उसकी भी गणना की जाती है। वह पतिव्रता पत्नी है। उसने राम का स्वरूप समझ लिया है। कहा नहीं जा सकता कि राम ने माता कौसल्या अथवा काकभुशुण्डि की भाँति कभी उसे भी अपने विराट रूप के दर्शन कराए अथवा नहीं, पर उसे 'बिस्व रूप रघुबंस मनि' और सीता के स्वरूप का पूरा-पूरा बोध है। राम के स्वरूप का जैसा निरूपण रावण के समक्ष मन्दोदरी के द्वारा हुआ है वैसा अन्यत्र नहीं दिखाई देता। राम के ब्रह्मत्व का विवेचन विविध अवसरों पर विविध पात्रों के मुख से हम सुनते हैं। परन्तु यह मन्दोदरी के द्वारा ही सुनाई पड़ता है कि जड़चेतनमय समग्र सृष्टि ही राम का स्वरूप है। पद पाताल है, ब्रह्म लोक

---

१ 'मानस' किष्कि० १०.३,६।
२ वही, अरण्य० ११।

दुर्दशा पर विषाद करती राम का गुणगान करती है कि इतने पर भी इन्होंने उसका उद्धार कर दिया[1]। रावण के बल-प्रताप का वर्णन कर उसके भीषण अन्त पर अन्त में वह विह्वल होकर राम की दयालुता का गुणगान कर उठती है:—

> "जान्यो मनुज करि दनुज कानन दहन पावक हरि स्वयं।
> जेहि नमत सिव ब्रह्मादि सुर पिअ भजेहु नहि करुनामयं॥
> आजनम ते पर द्रोह रत पापौघमय तव तनु अयं।
> तुम्हहू दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं॥
> अहह नाथ रघुनाथ सम कृपा सिन्धु नहि आन।
> जोगिवृन्द दुर्लभ गति तोहि दीन्ह भगवान[2]॥"

प्रतीत होता है कि मन्दोदरी के प्रभाव से ही रावण की अन्य पत्नियाँ भी राम का गुणगान करने लगी हैं।

निष्कर्ष यह कि 'मानस' में कतिपय राक्षसी वर्ग के अतिरिक्त प्रायः अन्य सभी स्त्रियाँ किसी न किसी रूप में रामभक्त हैं। इनमें भी शबरी, पार्वती एवं स्वयंप्रभा का इस महाकाव्य के गौरव में विशेष स्थान है। इनके चित्रण में कवि की दृष्टि सभी प्रकार से स्तुत्य है। कोई आश्चर्य नहीं कि नारी वर्ग की इस विशेषता के कारण ही महाकवि ने सन्त-समाज में रामचरित की प्रतिष्ठा विष्णुरूप में न कर राम-कथा की प्रतिष्ठा लक्ष्मी-रूप में इस प्रकार की है :—

> "संत समाज पयोधि रमा सी। बिस्व भार भर अचल छमा सी[3]॥"

अन्त में 'श्रीकृष्णगीतावली' की भक्त नारियों पर भी दृष्टिपात कर लेना है। वहाँ माता यशोदा से लेकर समस्त गोपिका-वृन्द तक सभी स्त्रियाँ कृष्ण की भक्त हैं। बाल लीला में माखनचोरी ही प्रधान है। उसमें तथा दो-चार अन्य पदों में माता के वात्सल्य की मधुर झाँकी है। अन्तिम दो पदों में द्रौपदी के उद्धार का मार्मिक वर्णन है। गोपियों की भक्ति माधुर्य भाव की है। उनके प्रेम की अनन्यता की अभिव्यक्ति भी अत्यन्त रमणीय है, परन्तु कृष्ण की प्रेम लीलाओं का विस्तार वहाँ नहीं है। शृंगार के

---

१ 'मानस', लंका० १०३. ५-१०४।
२ वही, लंका० १०३, १४-१६।
३ वही, बाल० ३१. १०।

संयोग-पक्ष का अभाव है। गोपियों का वियोग-वर्णन नौ पदों में और भ्रमर-गीत का प्रसंग अट्ठाइस पदों में है। इस प्रकार कुल इकसठ पदों की इस रचना का अधिकांश वियोग से ही सम्बन्धित है। कुब्जा पर विशेष दृष्टि है। कुब्जा के प्रति गोपियों की भावना उदार है। एक गोपी का प्रस्ताव है :—

"सब मिलि साहस करिय सयानी।
ब्रज आनियहि मनाइ पाँय परि कान्ह कूबरी रानी॥
बसे सुबास सुपास होहि सब फिरि गोकुल रजधानी।
महरि-महर जीवहि सुख जीवन खुलहि मोद-मनि खानी॥
तजि अभिमान अनख अपनो हित कीजिय मुनिबर बानी॥
देखिबो दरस दूसरेहु चौथेहु बड़ो लाभ लघु हानी॥
पावक परत निषिद्ध लाकरी होति अनल जग जानी॥
तुलसी सो तिहुँ भुवन गाइबी नंद सुवन सनमानी[1]॥"

दूसरी उसका समर्थन करती है :—

"कही है भली बात सब के मन मानी।
प्रिय सम प्रिय सनेह-भाजन सखि। प्रीति-रीति जग जानी[2]॥"

यह प्रेम की अत्यन्त सात्विक और उदात्त वृत्ति है। प्रिय का स्नेहभाजन प्रेमी को भी प्रिय होना चाहिए। गोपियों का अनन्य प्रेम तुलसीदास को अमान्य नहीं, परन्तु उनके यहाँ उसका अधिक महत्त्व नहीं है। उसे लोक-कल्याण के हित मे न देख उन्होंने उसका अधिक विस्तार नहीं किया है।

राम की भाँति ही कृष्ण के परम रूप का बोध कराने का प्रयत्न यहाँ भी है :—

"तुलसी प्रभु प्रेम बस्य मनुज-रूप धारी[3]।"

और,—

"तुलसिदास त्रैलोक्य बिमोहन रूप कपट नर त्रिबिध-सूल हर[4]।"

आदि इसके उदाहरण है।

---

१ 'श्रीकृष्ण गीता०' पद ४८।
२ 'श्रीकृष्णगीता०', पद ४९।
३ वही, पद १।
४ वही पद २१।

वास्तव में 'श्रीकृष्णगीतावली' की रचना कृष्ण चरित का गान कर सांप्रदायिक भावना को दूर करने की दृष्टि से की गई है, कुछ भक्ति के निरूपण अथवा भक्तो के चरित-गान के लिए नहीं। तुलसीदास को सेवक-सेव्य भाव ही की भक्ति का प्रचार इष्ट है।

अध्याय ३

नारी और समाज

नारीतत्त्व सृष्टि का मूल है। माया द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति होती है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से सृष्टि का रहस्य समझाते हुए कहा है :—

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता[१]॥"

स्त्रीतत्त्व केवल सर्जन ही नहीं पालन और संहार का भी मूल होता है। ब्रह्म और माया के योग से सृष्टि का निर्माण होने के कारण उसमें सर्वत्र पुरुष तत्त्व और स्त्रीतत्त्व व्याप्त है। चारों ओर निष्क्रिय शिव और सक्रिय शक्ति की लीला हो रही है। प्रत्येक देवता की शक्ति अभिन्न रूप से उसके साथ स्थित होकर उसके कार्य-सम्पादन मे निरत रहती है। क्या मनुष्य, क्या पशु-पक्षी, क्या वनस्पति-जगत् सभी में नर और नारी के युग्म प्राप्त होते है। यहाँ तक कि स्थूल जगत् के सूक्ष्मतम अवयव अणु में भी दो भेद माने जाते हैं। इनके सर्वत्र अन्योन्याश्रित होते हुए भी, कई कारणों से पुरुष की अपेक्षा नारी का महत्त्व अधिक है। स्त्री माया का रूप होने से सक्रियता का प्रतीक और पुरुष की निष्क्रियता को दूर करने वाली है। इसी से पुरुष ने सदैव नारी को अपना प्रेरणा स्रोत स्वीकार किया है।

'राम-चरित-मानस' मे आदि शक्ति की अभिव्यक्ति मातृशक्ति के रूप में हुई है और विभिन्न रूपो मे उसके दर्शन होते है। विद्या और अविद्या, सुमति और कुमति, तृष्णा और वासना के रूप में भी वही प्रकट है। जो उसके विद्या रूप को मातृभाव से पूज्य मानता और ज्ञान का आश्रय लेकर अविद्या रूप का

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता', अध्याय १४, श्लोक ३ ४।

त्याग करता है उसका लोक और परलोक सब जाता है, परन्तु जो उसे नारी मात्र और हीन समझ केवल वासना-पूर्ति का साधन बना, उस पर अत्याचार करता है उसका सर्वनाश अवश्यम्भावी है।

मातृशक्ति की महिमा माता के रूप में पराकाष्ठा को प्राप्त होती है। मातृतत्त्व को समझाने के लिए 'मानस' में जहां एक ओर उसका आध्यात्मिक रूप स्पष्ट किया गया है वहीं दूसरी ओर उसका लौकिक रूप समाज में माता के रूप में प्रतिष्ठित करके दोनों रूपों में उचित समन्वय की स्थापना की गई है। माता के आध्यात्मिक और लौकिक रूप का यह मणिकांचन योग मुक्तकों में न प्रबन्ध की भाँति सम्भव था न आवश्यक ही। अतः अन्यत्र साहित्यिक और नैतिक मर्यादाओं के साथ लौकिक दृष्टि से भी नारी के विविध रूपों का चित्रण है। माता का लौकिक महत्त्व भी सर्वमान्य है। अर्द्धांगिनी और जीवन-सहचरी होते हुए भी पत्नी उस महत्त्व की अधिकारिणी नहीं हो सकती। माता का स्थान आचार्य तथा पिता से भी ऊँचा एवं सभी प्रकारसे पूजनीय है।

राम-चरित में जिन माताओं का चित्रण है वे हैं—कौसल्या, कैकेयी, सुमित्रा, सुनयना, मैना, सीता, तारा एवं मन्दोदरी। 'श्रीकृष्णगीतावली' में माता यशोदा की एक झलक दिखाई पड़ जाती है।

शतरूपा के रूप में माता कौसल्या की महान् तपस्या से निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप में प्रकट होकर वरदान देने के लिए बाध्य हो गया। उन्होंने भगवान् के पुत्र रूप में प्राप्त होने का वरदान प्राप्त किया। तदनन्तर उनके ही आग्रह से ऐसी आकांक्षा प्रकट की :—

"जो बरु नाथ चतुर नृप माँगा। सो कृपालु मोहि अति प्रिय लागा।।
प्रभु परन्तु सुठि होत ढिठाई। जदपि भगत हित तुम्हहिं सुहाई।।
तुम ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी।।
अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई।।
जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं।।
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु।।"

---

१ 'मानस' बाल० १५४१ १५५

कौसल्या की इस वाणी को 'मृदु गूढ' और 'रुचिर' ठीक ही कहा गया है। थोडे में ही सब कुछ माँग लिया गया है। प्रभु के 'निज' भक्तों को प्राप्त होने वाले सुख, सद्गति, भक्ति एव रामपद-प्रेम के साथ सबके सिरमौर 'विवेक' की याचना भी धन्य है। इनके अतिरिक्त प्रभु की लोक-लीला मे योग देने के लिए आवश्यक है भक्तों की 'रहनि' भी[१]। कारण, भक्त ससार मे जीवन-यापन करते हुए, भक्ति की मर्यादापूर्ण 'रहनि'—अपने आचरण की मौन भाषा—में प्रभु का सन्देश सुना कर लोक-कल्याण कर सकता है। इस प्रकार भक्ति का सर्वस्व ही माँग लिया गया—प्रेम, विवेक और रहनि। ऐसी माँग विवेक के बिना सम्भव नही हो सकती थी। अतः प्रभु ने वरदान दिया:—

"मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें[२]॥"

और स्पष्ट कर दिया कि विवेक तो तुममें है ही। 'तोरें' की व्यंजना है—'तोरे है'। हाँ, वह अलौकिक होगा और कभी मिटेगा नही।

इस प्रकार उन्हे वह ज्ञान मिला जो भक्ति को प्रधान और राम-प्रेम को सर्वस्व मानता तथा लोक-कल्याणार्थ जीवन अर्पण को ही उसकी सफलता समझता है। यही है अलौकिक ज्ञान अथवा विवेक। लोक में जीवन-यापन की कामना को अलौकिक ज्ञान मानना कुछ अटपटा-सा प्रतीत होता है। वस्तुत है यह सीधी सी बात। 'मानस' मे ज्ञान, विज्ञान और विमल विज्ञान का उल्लेख है। सामान्यतः ज्ञान का तात्पर्य होता है किसी भी विषय का बोध होना, यथा साहित्य का ज्ञान, दर्शन का ज्ञान आदि। इससे आगे है विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान। अतः लौकिक—ज्ञान हुआ लौकिक वस्तुओं एवं विद्याओ का बोध और लौकिक विज्ञान हुआ उनका विशेष बोध। 'विमल विज्ञान' वह होगा जिससे लौकिक और आध्यात्मिक का स्वरूप स्पष्ट हो जाए। 'विमल' का अर्थ है निर्मल'। निर्मलता होने पर मलिनता नहीं रहती और 'निर्मल मति[३]' द्वारा लोक और परलोक दोनो के तत्त्वो का बोध ही 'विमल

---

१. देखिए 'विनय' पद १७८—'कबहुक हौं यहि रहनि रहौंगो।"

२ 'मानस,' बाल० १५१'३।

३. तुलसीदास 'जनक सुता जगजननि जानकी' से इसी निर्मल मतिकी कामना करते है।

"जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुना निधान की॥
ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपा निरमल मति पावउँ॥"

मानस' बाल २१७ ८

विज्ञान' है। अलौकिक ज्ञान वह है जिसके द्वारा इस विमल विज्ञान की उपलब्धि होने पर लोक और परलोक दोनों के समन्वय का ऐसा बोध हो कि लोक में रहते हुए भी परलोक की स्थिति हो सके और लौकिक जीवन में ही अलौकिक उतारा जा सके। तुलसीदास की सम्मति में ऐसा ही जीवन ज्ञान की सफलता और भक्ति का लक्ष्य है। यही अलौकिक ज्ञान कौसल्या को प्राप्त हुआ और प्रभु की कृपा से कभी मिटा नहीं। उनके लिए कभी राम से विलग होकर जीवित रहना असम्भव न हुआ। फलतः उन्होंने माता का वह आदर्श उपस्थित किया जो लोक-कल्याण के लिए अति आवश्यक और नारी की उस प्रतिष्ठा का हेतु है जिसे माता के रूप में उसे प्रदान करना तुलसीदास का इष्ट है। नारी यदि आदर्श पथ से विचलित होती है तो पुरुष को उस पर स्थिर रखने वाला है ही कौन ? माता के सर्वोत्तम आदर्श-रूप कौसल्या के चरित्र से मातृशक्ति के विवेक, भक्ति और व्यवहार की वह दिव्य झाँकी है जिसके कारण प्रजाजनों की 'उक्ति 'राम मातु अस काहे न होई'[1] सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती है। माता का यह आदर्श पददलित हिन्दू जाति के उत्थान के लिए परमावश्यक था।

कौसल्या का विवेक उनके जीवन में आद्योपान्त बना रहता है। उन्होंने भगवान् के प्रकट होने पर उनसे 'सिसुलीला' करने का अनुरोध किया और उसका आनन्द प्राप्त करते हुए उनकी दशा यह हो गई:—

"प्रेम मगन कौसल्या निस दिन जात न जान।
सुत सनेह बस माता बाल चरित कर गान[2] ॥"

इस प्रेम-विभोरता में वे पुत्र का परम रूप भूल गईं[3]। राम वचन दे चुके थे कि मेरे अनुग्रह से अलौकिक विवेक कभी नहीं मिटने पाएगा। अतः माता को लौकिक प्रेम में मग्न देख एक दिन सुलाए जाने पर, पूजन में माता द्वारा अर्पित प्रसाद ग्रहण करने पहुँच गए। दो बालकों को देख आश्चर्य-चकित माता को विराट् रूप के दर्शन करा दिए। पुनरूप धारण करने के पूर्व चतुर्भुज रूप में दर्शन दिए थे। आज उन्हें बोध करा दिया कि मैं पुत्र होते हुए

---

१. 'मानस', अयो० १६४-३।

२. वही, बाल० २०५।

३. "व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद" — वही २०१

केवल विष्णु ही नहीं अखिलब्रह्माण्डव्यापी भी हूँ। मैं तीनों एक साथ हूँ। क्या तुम बालरूप में मग्न हो अन्य दोनों रूपों को विस्मृत कर देना चाहती हो? माता भयभीत हो गयी कि 'जगत पिता मैं सुत करि जाना'[1] और उन्होंने प्रार्थना की :—

"अब कबहूँ जनि व्यापै प्रभु मोहिं माया तोरि[2] ॥"

राम के परात्पर रूप का विस्मृत हो जाना ही यहाँ माया का व्यापना था। याचना स्वीकृत हो गई। अतः उनका विवेक बना रहा और राम-वनगमन के अवसर पर उसका परमोज्ज्वल रूप प्रकट हुआ। विवेक का कार्य है सदसत् की परख। उक्त अवसर पर माता का सदसद्विवेक किंचित् धूमिल नहीं हुआ। राम-राज्याभिषेक के दिन आनन्द एवं प्रेमातिरेक में विभोर माता ने यह ध्यान नहीं दिया कि आज बिना लक्ष्मण के और अबेर से राम उनके पास क्यों आए हैं। अतः आते ही उनसे मधुर जलपान करने का आग्रह किया। उत्तर में उनसे 'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू[3] ॥' सुनकर और यह जानकर कि राम चौदह वर्ष के लिए वनवास की आज्ञा माँगने आये हैं, माता की दशा विचित्र हो गई, क्योंकि विवेक के साथ उनमें अगाध पुत्र-स्नेह भी था। उनकी दशा उस हरिणी की-सी हो गई जो एकाएक सिंह की दहाड़ सुनकर अपने प्राणों का अन्त निश्चय समझती है[4]।

धैर्य धारण कर कारण पूछा और मंत्री-पुत्र-द्वारा विस्तृत वृत्तान्त जानकर :—

"सुनि प्रसंग रहि मूक जिमि दसा बरनि नहिं जाइ[5] ॥"

माता को न वस्तुस्थिति समझने में देर लगी और न कर्तव्य निश्चित करने में ही। उन्होंने कितनी जल्दी में क्या निर्णय किया इस मार्मिक प्रसंग को कवि के ही मुख से सुनना अधिक उचित है :—

"राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू ॥
लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधि गति बाम सदा सब काहू ॥
धरम सनेह उभय मति घेरी। भइ गति साँप छछुन्दर केरी ॥

---

१. 'मानस', बाल० २०६.७।   २ वही, २०७।

३. वही, अयो० ५२.६।

४. "कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू ॥"
वही, ५३.३।

५ वही, ५४।

राखौ सुतहि करौं अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू।।
कहौं जान बन तौ बड़ि हानी। संकट सोच बिबस भइ रानी[1]।।"

इस स्थिति में भी राम और भरत दोनों को समान समझ चट कर्तव्य निश्चित कर पुत्र से कहा :—

"तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरम क टीका।।
राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु।।
जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना[2]।।"

लोकवेदानुसार माता को पिता से बड़ा मानकर अपनी असहमति प्रकट करते हुए भी माता और विमाता में कोई भेद न मान विमाता की आज्ञा को मान्यता प्रदान कर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि न उन्हें कैकेयी के प्रति कोई ईर्ष्या द्वेष और न राजा के प्रति कोई रोष है। सभी प्रकार सराहनीय यहाँ यह है कि जिस मातृपद को उन्होंने पितृपद से बड़ा माना उसमें भी उनका स्थान सर्वोपरि था और इस न्याय से भी वे राम को वन जाने से रोक सकती थीं। उनकी आज्ञा सर्वोपरि थी, इसका प्रमाण अयोध्या की सभा में और राम के द्वारा राज्य-संचालन हेतु भरत को दिए गए इस परामर्श से मिलता है :—

"तुम्ह मुनि मातु सचिव सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी[3]।।"

इस प्रकार राम को वन-गमन की अनुमति देने में प्रेम का शैथिल्य नहीं, अलौकिक विवेक ही समर्थ होता है। प्रेम के आवेग में माता भगवान् के चरणों में लिपट अवश्य जाती है पर तत्काल ही संयमित होकर सीता की अनुनय-विनय सुनती और राम से उनकी सुकुमारता का निवेदन करती है। उनके अनुरोध पर दुख प्रकट करते हुए भी वे उन्हें अनुकूल उपदेश देने के लिए प्रस्तुत हो, राम से कहती हैं :—

"अस बिचारि जस आएसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई[4]।।"

प्राणप्रिय पुत्रवधू के घर रहने पर बहुत अवलंब मिलता पर उसे भी वन भेजते हुए कर्तव्य ही प्रधान हो रहा है, ममत्व नहीं।

---

१. 'मानस', अयो० ५४.१-५।
२. वही, ५४.८—५५,२।
३. वही, ३१४.८।
४. वही, ५६-६।

कौसल्या का आचरण सर्वथा अनुकरणीय है। उन्होंने अपने अधिकार की अवहेलना कर उसके अधिकार की रक्षा की जो उनके राम जैसे पुत्र के वनवास का कारण थी। यह इसलिए कि पुत्र-वियोग से व्याकुल राजा के सामने महारानी द्वारा कोई और ऐसा काण्ड उपस्थित न कर दिया जाए कि रघुकुल की मर्यादा पर आँच आए। साथ ही प्रजा के हृदय में इस आशंका के निमित्त कोई अवकाश न रहे कि राम के स्थान पर भरत के राजा होने से किसी भी प्रकार का अन्तर उत्पन्न हो सकता है। उन्होंने वस्तुस्थिति को तुरन्त भाँपा और उसके अनुकूल आज्ञा देकर ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जो प्रत्येक माता एव विमाता के समक्ष प्रकाश बिखेर कर पथ-प्रदर्शन कर रहा है। कौसल्या का धैर्य विलक्षण है जो अमगल मे भी मंगल की आशा से दृढ बना रहता और मरणासन्न राजा का एकमात्र अवलब बनता है। पत्नी का कर्तव्य भी उन्होंने आदर्श रूप मे निबाहा है। राम की मरणात्मक वियोगाग्नि से दग्ध राजा को उन्ही के वचनो से धैर्य मिलता है :—

"कौसल्या नृपु दीख मलाना। रविकुल रबि अथएउ जिय जाना।
उर धरि धीर राम महतारी। बोली बचन समय अनुसारी॥
नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरज धरिय त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सब परिवारू॥
जौ जिय धरिअ बिनय पिय मोरी। राम लषनु सिय मिलहिं बहोरी॥
प्रिया बचन मृदु सुनत नृप चितएउ आँख उघारि।
तलफत मीन मलीन जनु सीचत सीतल बारि[१]॥"

मछली की भाँति तडपते हुए राजा की चेतना इस शीतल वाणी से लौट आई और उन्हे सुध हो आई अंधे तापस के शाप की। बस, उसे बतलाकर राम-राम रटते हुए महाराज ने शरीर त्याग दिया।

कौसल्या के मातृत्व का चरमोत्कर्ष भरत के प्रति उनके ममत्वपूर्ण अगाध वात्सल्य मे प्राप्त होता है। राम के वियोग में जो दशा नहीं होती वह भरत के मिलने पर हो जाती है :—

"भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरुछित अवनि परी झईं आई॥[२]"

---

१. 'मानस', अयो० १५३ ३—१५४।

२ वही १६३ १

और भरत के व्याकुल हो जाने पर धैर्य धारण कर उन्हें हृदय से लगा लेती है मानो राम ही लौट आए हों :—

"मातु भरत के बचन मृदु सुनि पुनि उठी सँभारि।
लिए उठाइ लगाइ उर लोचन मोचत बारि॥
सरल सुभाय माय हिय लाए। अति हित मनहुँ राम फिरि आए॥[1]"

यहाँ राम की स्मृति का वेग धैर्य के बाँध को नहीं तोड़ रहा है। भरत को हृदय से लगाने पर तो माता को राम के मिलन की शीतलता प्राप्त हो रही है। अधीरता का कारण प्रत्यक्ष है। राम-वियोग मे भरत की वेदना का अनुमान माता मन ही मन करती रही है। आज उन्हे समक्ष देख उस वेदना का प्रत्यक्ष दर्शन कर परम धीर राम-माता भी अधीर होकर सुध-बुध खो बैठती है। भरत के प्रति ऐसी ही संवेदना के कारण धीर धुरन्धर राम भी उन्हे देखकर अधीर हो उठते है :—

"उठे रामु सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषग धनु तीरा।[2]"

अत: राम-माता की अधीरता स्वाभाविक है। वस्तुत: कैकेयी ने भरत को नही पहचाना। उन्हे पहचाना है कौसल्या ने। भरत का 'सोच' ही उन्हे मूर्छित कर देता है। पुत्र को परखने तथा उसके लिए अनुपम त्याग की मातृ-हृदय की शक्ति के भव्य रूप का परिचय माता कौसल्या द्वारा सुनयना के प्रति कहे गये मार्मिक वचनो मे मिलता है। उनकी वेदना दर्शनीय है :—

"लखनु रामु सिय जाहुँ बन भल परिनाम न पोचु।
गहबरि हिय कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु॥[3]"

जिन भरत के कारण तीनों को वन जाना पड़ा, उनके प्रति यह भावना! माता को उन तीनो का 'सोच' नही, अहर्निश प्राणाधिक प्रिय भरत की चिन्ता है। वे व्याकुल है कि किस प्रकार भरत के हृदय को शान्ति मिले। भरत पर किसी प्रकार का लांछन उन्हे सह्य नही। अत: जनक परम ज्ञानी है, यह जानते हुए भी उनसे रहा नही जाता और राम की शपथ लेकर भरत के लिए सफाई देती हुई सुनयना से कहती है :—

"राम सपथ मै कीन्हि न काऊ। सो करि कहौं सखी सतिभाऊ॥
भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥

---

१. 'मानस', अयो० १६४, १६४·१।
२ वही, २३१·८। ३ वही, २८२

कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे ॥
जानउँ सदा भरत कुल दीपा। बार-बार मोहि कहेउ महीपा ॥
कसें कनकु मनि पारिख पाएँ। पुरुष परिखअहिं समय सुभाएँ ॥
अनुचित आज कहब अस मोरा। सोक सनेह सयानप थोरा[1] ॥"

इसके आगे जो कहना है उसके लिए अत्यन्त दृढ़ धैर्य की आवश्यकता है। पति की सहधर्मिणी और भरत पर असीम स्नेह रखने वाली माता के लिए भी राजा का कथन 'मोरे भरत राम दुइ आँखी'[2] उतना ही सत्य था। इन दोनों को खोकर अयोध्या में अन्धकार के सिवा और क्या शेष रहता ? भरत की वेदना के शमन हेतु वे उसके लिए भी प्रस्तुत हैं। इस कठोर त्याग के आगे सभी त्याग फीके हैं। माता की इस कठोर कोमलता को परखें :—

"कौसल्या कह धीर धरि सुनहु देबि मिथिलेसि।
को बिबेकनिधि बल्लभहि तुम्हहि सकइ उपदेसि ॥
रानि राय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई ॥
रखिअहिं लषनु भरतु गवनहिं बन। जौं यह मत मानइ महीप मन ॥
तौ भल जतन करब सुबिचारी। मोरें सोच भरत कर भारी ॥
गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं[3] ॥"

माता के इस अप्रतिम त्याग का यह प्रभाव पड़ा कि :—

"नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि। सिथिल सनेह सिद्ध जोगी मुनि[4] ॥"

"अनुचित आज कहब अस मोरा। सोक सनेह सयानप थोरा" में उनकी ग्लानि की मार्मिक अभिव्यक्ति है। तात्पर्य है कि यदि शोक होता तो सोच-विचार करने की शक्ति नहीं रह जाती, यदि स्नेह होता तो राम के साथ भरत को भी वन भेजने की इच्छा क्यों होती और यदि 'सयानप' होता तो भला 'बिबेकनिधि' के पास उनकी वल्लभा द्वारा ही अपनी सम्मति पहुँचाने का यह दुस्साहस होता[5] ? जो हो, मातृ-हृदय के निस्स्वार्थ प्रेम के साथ उसकी विशालता और शालीनता की यह दिव्य झाँकी विश्व-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

सुमित्रा लक्ष्मण को वन जाने की आज्ञा दे चुकी है। कौसल्या मातृत्व में सुमित्रा से बढ़कर अपना अधिकार समझने के कारण ही उन्हें अयोध्या लौटने

---

१. 'मानस', अयो० २८२'२-७ २. वही २०'६।
३. वही २८३, १-४।
४ वही, २८१ ६ ५ वही २८२

की आज्ञा देना अनुचित नहीं समझती[१]। कैकेयी के प्रसंग में भी वे इसका उपयोग कर उसकी सारी कुमन्त्रणा पर पानी फेर सकती थी। परन्तु आध्यात्मिक और लौकिक दोनों ही दृष्टियो से उन्होने राम को रोकना उचित नही समझा। एक के अनुसार राम-जन्म का लक्ष्य ही यह था और दूसरी के अनुसार कैकेयी की आज्ञा का विरोध करना गृह-कलह को बढ़ावा देना एवं कुल की 'कानि' को खो देना था। सपत्नी के प्रति ऐसे पवित्र व्यवहार के आदर्श का अनुसरण करने से बहुविवाह का दुष्परिणाम—भारतीय कुटुम्ब को बारह बाट कर देने वाला गृह-कलह—समूल नष्ट हो सकता है। सौतिया डाह का कुपरिणाम कैकेयी के 'कर्तब' में प्रत्यक्ष है तो सपत्नी के सद्भाव का सुपरिणाम कौसल्या के पुनीत आचरण में।[२] भरत के कैकेयी को दोष देने पर भी वे उन्हे समझाती है—

"काहे को खोरि कैकइहि लावौ।
धरहु धीर बलि जाउँ, तात। मोको आज विधाता बावौ[३]।"

और भी—

"जनि मानहु हिय हानि गलानी। काल करम गति अघटित जानी।
काहुहि दोष देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता[४]।।"

सुनयना के कैकेयी पर व्यग्य करने पर भी उनका यही कथन होता है :—

"कौसल्या कह दोस न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू।।
कठिन करम गति जान बिधाता। सो सुभ असुभ सकल फलदाता।।
ईस रजाइ सीस सबहीके। उतपति थिति लय बिषहु अमी के।।
देबि मोह बस सोचिअ बादी। बिधि प्रपंचु अस अचल अनादी।।
भूपति जिअब मरब उर आनी। सोचिअ सखि लखि निज हित हानी[५]।।"

माता कौसिल्या की वेदना का अत्यन्त मार्मिक रूप 'गीतावली' में है[६]। वहाँ प्रबन्ध की मर्यादा का बन्धन नही। फलत मानव मात्र के हृदय को

---

१. "रानिराय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई।।
रखिअहिं लषनु भरत गवनहिं बन। जौं यह मत मानइ महीप मन।।
'मानस', अयो० २८३. १,२।

२. इस सम्बन्ध में 'कवितावली' का एक कवित्त द्रष्टव्य है, देखिए आगे पृ० १५७।

३. 'गीता०' पद ६३।

४. 'मानस,' अयो० १६४'६, ७।

५. वही २८१ १-७

६. गीता० अयो०, पद ५४, ५५, ८१-८७

अनायास ही बहा ले जाने वाली सहज स्नेह की धारा वहाँ स्यंदमान होती है। वन-गमन के हेतु प्रस्तुत राम से माता का आग्रह है :—

"सुनहु राम मेरे प्रान पियारे।
बारौ सत्यवचन स्रुति-सम्मत जाते हौ बिछुरत चरन तिहारे॥
बिनु प्रयास सब साधन को फल प्रभु पायो सो तो नाहि सँभारे।
हरि तजि धरमसील भयो चाहत नृपति नारि बस सरवस हारे॥
रुचिर काँचमनि देखि मूढ ज्यों करतल ते चितामनि डारे।
मुनि-लोचन-चकोर, ससि-राघव, सिव-जीवन धन सोउ न विचारे॥
जद्यपि नाथ तात! मायाबस सुखनिधान सुत तुम्हहि बिसारे।
तदपि हमहि त्यागहु जनि रघुपति दीनबंधु दयालु मेरे बारे[1]॥"

यहाँ राम के परम रूप के बोध के कारण ही दशरथ और कैकेयी पर कटाक्ष है। कौसल्या की ग्लानि का कारण यह विडंबना है कि मायावश राजा राम को भुला रहे है और नारिवश हरि का परित्याग कर धर्मशील होना चाहते हैं। उनका पति पर रोष किसी सामान्य पत्नी की भाँति नही है। उनकी मरणान्तक कष्टप्रद ग्लानि और निम्नांकित पद मे अंकित पछतावे की करुण मार्मिकता, व्याख्या की नहीं, अनुभूति की वस्तु है :—

"हाथ मीजिबो हाथ रह्यो।
लगी न संग चित्रकूटहु ते ह्याँ कहा जात बह्यो॥
पति सुरपुर सियराम लखन बन, मुनिब्रत भरत गह्यो।
हौ रहि घर मसान-पावक ज्यौं मरिबोइ मृतक दह्यो॥
मेरोइ हिय कठोर करिबे कहँ बिधि कहुँ कुलिस लह्यो।
तुलसी बन पहुँचाइ फिरी सुत, क्यो कछु परत कह्यो[2]॥"

पिता ग्लानि मे गल गए। माता ग्लानि से जली जा रही है। 'मरिबोइ मृतक दह्यो' मे जो दाह है उसकी कही उपमा नही। वियोगाग्नि में दग्ध मातृ-हृदय के संताप के अन्य विविध रूपो का अनावरण भी यहाँ है।[3] उनकी बाल-लीलाओं का स्मरण, दर्शन और मिलन की आतुरता, उनकी 'बान धनुहियाँ' और 'ललित पनहियाँ' आदि वस्तुओ तथा दीन घोड़ो को देखकर माता की हृदय-

---

१ 'गीता०' अयो० २।

२ वही ८४।

३ देखिए गीता० अयो० पद २४ ५३, ८१-८८

विदारक अवस्था की कारुणिक अभिव्यक्ति है। यह वेदना उन्हें अर्द्ध-विक्षिप्तावस्था तक पहुँचा देती है।[१]

अन्त में वेदना का भी अन्त होता है। राम के पुनरागमन की तिथि समीप आ रही है और माता सगुन मना रही है :—

"बैठी सगुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल दोउ कहहु काग फुर बाता॥
दूध भात की दोनी दैहौं सोने चोंच मढ़ैहौं।
जब सिय सहित बिलोकि नयन भरि राम-लषन उर लैहौं॥[२]

माता काक की चोंच सोने से मढ़ा देने का वचन देती है ताकि वह जहाँ जाए उसका आदर हो और सभी राम के आने की सूचना देनेवाले इस काक को दूध-भात खिलाएँ। उन्हे अपनी धुन मे न तो यह ध्यान है कि काक को दूध-भात विशेष प्रिय नहीं और न यही कि उसमें उनकी बात समझने की कितनी क्षमता है। यह प्रेम की वह उमंग है जो हर्ष और विषाद दोनो मे लहराती और जड़-चेतन का भेद दूर कर सभी को अपनी लपेट में समेटती चली जाती है। इसी ने राम से भी कहला दिया था :—

"हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी॥[३]"

धीरे-धीरे वह समय भी आ जाता है जब प्रेम और हर्षातिरेक से विह्वल माताओं की विलक्षण अवस्था में उनके वात्सल्य की पराकाष्ठा दिखाई देती है :—

"कौसल्यादि मातु सब धाई। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई॥
जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गईं॥
दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुँकार करि धावत भईं॥[४]"

---

१ "माई री! मोहि कोउ न समुझावै।
राम गवन साँचो किधौं सपनो मन परतीति न आवै॥१॥
लगेइ रहत मेरे नैनन आगे राम लखन अरु सीता।
तदपि न मिटत दाह या उर को बिधि जो भयो बिपरीता॥२॥
दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रहै बिनु देखे।
करत न प्रान पयान सुनहु, सखि! अरुझि परी यहि लेखे॥३॥"

गीता०, अयो० ५३

२ वही, लङ्का० १९।
३ 'मानस', अरण्य० २३'९।
४ वही उत्तर ५ ख, छन्द

कहना न होगा कि वात्सल्य के चित्रण में मातृहीन कवि अपने 'माय-बाप' राम की कृपा से ही सफल हो सका है।

सारांश यह कि कौसल्या का अलौकिक विवेक एक ओर अध्यात्म मे उनका परमोज्ज्वल रूप प्रत्यक्ष करता है तो दूसरी ओर लोक-जीवन में उन्हे परम पूजनीय सिद्ध करता है। साथ ही उनके वात्सल्य का अजस्र स्रोत मानव मात्र को रसमग्न करने मे सक्षम है। उनके चरित्र द्वारा भारतीय संस्कृति के उन्नायक महाकवि ने समाज और देश का मस्तक ऊँचा करने वाले नारी के विश्ववंद्य स्वरूप की प्रतिष्ठा की है। भारतीय नारी के लिए सर्वाधिक कल्याणकर यही आदर्श है। उन्होंने माता और पत्नी दोनों के कर्तव्यो का पूर्ण निर्वाह किया। उनसे भूलकर भी कोई कार्य ऐसा न बन पड़ा जिसमें किसी प्रकार की त्रुटि पाई जा सके। तुलसीदास के पूर्ववर्ती रामचरित सम्बन्धी ग्रंथों से तुलना करने पर ही हम उनकी उस दिव्य दृष्टि का उचित मूल्यांकन कर सकते है जो इस आदर्श की प्रतिष्ठा के मूल मे है।

'मानस' मे तीनों माताओं का परस्पर वार्तालाप कही नही देखा जाता। 'कवितावली' मे इस सम्बन्ध के दो कवित्त है। कौसल्या का परिताप है :—

"सिथिल सनेह कहै कौसिला सुमित्रा जू सो,
मैं न लखो सौति सखी! भगिनो ज्यो सेई है।
कहै मोहिं मैया कहौ मै न मैया भरत की
बलैया लैहौ, भैया! तेरी मैया कैकेई है॥
तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी,
काय मन बानी हूँ न जानी कै मतेई है।
बाम बिधि मेरो सुख सिरिस सुमन सम
ताको छल-छुरी कोह कुलिस लै टेई है॥[1]"

सुमित्रा का उत्तर है :—

"कीजै कहा जीजी जू! सुमित्रा परि पायँ कहै
तुलसी सहावै विधि सोई सहियतु है।
रावरो सुभाव राम-जन्म ही तें जानियत,
भरत की मातु को कि ऐसो चहियतु है?

१ कवित्ता०' अयो० २

जाई राजघर ब्याहि आई राजघर माहँ
राजपूत पाए हूँ न सुख लहियतु है।
नेह सुधागेह ताहि मृगहू मलीन कियो,
ताहू पर बाहु बिनु राहु गहियतु है ॥[1]"

इन वचनो मे कौसल्या के प्रति श्रद्धा तो कैकेयी के प्रति सहानुभूति भी लक्षित होती है। दोनों का व्यक्तित्व यहाँ स्फुट है। एक राम-माता है तो दूसरी भरत-माता। जब एक का आचरण अपने पुत्र के अनुरूप है तो दूसरी का उसके प्रतिकूल कैसे हो गया ? सुमित्रा का तात्पर्य है कि विधि कौसल्या के ही प्रतिकूल नही कैकेयी के भी प्रतिकूल है। नेह-सुधाकर की दशा भी सुधाकर जैसी ही हो रही है। पहले विधाता ने उसे कालिमायुक्त किया, ऊपर से बिना बाँहों का राहु ग्रस रहा है। राम की जननी महान् है तो रामप्रेम-सुधा की मूर्ति भरत की जननी राम-प्रेम से रहित कैसे ? कभी कोमल की उत्पत्ति कठोर से और पुण्य का मूल पाप में उदित होना संभव है ? अस्तु, कैकेयी के स्वभाव से ही कुटिल न होने,का संकेत यहाँ सन्निहित है। कैकेयी ने जो किया वह उसका 'कर्तब' मात्र था, स्वभाव नहीं। भरत के हृदय मे अगाध राम-प्रेम अचानक नही जाग उठा था। वह बाल्यावस्था से ही वहाँ पालित-पोषित और पुष्ट होता रहा होगा। क्या यह किसी-राम-विरोधी माता के स्नेह-रस द्वारा पालित पुत्रहृदय में सभव था ? अतः सुमित्रा के संकेतानुसार यह विधि का विधान ही था कि राजघर में उत्पन्न, राजघर में विवाहित और राजकुमार की माता होकर भी कैकेयी को सुख न मिले, कलक लगे और ग्लानि रूपी राहु से ग्रस्त हो वह मरणान्तक कष्ट उठाती रहे। उसके प्रति कही गई सुमित्रा की यह अभ्युक्ति बडी मार्मिक है।

चित्रकूट में रनिवास-सम्मिलन के अवसर पर सुनयना विधाता पर ढालकर कैकेयी पर व्यंग्य करती है ;—

"सीय मातु कह बिधि बुधि बाँकी। जो पय फेनु फोर पबि टाँकी ॥
सुनिअ सुधा देखिअहि गरल सब करतूति कराल।
जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल[2] ॥"

---

१. 'कवित्ता०' अयो० ३।

२. मानस' अयो० २८० ८, २८१

तात्पर्य यह कि विधाता की बुद्धि का बाँकापन कुछ ऐसा है कि वह कोमल अस्त्र से संभव होते हुए भी कठोर से काम लेती है। भरत के राज्य-तिलक के लिए रामवनगमन ऐसे कठोर अस्त्र का प्रयोग न कर किसी सरल उपाय का आश्रय लिया जा सकता था। कल्पना की जा सकती है कि विश्वामित्र की भाँति, विधाता एक नही तो अनेक ऋषियों को दशरथ के पास असुर-वध के निमित्त राम-लक्ष्मण की याचना करने भेज सकता था। जिनकी प्रशंसा में 'सुरपति बसइ बाँह बल जाके' कहा गया, देवासुर-संग्राम में सहायक वही चक्रवर्ती महाराज क्या शरणागत ऋषियों को रूखा उत्तर दे देते ? यह नहीं, तो सीधे-सीधे कैकेयी ही दुष्टदलन के हेतु राम को वन भेजने का वरदान माँग कर इस महान् दुर्घटना के कारणरूप अपयश की भागी होने से बच सकती थी।

सुमित्रा का उत्तर ध्यान से सुनने योग्य है .—

"सुनि ससोच कह देवि सुमित्रा। बिधि गति बड़ि बिपरीत बिचित्रा ।।
जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बाल केलि सम बिधि मति भोरी[1] ।।"

उनका कथन है विधाता की मति विपरीत कार्य करने वाली बड़ी ही विचित्र है। वह सर्जन के बाद संहार और उसके उपरान्त पुन. सर्जन करती रहती है। कोमल से कठिन और कठिन से कोमल कार्य उसकी विलक्षण सृष्टि मे ही संभव है। उसने राम-वन-गमन का कठोर कार्य उसीसे कराया जिसका राम से नाता माता कौसल्या की इस कसक में व्यंजित है :—

"तुलसी सरल भाय रघुनाथ माय मानी,
काय मन बानी हूँ न जानी कै मतेई है[2] ।।"

और इस कठोर कर्म का परिणाम हुआ भरत के कोमल भक्त-हृदय में छिपे हुए गूढ राम-प्रेम रूपी अमृत का उद्भव। यदि कैकेयी भरत के राज्य-तिलक को प्रमुखता दे कठोर निर्ममता न धारण करती और दुष्ट-दलन के निमित्त राम-वनवास का वरदान माँगती तो राम जन्म का हेतु पूर्ण होने पर भी भरत-जन्म का हेतु अपूर्ण ही रह जाता, जिसकी घोषणा भक्त तुलसीदास ने भरत-चरित के अंत में की है[3]।

१ 'मानस' अयो०, २८१.१,२। २ दे० 'कविता०', अयो० २।

३ "सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम विषम व्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥"
'मानस अयो० ३२५ ६ १२

माता ने जिस रामप्रेम-पीयूष से पूर्ण पुत्र को जन्म दिया, उसे प्रकट करने का कर्तव्य भी उसी का था[१]। यह दिव्य प्रेमामृत प्रकट हुआ विरह-सजात सात्विक आत्मग्लानि और मार्मिक वेदना के साथ, भरत के गम्भीर हृदय-सागर से ही :—

"प्रेमु अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गंभीर।
मथि प्रकटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर[२]॥"

चौदह वर्ष की अवधि केवल रावण-वध और राक्षस-उद्धार के हेतु अथवा निषाद, शबरी, जटायु, सुतीक्ष्ण, शरभंग आदि के कल्याण के साथ ऋषि-मुनियों के आश्रम पवित्र करने के निमित्त ही नहीं, भरत के उस नवीन यश-चन्द्र के अवतरण के लिए भी आवश्यक थी जो अनन्त काल पर्यन्त भक्तों के हृदय में उदित हो प्रभु-मिलन का पथ प्रकाशित करता रहे। भरत के हृदय का गूढ प्रेमामृत प्रकट करने की सामर्थ्य उनके प्रियतम राम में ही थी। उन्होंने भरत को अपने वियोगपथ में प्रस्तुत करने के प्रयोजन से देवताओं द्वारा प्रेषित सरस्वती को इस विकट कर्म से नहीं रोका। देव-गुरु ने देवताओं को समझाते हुए जो कहा है :—

"तब किछु कीन्ह राम रुख जानी। अब कुचालि करि होइहि हानी[३]॥"

उससे स्पष्ट है कि राम के रुख के अनुसार कैकेयी को भी विधि का विधान पूरा करने के लिए इस 'कुचाल' में निमित्त बनना और राम द्वारा भरत के प्रेमामृत के प्रकटीकरण में योग देना था। यह राम-माता कैकेयी का ही कार्य था कि सारा कलंक स्वय समेटकर पुत्र के निष्कलंक चन्द्र को विश्व को अमृत का दान देने योग्य बना दिया। माता का यह रूप सामान्य बुद्धि के तो परे ही रहा। सपत्नियों ने उसमें कर्म की कठिन गति और विधि का विचित्र विधान देखा। उसे समझा लीला पुरुषोत्तम ने और इसीलिए कहा —

"दोसु देहि जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहि सेई[४]॥"

सत-सभा के सत्सग से 'राम-रहस्य[५]' का बोध होता और ज्ञात हो जाता है

---

१ 'लिखत सुधाकर लिखि गा राहू' के अनुसार यही श्रेष्ठ कर्त्तव्य भीषण 'कर्तब' बन गया।

२ 'मानस', अयो० २३८।

३ वही, २१७'३।

४ वही, २६२.८।

५ 'औरो राम रहस्य अनेका' में का एक रहस्य यह भी है। 'मानस', बाल० ११५ ३

कि भक्तवत्सल भगवान भक्तों के उद्धार और धर्म-स्थापना के हेतु क्या कुछ लीला नहीं करते और उनके भक्तगण भी बराबर उनके साथ अवतरित हो उस लीला में योग दिया करते है। जो जितने निकट है उसे उतना ही कठिन कार्य साधना पडता है। लोक-व्यवहार के अन्तर्गत इसी भाव की झलक भरत से किए गए इस अनुरोध मे भी मिलती है :—

"बाँटी बिपति सबहि मोहि भाई। तुमहि अवध भरि बड़ि कठिनाई[1]॥"

इसी कारण 'अतिशय प्रिय' जानकी को वन में छोड़ने का कार्य प्राणप्रिय भ्राता लक्ष्मण को ही सौंपा गया था। सबसे कठोर कर्म माता के हिस्से मे पडना ही था। पुत्र के लिए सर्वाधिक त्याग वही कर सकती है। रघुकुल की सत्य-संधता की कीर्ति मे धब्बा न लगे इसलिए राजा ने पुत्र का त्याग किया और पिता ने पुत्र के लिए प्राणों का। पर माता ने पुत्र के लिए त्याग दिया उस कीर्ति का लोभ भी। इस दृष्टि से कैकेयी का उत्सर्ग अमूल्य है। राम ने जो कौसल्या से अधिक कैकेयी को माना उसमे उनके सरल प्रेम के अन्तर्गत उनकी लीला का यह रहस्य भी प्रच्छन्न है[2], जिसे समझ लेने पर रामचरित के साहित्यिक रस के साथ अलौकिक 'रस विशेष' का आस्वादन भी हो सकता है।

कैकेयी के प्रति भरत की भावना कुछ भिन्न दिखलाई पडती है। उसका कारण यह है कि भरत के चरित्र-चित्रण का लक्ष्य राम-रहस्योद्‌घाटन नही, लोक मे आदर्श भक्ति की प्रतिष्ठा है। संसार में भक्तों के लिए जो आचरण अनुसरणीय है उसे अन्यत्र खोल दिया गया है[3] :—

"जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो छाँड़िये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु भरत महतारी।

---

१. 'मानस', अयो० ३०५·६।

२. श्रीकाष्ठजिह्वास्वामी कृत 'रामायण परिचर्या टीका' में कहा गया है :—'जैसे श्रीराम जी कैकेयी को बड़ी परोपकारिणी मानते हैं कि इतना बड़ा कलंक अपने माथे पर लेकर त्रैलोक्य का उसने भला किया।' 'मानस पीयूष', अयो० २६२.८ की टिप्पणी से।

३. आध्यात्मिक दृष्टि से कैकेयी के अविद्या-रूप की चर्चा प्रथम अध्याय में की जा चुकी है देखिए प के पृष्ठ २६ ३०, ४०—४१

बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज-बनितनि भए मुद मंगलकारी[1] ॥"

माता कैकेयी को यहीं छोड अब महाकाव्य की महारानी कैकेयी के चरित्र-उद्घाटन की ओर बढकर देखें कि उनके द्वारा महाकवि का क्या संदेश प्राप्त होता है ।

बालकाण्ड में कैकेयी का उल्लेख अन्य रानियों के साथ अवश्य है पर उनका चरित्र खुलता है राम-राज्याभिषेक के अवसर पर मन्थरा के साथ सवाद के समय ही । इस सवाद मे कवि की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि, नारी-स्वभाव की परख तथा चरित्र-चित्रण की कुशलता का पूर्ण परिचय मिलता है । प्रसग आरम्भ होता है मंथरा के परिचय से :

"नाम मंथरा मद मति चेरी कैकइ केरि ।
अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि[2] ॥"

मतिभ्रष्ट मंथरा राज्याभिषेक की तैयारी देख जलती हुई स्वामिनी के पास पहुँचती है :—

"भरत मातु पहँ गइ बिलखानी । का अनमनि हसि कह हँसि रानी
ऊतरु देह न लेइ उसासू । नारिचरित करि ढारइ आँसू ।
हँसि कह रानि गालु बड़ तोरें । दीन्ह लषन सिख अस मन मोरें[3] ॥"

रानी की इन बातो से और आगे चलकर उनके प्रति कहे गए अन्य वचनो से ज्ञात होता है कि मंथरा उनकी विशेष कृपाभाजन और प्रिय मुँहलगी दासी है । उनकी बात सुनकर वह ठंढी सासें छोडती हुई मौन रहती है तो रानी कुछ घबराकर राम, महाराज एव अन्य पुत्रो का कुशल-क्षेम पूछने लगती है —

"सभय रानि कह कहसि किन कुसल राम महिपाल ।
लषनु भरतु रिपुदवनु सुनि भा कुबरी उर साल[4] ॥"

मथरा उत्तर देती है :—

"रामहि छाँडि कुसल केहि आजू । जेहि जनेसु देइ जुबराजू ॥
भयेउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन । देखत गरब रहत उर नाहिन[5] ॥"

---

१. 'विनय' पद १७४ ।
२. 'मानस', अयो० १२ ।
३. वही, १२.५, ६ ।
४. वही १३ ।
५. वही १३ १, २

और रानी को फटकार भी बतलाती है कि उन्हें अपनी और अपने पुत्र की चिन्ता नही है। उसकी मलिनता युक्त बातों के लिए उसे परिहासपूर्वक फटकारती हुई रानी अपने हृदय की प्रसन्नता प्रकट करती और इस समाचार के लिए उसे मुँह-माँगा पुरस्कार देने का वचन देती है। परन्तु बुद्धिमती कैकेयी को भाँपते देर नही लगती कि कुछ दाल में काला अवश्य है। महारानी कौसल्या के प्रति पहले कभी कोई क्षोभ प्रकट न करनेवाली दासी आज यह साहस कैसे कर रही है, इसका असली भेद जानने की इच्छा से, और वह झूठ न बोल सके इसलिए उसे प्रिय भरत की शपथ दिला कर वे पूछती हैं :—

"भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।
हरष समय बिसमउ करसि कारन मोहि सुनाउ॥"[1]

उन्हें निश्चय है कि मंथरा अब झूठ नही बोल सकती। अब मंथरा खुलती है, और यही उसकी सरस्वती द्वारा प्रेरित कुटिल बुद्धि का कौशल कार्य करता है। वह समझ लेती है कि कौसल्या के प्रति सद्भाव और राम-सीता के प्रति नितान्त निश्छल प्रेम रखनेवाली कैकेयी के मर्म पर आघात किए बिना इष्ट सिद्ध नही होगा। राम के व्यक्तित्व और उनके प्रति कैकेयी के वात्सल्य से परिचित मंथरा खूब समझती है कि राम के प्रति दुर्भाव उत्पन्न करना उसके बूते के बाहर है। हाँ, नारी की कमजोरी है 'सवति' के प्रति द्वेष[2]। इस अस्त्र की कोई काट नही होगी। ऐसा समझकर मथरा विचार करती है कि छोटी रानी के हृदय में सौतिया डाह जगाकर कौसल्या को नीचा दिखाने के लिए उसे कटिबद्ध करना सरल होगा और वह सभव हो सकेगा राजा को माध्यम बनाकर ही। अतः यदि महाराज और कौसल्या की कुमत्रणा की बात भली-भाँति रानी के मन मे जमा दी जाए तो कैकेयी उन्हे नीचा दिखाने मे कोई कसर नहीं रखेंगी। राम के प्रति दुर्भावना उत्पन्न करना संभव नही। अत. उनके प्रति कोई द्वेष न दिखलाते हुए, राज्य-तिलक के अनिष्टकारी प्रभाव की आशका उत्पन्न करती हुई मंथरा कहती है कि राम तुम्हें प्रिय हैं और राम का तुम पर प्रेम है। पर समय बदलते देर नही लगती। राम का तिलक भी उचित ही है किंतु उसका दुष्परिणाम सोच कर हृदय काँप उठता है। बात यह है कि राजा का तुम पर विशेष प्रेम है। 'सवति सुभाउ'

---

१ 'मानस', अयो० १५।

२ नारी की समस्त तामसी प्रवृत्ति इसी में केन्द्रित हो जाती है जिसके प्रभाव में वह मातृत्व के सहज वात्सल्य को भूलकर सौतेले बालक पर भी अत्याचार करने लगती है

वश बड़ी महारानी उसे गले के नीचे कैसे उतार सकती है ? वे तुम्हारी जड़ उखाड़ फेंकना चाहती हैं। पर हैं बड़ी ही कपट-चतुर। ऊपर से जितनी मधुर भीतर से उतनी ही कुटिल। 'चतुर गंभीर राम महतारी' की चाल समझना सरल नहीं। तुम तो सौतों की सेवा और राजा के प्रेम के गर्व मे फूली हुई भूली रहती हो। उधर उन्होंने मौका पाकर प्रपंच रचकर राजा को फुसला लिया है। इस परिस्थिति को समझ कर रानी का मन डाँवाडोल हो उठता है और मथरा सबसे बड़े साधन 'सफेद झूठ' का आश्रय लेकर कहती है कि देखो, तुम किस फंदे मे पड़ी हुई हो :—

"भयउ पाख दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू॥"[1]

यह झूठ नहीं है क्योंकि :—

"खाइअ पहिरिअ राज तुम्हारें। सत्य कहें नहिं दोषु हमारे॥
जौं असत्य कछु कहब बनाई। तौ बिधि देइहि हमहि सजाई॥"[2]

बस, अब अपने निश्छल व्यवहार का परिणाम देखना। कौसल्या होंगी राज-माता और तुम दूध की मक्खी, और भरत बढ़ाएँगे बन्दीगृह की शोभा। संघर्ष राम और भरत का नहीं, तुम्हारा और कौसल्या का है। वह तो सौत ठहरी। पर राजा को तो देखो। इधर तुमसे नित्य प्रेम-प्रदर्शन और उधर तुम्हारी सौत के साथ यह कुमन्त्रणा ! भला पंद्रह दिन से तिलक की तैयारियाँ हो रही हैं और तुम्हें पता चला है आज, वह भी मुझसे, राजा से नहीं। भरत को भी इसी समय ननिहाल भिजवाया गया है। जरा सोचो, तुम्हारा राम पर वह प्रेम और उनका भरत के प्रति यह व्यवहार ![3]

तीर निशाने पर बैठा। कैकेयी का आत्माभिमान तड़प उठा। कौसल्या की कुमत्रणा और राजा के तथाकथित कपट-व्यवहार की कल्पना ने उसकी सुमति को कुमति मे परिवर्तित कर दिया। विश्वास था कि भरत की शपथ दिलाने पर मंथरा झूठ न बोलेगी। अतः उसकी बातो के आधार पर कैकेयी की जो मानसिक प्रक्रिया हुई वह स्वाभाविक है। मंथरा ने आँखो पर पड़ा पर्दा हटा दिया और उनके समक्ष कौसल्या की कपट-लीला के साथ नित्य नए मनमोहक रूपो से लुभाने वाली राजा की छद्मलीला की विभीषिका प्रत्यक्ष हो गई।

---

१ 'मानस', अयो० १८·३।

२ वही १८·४, ५।

३ मथरा-कैकेयी संवाद के लिए देखिए 'मानस', अयो० १२ १२४

कैकेयी ने अपनी डाँवाडोल स्थिति को पहचाना। डूबते को तिनके का भी सहारा बडा होता है। रानी ने दासी की शरण ली। देखा, आज एकमात्र वही अपनी है। एक पखवारे से हो रही राज्यतिलक की तैयारियों की सूचना इतने दास-दासियों और परिजनों में से किसी ने भी क्यों नहीं दी ? निश्चय है, मुझसे यह रहस्य छिपाया गया है और यह है राजाज्ञा का ही परिणाम। अन्यथा कौन ऐसा था जो यह शुभ समाचार सुनाकर मेरा कृपाभाजन न बनना चाहता ? राजा ने ऐसा इसलिए किया कि कही मैं कोई विघ्न न उपस्थित करूँ। निश्चय ही उनके कान कौसल्या ने भरे है कि उनके राजमाता बनने से मुझे क्लेश होगा। मुझसे उनकी ईर्ष्या ठीक ही है, पर भरत से भी यह कपट ! मंथरा एक बात और भी तो कह रही है। उसे ज्योतिषियो ने बतलाया है कि भरत ही राजा होंगे। इस प्रकार इस निरवलबतामें कैकेयी को कोई उपाय नहीं सूझ रहा है। मथरा अवसर देखकर कहती है, कहो तो उपाय बतलाऊँ ? राजा तुम्हारी सेवा के वश मे है। कैकेयी अपने पक्ष में एक मात्र मथरा को ही देख रही है। भरत तो छल करके हटा दिए गए है। इन विषैले विचारो से उसका कोप जग उठता है। उसके भाजन होते है राजा और कौसल्या। सौतिया डाह से उद्बुद्ध प्रतिहिंसा इस कोप के साथ मिलकर उसके समस्त विवेक का अपहरण कर लेती है। अब करे क्या ? क्रोधाभिभूति बुद्धि, विक्षिप्त मन और शोकसतप्त हृदय। इस मनोदशा में मथरा के उपाय सुझाने का वचन देने पर रानी सिवा इसके और क्या कह सकती है :—

"परउँ कूप तुव बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि।
कहसि मोर दुख देखि बड़ कस न करब हित लागि॥[1]"

कैकेयी की इस आर्त अवस्था मे उसे दोनो वरदानों का स्मरण दिलाकर मथरा संतप्त हृदय को शीतल करने का उपचार बतला देती है। क्या माँगे, यह सोचने का मौका न देकर पहले ही सुझा देती है—बस, भरत को राज्य और राम को चौदह वर्ष का बनवास। कैकेयी तो पुत्र और पति तक को त्याग देने की बात कह ही चुकी है। सुझाव स्वीकार कर लेती है। मानों रानी को दासी से गुरु-मत्र मिल जाता है। बस, अब विलंब की आवश्यकता नही। मंथरा समझा देती है कि कोप-गृह में जाओ और जब तक राजा राम की शपथ न लें उनका विश्वास मत करना। अन्यथा आजीवन पछताना होगा।

१ 'मानस', अयो० २१

इस प्रकार सरस्वती की कृपा से मंदबुद्धि मंथरा कुशाग्र बुद्धि बन गई और उसकी विलक्षण चातुरी ने कैकेयी के हृदय मे सुप्त सौतिया डाह के बीज को देखते-देखते अंकुरित और पल्लवित कर दिया। विवेक-शून्य कुबुद्धिप्राप्त रानी ने कभी 'रोष तरवारि'[1] कभी 'रोष तरंगिनी'[2] तो कभी श्मशान जगाने वाली साधिका[3] और कभी 'भूखी बाघिन'[4] की भांति भीषण और अशुभ रूप धारण किए। उस रोष-तरंगिणी के प्रवाह मे राजा रूपी वृक्ष समूल उखड गया, अयोध्या की सुख-शान्ति बह गई और वहाँ से चित्रकूट पर्यन्त मलिनता छा गई। रानी ने अपने कौशल की पराकाष्ठा शीघ्रातिशीघ्र दोनो बातें मनवा लेने में ही समझी। उसे ज्ञात था कि चक्रवर्ती का मन उसके 'आनन-चंद' का चकोर है। बस, पहले रोष प्रदर्शित कर उन्हें भयभीत किया, फिर प्रेम का मोहक आवरण डालकर विवश कर दिया। प्राणप्रिया पर मुग्ध राजा रोष को भी 'काम कौतुक' समझ उसका इन्द्रजाल न पहचान सके और उसमे बेतरह उलझ गए। राम की शपथ खाकर अनेक असंभव वादे पत्नी के सामने कर बैठे। वे इस भ्रम में रहे कि आज प्राणप्रिया यदि माँगेगी तो तिलक मे किसी विशेष आयोजन की ही माँग करेगी। राम पर उसके असीम प्रेम का उन्हे पता था। अत. वरदान सुनते ही वज्रपात-सा हुआ। एकाएक विश्वास नही हुआ और पूछा—'रिस परिहास कि साँचेहु साँचा।' कैकेयी ने भीषण रूप धारण किया। राजा गिड़गिड़ाने लगे। विजय हाथ लग चुकी थी और रानी एक कदम भी पीछे हटने को तैयार नही थी।

कैकेयी को मनु के तप और वरदान तथा तापस के अभिशाप[5] का पता होता तो कहा नही जा सकता कि राजा की निम्नांकित विनय का उस पर क्या प्रभाव पड़ता :—

---

१ "आगे दीख जरत रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी॥"

'मानस' अयो०, ३०·१।

२ "अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी॥"

वही, ३३·१।

३ "परेउ राउ कह कोटि विधि काहे करसि निदानु।
कपट सयानि न कहति कछु जागति मनहुँ मसानु।"

वही, ३६।

४ "उतरु न देइ दुसह रिस रूखी। मृगिन्ह चितव जनु बाघिन भूखी॥"

वही, ५०·१।

५ दैववश राजा भी इसे भूले रहे और अंत समय उन्हें इसका स्मरण हुआ। तब उन्होंने कौशल्या को तापस शाप की कथा सुनाई।

"समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना। जीवनु राम दरस आधीना[1] ॥"

इस समय तो इसने उसकी रोषाग्नि में आहुति का काम किया :—

"सुनि मृदु बचन कुमति अति जरई। मनहुँ अनल घृत आहुति परई॥
कहइ कोटि किन करउ उपाया। इहाँ न लागिहि राउर माया[2] ॥"

'सुरमाया बस' उसकी भ्रमित बुद्धि क्रोधाभिभूत हो राजा की सत्यता और मंथरा की कुचाल को न पहचान पाई और चटपट निपटारा करने के ख्याल से उसने अपने फैसले के रूप में चेतावनी दे दी :—

"होत प्रात मुनि वेष धरि जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरन राउर अजस नृप समुझिय भय माहिं[3] ॥"

उसे एक ही बात की धुन थी :—

"जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका[4] ॥"

उसने विचारा कि राजा का दुख अल्पकालीन है, धीरे-धीरे शांत होंगे ही। राम को राज्य और वन मे कोई अन्तर नही। बस, कौसल्या को उनकी कुमंत्रणा का उचित फल मिलना चाहिए। अब मैं राजमाता होकर रहूँगी। मेरा साका चलेगा कि किसी ने असंभव को संभव करके दिखला दिया। क्रोध और ईर्ष्या के इस बवडर ने उसकी आँखें बन्द कर भरत की भव्य मूर्ति को उसकी दृष्टि से ओझल कर दिया और उसे क्षण भर भी यह विचारने का अवसर न मिला कि इसका प्रभाव अनन्य राम-प्रेमी भरत के ऊपर क्या होगा। उसकी आँखें तब खुलीं जब उसके कानो ने सुना :—

"को तू अहसि सत्य कहु मोही[5] ।"

धर्म-धुरीण भरत की मर्मभेदी वाणी ने सत्य की आँख खोल दी और कैकेयी ने अपने सच्चे स्वरूप को पहचाना। जब अपनी भयंकर भूल समझ में आई तो हृदय में उमड़ती हुई असीम व्यथा ने वाणी का मार्ग अवरुद्ध कर दिया और उसके मुख से फिर कभी एक शब्द भी न निकल सका।

---

१. 'मानस', अयो० ३२. ३।

२. वही ३२. ४,५।

३. वही ३३।

४. वही ३२.८।

५ वही १६१ ७

भरत अवश्य ही आत्मग्लानि के कारण नाना प्रकार से स्वयं को धिक्कारते रहे। उसी में कभी तो उनके मुख से सुनाई पड़ता है :—

"कारन तें कारज कठिन होइ दोषु नहिं मोर।
कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर[1] ॥"

और कभी यह :—

"मातु मंदि मईं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥
फरै कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक काली[2] ॥"

भरत अपने दोष-दर्शन के लिए ही ऐसा कह रहे हैं। परंतु चतुर कवि की सारगर्भ उक्ति से व्यक्त है कि कार्य सदा कारण के अनुरूप होना प्रकृति का नियम है। इसीसे सुधान्य कभी कोदव की बालि से नहीं उपजा करते और मोती कभी सामान्य सीप में नहीं उत्पन्न होते। इस न्याय से, यदि भरत पुण्यश्लोक पुनीतचरित्र हैं तो कैकेयी कुटिल कैसे ? कैकेयी की ग्लानि के किंचित् निरीक्षण से भी यह उक्ति उचित ही प्रतीत होती है। उसकी अभिव्यक्ति तुलसीदास के काव्य में 'साकेत' की भाँति लंबे व्याख्यानों द्वारा नहीं की गई है। उसकी गहनता और शालीनता माता के मौन में छिपी है। केवल दो स्थानों पर दो-चार शब्दों में ही उसका सूत्र प्राप्त हो जाता है। जनक जी के आगमन के अवसर पर कवि बतलाता है :—

"गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषन देई॥[3] ॥"

इन शब्दों में उसकी मानसिक प्रक्रिया का अद्भुत संकेत है। अपनी चातुरी से संग्राम में राजा के प्राण बचाने में समर्थ होने के कारण ख्यातिप्राप्त बुद्धिमती महारानी किससे कहे कि उसने 'मंदमति' चेरी की बातों में आकर इतना बड़ा अनर्थ कर डाला। दोष दासी का नहीं, उसी का है कि उसने एक पखवारे से राज्यतिलक की तैयारियाँ होने का समाचार सत्य मान, इसके मूल में अपने विरुद्ध भारी षड्यंत्र की कल्पना कर ली। यह न सोचा कि कोई नहीं तो सरलता की मूर्ति प्राणप्रिय राम उससे कभी कपट नहीं कर सकते थे। यही नहीं, तो राजा से ही किसी बहाने इस कथन की सचाई की जाँच कर ली होती। वे बतला देते कि यह शुभ समाचार उसे स्वयं सुनाकर उसका सम्मान

१. 'मानस', अयो० १७९।
२ वही, २६० । ४।
३ वही २७२ १

बढ़ाने और उसकी प्रसन्नताका आनन्द लेने के लिए ही उन्होंने दिन-भर उससे यह समाचार छिपाया था। अतः अब किसी से कहना क्या, सहना ही सहना शेष है।

चित्रकूट में उसकी दशा कारुणिक हो उठती है :—

"लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई।।
अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई।।
लोकहु बेद बिदित कवि कहही। राम बिमुख थलु नरक न लहही[1]।।"

'कुटिल रानि' की इस भीषण ग्लानि का कारण केवल रामादिक की सरलता ही नहीं है। वह सरलता उसी हृदय के हेतु इतनी गहरी ग्लानि का कारण हो सकती है जिसमे सात्विक वृत्तियों को आश्रय मिलता रहा हो। कष्ट मे भी प्रिय बालकों का अपने प्रति सरल व्यवहार देखकर माता को पश्चात्ताप की यातना असह्य हो उठती है और यही इच्छा होती है कि पृथ्वी फट जाए और मैं उसमे समा जाऊँ या फिर मृत्यु ही आकर त्राण दे। पर मुझे अपने अंक मे स्थान कौन देगा ? लोक-वेद में प्रसिद्ध है कि राम-विमुख को नरक में भी स्थान नहीं मिलता। आश्चर्य नहीं कि मेरा विदीर्ण हृदय देख कर भी पृथ्वी माता विदीर्ण नही होती। इस प्रकार कैकेयी एकाकी ही अपनी ग्लानि मे गलती रहती है।

उसके चरित्र-चित्रण के आवरण में कवि की प्रच्छन्न सहानुभूति ऐसे संकेतो द्वारा ही जानी जाती है। वह सुरमायावश कुटिल है, स्वभाववश नहीं। वह मौन है और उसका मौन ही पुकार-पुकार कर नारी-समाज को सौतिया-डाह के दुष्परिणामो से सचेत कर रहा है। कैकेयी-मंथरा-संवाद और दशरथ-कैकेयी-संवाद में कवि की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दक्षता का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। उसने इसका प्रयोग करके मानव-स्वभाव की गहराई मे पैठकर केवल अमृत-तुल्य भावो को ही नही, ऐसी विष-तुल्य विनाशकारी भावनाओं को भी खोज निकालना उचित समझा है जिनके विषैले प्रभाव से समाज चेतना-विहीन हो जाता है। लोक-कल्याण के निमित्त संग्रह-त्याग की दृष्टि से इस प्रकार के गुण-दोषो को प्रकट करना अनिवार्य था। विधाता की अनुपम सृष्टि मानव-मानस-रत्नाकर के इस अमृत और विष को 'संत हंस' तुलसीदास ने जैसा विलगा कर दिखाया है वैसा किसी अन्य संत से संभव नही हो सका।

---

१ 'मानस', अयो० २५१ ५-७

निष्कर्ष यह कि गोस्वामी जी ने जहाँ एक ओर कैकेयी के अविद्या-स्वरूप को चरितार्थ किया है वही उसके लौकिक चरित्रांकन में भी वे खरे उतरे है। इस प्रसग में स्पष्ट हो जाता है कि माता और विमाता आध्यात्मिक दृष्टि से कितनी अभिन्न और लौकिक दृष्टि से कितनी भिन्न होती है। कविकर्म की दृष्टि से उनकी भावाभिव्यंजन शक्ति और नारी-हृदय की परख के साथ उनकी मनोवैज्ञानिक क्षमता का भी पूरा परिचय यहाँ मिलता है।

वीर-प्रसविनी माता सुमित्रा का अनुपम राम-प्रेम और त्याग सर्वथा सराहनीय है।[१] माता-पिता द्वारा वनगमन की आज्ञा मिलने पर भी राम को अनुमति देते हुए विवेकशीला कौसल्या का वात्सल्यपूर्ण हृदय द्रवीभूत हो नेत्रों के द्वारा प्रकट हो गया। उधर, लक्ष्मण को न किसी ने आज्ञा दी और न उन्होंने अनुमति ही माँगी। उन्होंने पूछने पर सब कथा कही। सुनते ही माता की क्या दशा हुई और वे किस उधेड़-बुन में पड़ गए यह देखने योग्य है :—

"गई सहमि सुनि बचन कठोरा। मृगी देखि दव जनु चहुँ ओरा॥
लखन लखेउ भा अनरथ आजू। एहिं सनेह बस करब अकाजू॥"[२]

माता बिना कहे ही पुत्र की इच्छा जानकर उसके लिए असीम त्याग कर सकती है, इसका ज्वलंत उदाहरण सुमित्रा है। उनकी व्यवहारकुशल बुद्धि ने समझ लिया कि आज अयोध्या को चारों ओर से लपेट कर उसकी सुखशाति भस्म करने के निमित्त दावाग्नि भड़क उठी है। उन्होंने परिस्थिति की विषमता पहचान कर सिर धुन लिया, पर बडी ही शीघ्रता से धैर्य धारण कर निश्चय किया कि लक्ष्मण को भी राम-सीता के साथ वन जाना है और इसके लिए एक क्षण की भी देर उचित नही। बस, चट लक्ष्मण को वन जाने की आज्ञा दे दी। वह आज्ञा ही थी, अनुमति नही क्योंकि लक्ष्मण ने अनुमति नही माँगी थी। एक माता ने पुत्र को वनवास की आज्ञा दी, दूसरी ने कर्तव्य-पालन की दृष्टि से उन्हे नही रोका, पर तीसरी ने पिता, माता अथवा पुत्र किसी के इच्छा प्रगट किए बिना ही स्वतः अपनी ओर से वन जाने की सहर्ष आज्ञा प्रदान की। इस दृष्टि से सुमित्रा का त्याग कौसल्या के त्याग से बढकर है। वे नितान्त शात और गभीर है। उनका साहस और उनकी दृढता अद्भुत है। उनकी राम-भक्ति बेजोड है। हृदय-विदारक समाचार सुनकर मीनमेष किए बिना ही वे पुत्र को अवसरानुकूल आदेश देने लगती हैं :—

---

१ लक्ष्मण सुमित्रा के प्रसग के लिए देखिए 'मानस', अयो० ७२·३—७५।
२ वही, ७२·५—७

"गुरु पितु मातु बंधु सुर साई। सेइअहिं सकल प्रान की नाई॥
रामु प्रान प्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें॥
अस जिअ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू॥[1]"

देखो, तुम्हारे भाग्य से ही राम वन जा रहे हैं। सभी पुण्यों का फल है सीता-राम के चरणों मे प्रेम। इसलिए :—

"राग रोषु इरषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इनके बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम वचन करेहु सेवकाई॥[2]"

उनके विचार से राम को वन मे कष्ट होगा, लक्ष्मण को नहीं। क्योंकि :—

"तुम्ह कहँ वन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु राम सिय जासू॥
जेहिं न राम वन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥[3]"

बस, ऐसी सेवा करो कि राम अयोध्या, पुरजन, परिजन और माता-पिता को भूले रहे।

इस शिक्षा के साथ आशीर्वाद भी है :—

"रति होउ अविरल अमल सिय रघुबीर पद नित-नित नई॥[4]"

यह आशीर्वाद उस माता का है जिसने रामप्रेमी पुत्र के जन्म से ही अपने मातृत्व को सफल माना है। सुनिए, लक्ष्मण से वे क्या कह रही है :—

"भूरि भाग भाजन भयेहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौ तुम्हरे मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ॥
पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुत होई॥
न तरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥[5]"

यदि कहा जाए कि दो पुत्रों में से लक्ष्मण के राम के साथ जाने पर भी शत्रुघ्न उनके समीप थे ही, तो इसका उत्तर हमे 'गीतावली' में मिल जाता है। सजीवनी लेकर जाते हुए हनुमान जब भरत के बाण से विद्ध होकर अयोध्या मे

१ 'मानस' अयो० ७३·५-८।

२ वही, ७४·५, ६।

३ वही, ७४ ७, ८।

४ वही, ७४, १२।

५ वही ७४, ७४ १, २

गिर पडते है तब उनके द्वारा सीताहरण और लक्ष्मण के शक्ति लगने का समाचार प्राप्त कर सभी के हृदय पर एक बार फिर वज्रपात होता है। इस समय भरत की ग्लानि की सीमा नही है। पहले एक भाई के वन-गमन का कारण बने, आज दूसरे के प्राणों के ग्राहक बन रहे हैं। उनकी आत्मग्लानि इन शब्दो में फूट पड़ती है :—

"अहह दैव मै कत जग जाएउँ। प्रभु के एकहु काज न आएउँ[१] ॥"

हनुमान के साथ भी चाहे तो जाएँ कैसे ?

"आयसु इतहि स्वामि-संकट उत परत न कछू कियो है॥
तुलसिदास बिहर्‌यो अकास सो कैसे कै जात सियो है[२] ॥"

भरत की यह दशा देख माताएँ स्तब्ध हो जाती हैं :—

"भरत गति लखि मातु सब रहि ज्यों गुड़ी बिनु बाय[३] ।"

पहले माता कौसल्या ने भरत को सँभालने का प्रयत्न किया था, आज सुमित्रा की बारी है। आज उन्होंने जो कहा, शत्रुघ्न ने जो कुछ किया और उसका प्रभाव उस समाज पर जो पड़ा वह दर्शनीय है। यहाँ एक पद में ही अनेक पात्रों का हृदय खोलकर रख दिया गया है। ध्यान से देखें अयोध्या में अर्धरात्रि के समय क्या हो रहा है :—

"सुनि रन घायल लषन परे है।
स्वामि-काज संग्राम सुभट सो लोहे ललकारि लरे हैं॥
सुवन-सोक-संतोष सुमित्रहि रघुपति-भगति बरे हैं।
छिन छिन गात सुखात छिनहि छिन हुलसत होत हरे है॥
कपि सों कहत सुभाय अब के अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनन्दन बिनु बंधु कुअवसर यद्यपि धनु दुसरे है॥
'तात जाहु कपि सँग' रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं॥
अब अनुज गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे है।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं[४] ॥"

---

१ 'मानस', लंका ५१.३।
२ 'गीता०' लंका १०।
३ वही १४।
४ वही ११

'सुवन-सोक संतोप सुमित्रहि' ने सुमित्रा को उस आसन पर आसीन कर दिया जहाँ अन्य कोई माता आज तक न पहुँच सकी। शत्रुघ्न की रामभक्ति भी आज खुल गई। 'मानस' में इस प्रसंग का विस्तार करना प्रतिपाद्य विषय से हट जाना होता, अत. वहाँ इसका विस्तार नही किया गया है।

सुमित्रा का गृहिणी रूप भी कम प्रशंसनीय नही है। 'गीतावली' में हम उन्हें बालको के लालन-पालन मे सबसे अधिक लीन देखते है। विविध समारोहों के अवसर पर गृह-प्रबन्ध, चौकादि पूरने के काम मे वे ही लगी दिखाई देती है। उनकी सपत्नियों के प्रति भावना भी आदरणीय है। उनमें कौसल्या के प्रति अपार श्रद्धा है। कैकेयी के प्रति सहानुभूति उनके वचनों से प्रकट हो जाती है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। तात्पर्य यह कि सुमित्रा का चरित्र भी अपने ही ढंग का उज्ज्वल और सब प्रकार से समादरणीय है।

जिन माताओं के द्वारा माता-पुत्री सम्बन्ध का चित्रण किया गया है वे है मैना और सुनयना। माता की पुत्री के प्रति कैसी ममता होती है, वह उसके कुशल-मगल एवं सुयोग्य वर के लिए कितनी चिंतित रहती है, उसे ससुराल जाते समय कैसा उपदेश देती है कि वह अपने घर मे सुख-शाति स्थापित कर सके, और उसे बिदा करते समय माँ का हृदय कितनी करुण वेदना से भर जाता है इसका सरस और मार्मिक चित्रण इन दोनो प्रकरणो में किया गया है।

पार्वती की माता मैना नारद से उनके विवाह का भाग्यलेख जान उन्हें शंकर के लिए तप करने की सम्मति देती है, परन्तु विवाह के अवसर पर शकर का विलक्षण वेश देख मातृ-हृदय व्याकुल हो उठता है। माता प्राण दे सकती है पर अयोग्य वर के हाथ मे कन्या को नही सौप सकती। मैना विपाद में भरकर पार्वती से यही कहती है कि जिस परमात्मा ने तुम्हें सुन्दरता दी उसने तुम्हारे वर को बौरा क्यो बनाया? वे प्रतिज्ञा कर बैठती है :—

"तुम्ह सहित गिरि ते गिरौं पावक जरौं जलनिधि महँ परौं।
घर जाउ अपजस होउ जग जीवत बिबाहु न हौं करौं[1]॥"

बात सँभलने पर विवाह होता है। बिदा के समय माता की शंकर से जो प्रार्थना है और पुत्री को जो शिक्षा दी गई है वह हमारी गृहस्थी की शोभा और किसी भी पुत्री के लिए ऐसा दृढ़ आलवन है जिसके सहारे वह

१ 'मानस' बाल० १०० ११, १२

कठिन से कठिन परिस्थिति में अपना कर्तव्य निबाह सकती है। लाड़-प्यार से पालित अपनी कन्या को सदा के लिए अन्य को सौंपते समय माता-पिता के हृदय पर जो बीतती है उसे कोई भुक्तभोगी ही समझ पाता है। कवि-हृदय उसे परख कर ही पुकार उठा है :—

"कत विधि सृजी नारि जग माही। पराधीन सपनेहुँ सुख नाही॥"[1]

मैना के सदृश सुनयना का रूप भी हमारे चिर-परिचित मातृ-हृदय का स्वरूप है। पुत्री के प्रति इनके भी वैसे ही महत्त्वपूर्ण भाव हैं। धनुर्यज्ञ के समय पुत्री के लिए सुयोग्य वर-प्राप्ति की उनकी आतुरता और उसके सुख-सौभाग्य की कामना से उत्पन्न व्यग्रता स्वाभाविक है। त्रिलोक का कोई भी वीर धनुष नहीं तोड़ पाता है। इस घोर निराशा के अंधकार में 'रघुबर बाल पतंग' का उदय होता है और माता की दशा कारुणिक हो उठती है। उन्हें सीता के गौरीपूजन और पुष्पवाटिका का वृत्तान्त अवश्य ही ज्ञात हैं। अब यदि किशोर बालक से धनुष न उठ सका तो ? इस भावना से उद्वेलित हृदय का चित्रण भावों के चतुर चितेरे ने थोड़े शब्दों में बड़ी पटुता से किया है। सुनयना घबराकर कह रही हैं :—

"सखि सब कौतुक देखनि हारे। जेउ कहावत हितू हमारे॥
कोउ न बुझाइ कहइ गुरु पाही। ए बालक असि हठ भल नाहीं॥
रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा॥
सो धनु राजकुँवर कर देही। बाल मराल कि मंदर लेही॥
भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जाति न जानी॥"[2]

यहाँ ममत्व विवेकहीनता का आश्रय नहीं बना है। उसका आशय यह नहीं कि प्रतिज्ञा तोड़ कर धनुर्यज्ञ में निमंत्रित किसी भी राजा से कन्या का विवाह कर दिया जाए। राम तो उस निमंत्रण में सम्मिलित नहीं हैं। फिर उनकी परीक्षा क्यों ? धनुष न टूटने पर विवाह का निश्चय तो राजा की इच्छा के अनुसार होना चाहिए। यही राजा का 'सयानप' समाप्त होता दीख रहा है कि 'लिखा न विधि वैदेही बिबाहू' की घोषणा कर रहे हैं और किशोर बालक को वह धनुष उठाने के लिए जाने दे रहे हैं जिसने त्रिलोक के राजाओं को बलविहीन सिद्ध कर दिया है। राजा को नहीं, तो गुरु ही को कोई समझा

---

१ 'मानस' बाल० १०१ ५

२ वही अयो० २५० १ ५

दे कि इन बालकों से यह कठिन कर्म न कराया जाए। सखी के समझाने पर समाधान होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सखी में कुछ बुद्धि अधिक है। पुत्री का ममत्व उन्हे राजा की घोषणा और ऋषि का अनुरोध अनुचित समझने के लिए बाध्य कर रहा है। इसके पश्चात् पुत्री की बिदा के समय, व्याकुल वेदना सहित वे उसे उचित उपदेश देती हैं। चित्रकूट में उसे धर्म-पालन में निरत देख उनका हृदय पूर्ण रूप से संतुष्ट होता है।

दो माताएँ ऐसी भी है जिनकी अपने पुत्रो के प्रति क्या भावनाएँ है उनका कोई संकेत नहीं मिलता। वे है तारा और मंदोदरी। रावण को बारम्बार परामर्श देनेवाली मंदोदरी भूल कर भी कभी मेघनाद को सदुपदेश नही देती। इसी प्रकार तारा और अगद के सम्बन्ध का परिचय नही मिलता। अंगद रामभक्त था। यदि कुछ अनुचित करता तो सभवत. तारा उससे कुछ कहती-सुनती। रावण द्वारा मन्दोदरी की अवहेलना उसके पति होने के कारण क्षम्य थी परन्तु मेघनाद द्वारा माता के सदुपदेश की उपेक्षा होना माता के असम्मान का उदाहरण होता। मेघनाद के प्रति मन्दोदरी की उदासीनता का कारण संभवतः यही है। अत' माता-पुत्र का यह सम्बन्ध इसी रूप मे व्यक्त रहा कि राक्षस-समाज मे स्वतत्र पुत्र को न तो माता से किसी कार्य में आज्ञा लेने की आवश्यकता थी और न माता ही उसके कार्यों में हस्तक्षेप करती थी। जिस अनीतिपूर्ण समाज में कुटुम्ब की पुत्री शूर्पणखा के समान स्वच्छंद हो सकती थी वहाँ पुत्र की यह स्वतंत्रता अस्वाभाविक नही प्रतीत होती।

सास-बहू का सबध भी पारिवारिक जीवन में विशेष महत्व का है। समाज के सम्मुख इसका आदर्श प्रस्तुत करना भी आवश्यक था। कौसल्या के वचनों और व्यवहार से स्पष्ट कर दिया जाता है कि पुत्री और पुत्र-वधू के प्रति स्नेह में रंचमात्र भी अन्तर न होना ही उज्ज्वल मातृहृदय की विशेषता है। पुत्र-वधू का लाड़-दुलार कौसल्या के इन वचनों से प्रकट है :—

"नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेऊँ प्रान जानकिहि लाई॥
कलप बेलि जिमि बहु बिधि लाली। सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली[1]॥"

और

"पलँग पीठि तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा॥
जिअन मूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीप बाति नहि टारन कहऊँ[2]॥"

१ 'मानस', अयो० ५८'२, १।   २ वही ५८'५—६।

सास और ससुर दोनों ही चाहते हैं कि पुत्र-वधू वन में न जाए। पुत्र की अनुपस्थिति में उसे देखकर उनका हृदय शीतल हो सकता है। सास हर तरह से सिद्ध करती है कि सीता वन के योग्य नहीं, परन्तु यदि चित्रलिखित कपि देखकर डरने वाली सुकुमारी को वन जाने की अनुमति राम देते हैं तो वे उसे उचित उपदेश देने के लिए भी तत्पर हैं।

इस प्रकार के चित्रण द्वारा हिन्दू-समाज के समक्ष उत्तम आदर्श प्रस्तुत किया गया है। सासों का प्रेम और चित्रकूट में सीता का उनके प्रति सेवाभाव, गृह-कलह में लगी हुई सास-बहुओं के लिए उत्तम सीख है।

पुत्री के प्रति पिता के स्नेह की झलक पार्वती और जानकी के विवाह-प्रसंगों में मिलती चलती है। पिता के वात्सल्य का एक रूप यह भी है :—

"लीन्ह राय उर लाइ जानकी। मिटी महा मरजाद ज्ञान की॥"[१]

प्रत्येक पिता को अपनी पुत्री को दोनों कुल पवित्र करते देख जो हर्ष होता है वह चित्रकूट में सीता के प्रति कहे गए जनक जी के वचनों से स्पष्ट है।[२]

समाज में बहन की स्थिति के चित्रण के लिए राम-चरित में कम अवकाश है। शूर्पणखा के अतिरिक्त कथा में अन्य बहन का उल्लेख नहीं है। उसके चित्रण से यह अवश्य अनुमान हो जाता है कि जब रावण के यहाँ बहन का इतना सम्मान था कि भरी सभा में उसे खरी-खोटी सुना सके और खर-दूषण ऐसे वीर भाई उसकी सम्मान-रक्षा के लिए मर मिटें तथा रावण भी उसके अपमान का बदला लेने के लिए तत्पर हो जाए, तो फिर मानव-समाज में उसका कितना सम्मान और क्या अधिकार उचित है, विचार करने की बात है।

पुरुष के जीवन में माता के अनन्तर पत्नी का ही प्रमुख स्थान है। माता जीवन-निर्मात्री है तो पत्नी जीवन-सहचरी। राम-कथा में पत्नी के कई रूप हैं। प्रधान है धर्मपत्नी, सहधर्मिणी अथवा अर्द्धांगिनी। दूसरी है परित्यक्ता पत्नी। एक दूसरे से नितान्त विरोधी स्थिति की दो पत्नियाँ इस रूप में भी दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम हैं महादेवी सीता और द्वितीय है ऋषिपत्नी अहल्या। परित्यक्ता का एक और भी रूप है जिसका अवतरण किसी पत्नी विशेष के रूप में नहीं है परन्तु जिसकी छाया एक विशेष नारी पात्र में प्रतिबिंबित हो

---

१ 'मानस', बाल० ३४२.४–८।

२ वही अयो० २८९ १–४

उठी है। इस कोटि की पत्नी का स्मरण भी कवि ने बड़े ही प्रच्छन्न रूप से अत्यन्त मार्मिक अवसर पर किया है। मनोविज्ञान के आधार पर कहा जा सकता है कि कवि के अचेतन मन में छिपी हुई वेदना अचेतन मन के सुप्त भावों की प्रक्रिया के फलस्वरूप एक अप्रस्तुत विधान में अनायास ही प्रकट हो उठी है। प्रसंग है राम को वन में पहुँचाकर अयोध्या लौटते हुए सुमंत्र की हृदय-विदारक मनोदशा का। वे ग्लानि से गलते हुए सोच रहे हैं कि अब राजा का सामना कैसे करूँगा? पता नहीं किन कर्मों के भोग का फल है कि आज यह कठिन कर्म करके भी प्राण धारण किए हुए राजा को प्राणान्तक कष्टदायी समाचार सुनाने जा रहा हूँ। अपार विषाद से घिरे हुए सुमंत्र के हृदय की अनिर्वचनीय वेदना को उनका ही हृदय जानता है और जान पाया है वह पति-हृदय भी जो ऐसी वेदना को पहचानने में विशेष कारणवश समर्थ हो सका है। देखिए कवि-हृदय सुमंत्र की पीड़ा में कौन-सी पीड़ा पहचान रहा है :—

"जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पति देवता करम मन बानी॥
रहै करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू॥"[1]

यह उस पत्नी की असीम वेदना है जो न सीधे-सीधे पति द्वारा त्यागी गई है और न स्वयं ही पति का त्याग किए हुए है। उसे तो कर्मों के फेर से पति से परित्यक्त हो जीवन धारण करना पड़ रहा है। न पति का दोष है न उसका, बस है उस कर्म का फल जो कभी प्रमादवश उससे हो गया होगा।

ऐसी किसी पत्नी के चित्रण का अवकाश कथा के विभिन्न समाजों में नहीं था। हाँ, समाज से दूर, किसी संताप में तपती हुई, एकान्त साधना द्वारा राम की प्राप्ति करने वाली ऐसी किसी पत्नी की छाया अवश्य ही प्रतिबिम्बित हो उठी है स्वयंप्रभा तपस्विनी में। हमारा अनुमान है कि वह तुलसीदास की पत्नी की ही वेदना है जो भक्तशिरोमणि के परदुःखकातर संत-हृदय में सुप्त पड़ी रही और अवसर पाकर सुमंत्र के प्रसंग में, एक अप्रस्तुत के रूप में जग उठी है। उसकी कुछ समानता मिली है उन्हें स्वयंप्रभा के एकाकी जीवन में और उन्होंने उस तपस्विनी का प्रतिबिम्ब इस तपस्विनी में उतारकर उसे 'मानस' में अमर कर दिया है।[2]

---

१ 'मानस', अयो० १४४.१,२।

२ इसका विस्तृत विवेचन छठे अध्याय में किया गया है

अब धर्मपत्नी के स्वरूप पर विचार करना चाहिए। दाम्पत्य के अनेक रूप राम-चरित के अन्तर्गत चित्रित हैं। इस संबंध में स्वतंत्र रूप से किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नही किया गया है। हाँ, 'दोहावली' के एक दोहे में कवि की इस संबंध की धारणा का विशेष बोध हो जाता है।[1] दोहा है —

"जनम-पत्रिका बरति कै देखहु मनहि बिचारि।
दारुन बैरी मीचु के बीच बिराजत नारि[2]॥"

इस दोहे का सामान्य अर्थ यही लगाया जाता है कि स्त्री शत्रु और मृत्यु के बीच मे अवस्थित होने से दोनों का कारण होती है। परन्तु इसी न्याय से इसके दूसरे पक्ष में यह अर्थ लगाना असंगत नहीं कि नारी शत्रु और मृत्यु दोनो के बीच आकर बचाव किए हुए है। यदि वह न रहे तो दोनो परस्पर सहयोग कर पूर्ण विनाश कर डालें।

ज्योतिष के अनुसार भी इस पर कुछ विचार कर लेना उचित होगा। जन्म-पत्रिका में शत्रु का घर छठा, स्त्री का सातवाँ और मृत्यु का आठवाँ होता है। पहला स्थान तन-स्थान कहलाता है जिसमें ग्रहों की स्थिति के अनुसार व्यक्ति का रूप-रंग, स्वास्थ्य, शील-स्वभाव आदि निर्धारित होते हैं। इसी प्रकार सातवें घर के अनुसार पत्नी का विचार होता है। इस दृष्टि से पहले और सातवें घर का एक दूसरे पर विशेष प्रभाव देखा जाता है। सप्तम स्थान के ग्रह स्वयं लाभकर होने अथवा उनका अन्य ग्रहो से उत्तम योग होने पर पति अथवा पत्नी के ग्रहो से परस्पर एक दूसरे की रक्षा शत्रु अथवा मृत्यु-कारक ग्रहों से हो सकती है। वास्तव में किसी के सप्तम स्थान का विचार करने के लिए पति अथवा पत्नी की जन्मपत्रिका का विचार आवश्यक हो जाता है।

उक्त दोहे मे 'बरति कै' शब्द भी विचारणीय है। 'बरतना' का अर्थ है 'काम में लाना', 'व्यवहार करना'। पहला अर्थ यहाँ अनुपयुक्त है। व्यवहार के लिए दूसरा पक्ष अपेक्षित होता है। अतः यहाँ एक संकेत और भी ग्रहण किया जा सकता है, जिसका ज्योतिष मे विशेष महत्त्व भी है। हिन्दूमात्र

---

१ स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी ने इसका उल्लेख गोस्वामी जी के ज्योतिषज्ञान के प्रमाण में किया है। किन्तु इसका कोई विवेचन उन्होंने नहीं किया।

२ 'दोहा०', दोहा २६८।

जानता है कि जन्मपत्रिका का मेल न होने से उत्तम विवाहसंबंध भी रोक दिए जाते हैं। अतः 'बरति कैं' से यह संकेत भी ग्रहण किया जा सकता है कि ग्रह मेलापक विचार के अवसर पर ध्यान रहे कि मृत्यु और शत्रु के बीच में स्त्री विराजमान है। तात्पर्य यह कि कन्या की जन्मपत्रिका का इस दृष्टि से विचार करना उचित है कि उसका ग्रहयोग पति के शत्रु एवं मृत्युकारक अनिष्ट के शमन में कहाँ तक समर्थ है। कारण, जीवन में स्त्री के कारण शत्रु-वृद्धि और मृत्यु दोनों ही हो सकती है। ज्योतिष-शास्त्र के जातक ग्रंथों में सप्तम भाव का विचार विस्तार पूर्वक और अधिकतर इसी दृष्टि से किया गया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। कहा गया है :—

"लग्नाद्विधोर्वा यदि जन्मकाले
शुभग्रहो वा मदनाधिपश्च
द्यूनस्थितो हन्त्यनपत्यदोषं
वैधव्यदोषं च विषाङ्गनाख्यम् ॥"

तात्पर्य यह कि स्त्री की जन्मकुण्डली में यदि कोई शुभ ग्रह अथवा सप्तम का अधिपति ग्रह लग्न और चन्द्रमा से सप्तम में बैठा हो तो ऐसे योग से वैधव्य, अनपत्य और विषकन्या आदि समग्र दोष विनष्ट हो जाते हैं।[1]

गोस्वामी जी ने इस दोहे में स्पष्ट संकेत कर दिया है कि भाग्यलिपि ने ही पुरुष के जीवन में नारी की ऐसी स्थिति लिख दी है कि वह उसके जीवन-मरण का प्रश्न बन गई है। उसके द्वारा शत्रु और मृत्यु का आवाहन जितना संभव है उतना ही नहीं, उससे कहीं अधिक संभव है उसके द्वारा इनके पंजों से परित्राण भी। इसीलिए इस पर मन ही मन गंभीरतापूर्वक विचार करने का आदेश उन्होंने दिया है।

इसका एक उदाहरण 'मानस' में प्रत्यक्ष है। विभीषण ने रावण को समझाते हुए जो कहा है उसे इस दोहे के प्रकाश में समझने की आवश्यकता है। भक्त विभीषण का मदांध रावण से निवेदन है :—

---

१. यही भाव प्रकारान्तर से 'जातकालंकार' में दिया गया है।
देखिए अध्याय ४०, ३।
ऐसे और भी योग हैं। देखिए :—
श्री वैद्यनाथ विरचित 'जातक पारिजात'—स्त्री जातक अध्याय, श्लोक
७ १०, २८

"जो आपन चाहइ कल्याना । सुजसु सुमति सुभगति सुख नाना ॥
सो परनारि लिलार गुसाईं । तजौ चौथ के चंद कि नाईं[1] ॥"

इतने समझाने पर भी जब उसकी आँख नहीं खुली तो इसका भयंकर दुष्परिणाम भी स्पष्ट रूप से कह दिया :—

"जहाँ सुमति तहँ संपति नाना । जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥
तव उर कुमति बसी बिपरीता । हित अनहित मानहु रिपु प्रीता ॥
काल राति निसिचर कुल केरी । तेहि सीता पर प्रीति घनेरी[2] ॥"

पर-नारी से प्रेम करना समाज के विनाश का सबसे बड़ा कारण हो जाता है। एक नारी सीता दूषित दृष्टि से देखे जाने के कारण सारे राक्षस-समाज की मृत्यु के आवाहन की कालरात्रि बन गई। वही मातृभाव से वंदित होने पर 'क्लेशहारिणी सर्वश्रेयस्करी' होकर अखिल लोक-कल्याणकारिणी हो जाती है। इस प्रकार तुलसीदास ने भली-भाँति चिता दिया है कि नारी समाज के विकास और विनाश की मूल शक्ति है। जीवन एवं समाज के उत्थान और पतन में उसका योग विचारने की वस्तु है।

यहाँ इस विचार को उनके विचारकों पर छोड़, देखना चाहिए कि उन्होंने विभिन्न दम्पतियों को किस रूप में प्रस्तुत किया है।

शंकर-पार्वती का अवतरण सामाजिक जीवन के निमित्त नहीं, उनमें अध्यात्म ही प्रधान है। इसीसे वहाँ दाम्पत्यरति का जो स्वरूप अंकित हुआ है वह लौकिक जीवन से परे प्रतीत होता है। शिव के अपवित्र रूप के प्रति पार्वती की आसक्ति अद्भुत है। पार्वती को शंकर से विवाह न करने के लिए समझाते हुए सप्तर्षि यहाँ तक कह जाते हैं.—

"निर्गुन निलज कुबेष कपाली । अकुल अगेह दिगम्बर ब्याली ॥
कहहु कवन सुख अस बरु पाएँ । भल भूलिहु ठग के बौराएँ[3] ॥"

और विष्णु का गुणगान करते हैं, तब उनका उत्तर यह होता है :—

"महादेव अवगुन भवन बिस्नु सकल गुन धाम ।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम[4] ॥"

---

१. 'मानस', सुन्दर० ३७. ५, ६।
२. वही, ३९. ६-८।
३. वही, बाल० ८३.६, ७।
४ वही, ८१

और ऐसे शंभुके लिए प्रतिज्ञा यही है :—

"जनम कोटि लगि रगर हमारो। बरौं संभु न तु रहौं कुमारी॥
तजौं न नारद कर उपदेसू। आप कहहिं सत बार महेसू[1]॥"

शंकर द्वारा काम-दहनके पश्चात् सप्तर्षि पुन. आकर उनकी परीक्षा लेते हैं :

"कहा हमार न सुनेहु तब नारद के उपदेस।
अब भा झूठ तुम्हार पन जारेउ काम महेस[2]॥"

इस पर पार्वती का जो उत्तर है वह दाम्पत्य-रति के दिव्य आध्यात्मिक रूप का ज्वलन्त प्रमाण है :—

"तुम्हरे जान काम अब जारा। अब लगि संभु रहे सविकारा॥
हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥
जौं मैं सिव सेएउँ अस जानी। प्रीति समेत करम मन बानी॥
तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा॥[3]

ऋषि वर्ग में वशिष्ठ के साथ अरुन्धती का निम्नलिखित नामोल्लेख समाज में ऋषिपत्नियों के सम्मान का द्योतक है :—

"अरुन्धती अरु अगिनि समाऊ। रथ चढ़ि चले प्रथम मुनिराऊ[4]।"

अत्रि एवं अनुसूया के दाम्पत्य जीवन की कुछ झलक अवश्य दिखाई गई है। वयोवृद्धा महासती से महादेवी सीता को जो शिक्षा दिलवाई गयी है वह सामाजिक जीवन में पत्नी के आदर्श की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से है। संसार में चार प्रकार की पतिव्रताएँ बतलाकर श्रेष्ठ वही बतलाई गई जिसके लिए "सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं" ही सत्य हो। सीख अवसर के अनुकूल दी गई थी। यदि इसका ध्यान रहता तो सीता का अपहरण नहीं हो सकता। अनुसूया के उपदेश का सारांश यही है कि पति को 'अमित दानि' मानना चाहिए। उससे सभी लौकिक सुख एवं परलोक में सद्गति प्राप्त होती है। क्योंकि किसी प्रकार की परमार्थ-साधना का सम्पादन किए बिना ही पतिव्रता स्त्री सम्पूर्ण धर्म, व्रत और नियमादि के फल अनायास ही प्राप्त करती है। अतः पति का किसी भी स्थिति में अपमान उचित नहीं। यह उपदेश कतिपय

---

१. 'मानस', बाल० ८५. ५, ६।

२. वही, ६४।

३. वही, ६४. २-५।

४. वही, अयो० १८६.६।

लोगो द्वारा कवि की अनुदार दृष्टि का परिणाम और नारी के प्रति उसका अन्याय समझा जाता है। परन्तु इसके साथ हम यह भी देखते है कि मन्दोदरी रावण की कड़ो से कड़ी भर्त्सना करती और उसे 'नीच' तक कह डालती है किंतु कवि न तो रावण को ही उस पर क्रुद्ध दिखलाता है और न स्वयं ही उसकी निंदा करता है। वह तो उल्टे कहता है :—

"फूलै फरैं न बेल जदपि सुधा बरसहि जलद।
मूरख हृदय न चेत जौ गुरु मिलहि बिरंचि सिव[1] ॥"

अत. किसी एक ही प्रसंग के आधार पर कवि की धारणा का निश्चय करना उचित नही है। आज से सैकड़ो वर्ष पूर्व कहे गये वाक्यो का मूल्यांकन आज की सामाजिक कसौटी पर कसकर करना कवि के साथ न्याय नही है। उसने हिन्दू धर्म के आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिए अपना जीवन न्यौछावर कर दिया है। अतः इस प्रकार के कथनो के मूल में उसकी विचार-संकीर्णता नहीं, परंपरागत धर्म की नीव दृढ करने का प्रयत्न है। पत्नी के प्रति उसकी उदार और संतुलित दृष्टि का परिचय पग-पग पर प्राप्त होता है। कौसल्या के प्रसंग मे पत्नी का आध्यात्मिक और लौकिक जीवन में योग प्रत्यक्ष है।[2] कैकेयी के प्रसंग में पत्नी की रूपासक्ति का दुष्परिणाम चित्रित है। पत्नी के अभिलाष का समादर सीता के प्रसंग में स्पष्ट किया गया है। सास, ससुर और स्वयं राम, तीनों की सम्मति के प्रतिकूल केवल सीता की अभिलाष-पूर्ति के लिए राम उन्हें वन ले जाते हैं। यदि पतिव्रत धर्मानुसार उनका वन जाना अनिवार्य कर्तव्य समझा जाता तो पिता-माता और राम कोई भी उन्हें अयोध्यामें रहकर धर्मच्युत होनेकी सीख न देते। इसके साथ ही परम साध्वी पतिव्रता उर्मिला तथा माण्डवी द्वारा भी पति के साथ ही रहने का अभिलाष तो कवि व्यक्त करवा ही देता। भले ही परम्परागत कथाके रूप की रक्षा के निमित्त वह उन्हें वन या नन्दिग्राम जानेसे रोक लेता। तुलसीदास बहुत सतर्क कवि है। सीता द्वारा अवश्य ही इस अभिलाष को पतिव्रत धर्म के अंग के रूप में ही व्यक्त किया गया है, पर राम की ओर से उसकी पूर्ति

---

१. 'मानस', लंका० १६।

२. राजा को अन्त समय में इन्हीं की सेवा और शीतल वाणी से शांति मिली और उनके शरीरान्त के उपरान्त भी कौसल्या ने राज-कार्य में अपना योग अपने अधिकारानुसार दिया।

सीता के अभिलाष का उचित आदर ही है। विवेकपूर्वक पत्नी की इच्छा-पूर्ति पति का परम कर्तव्य है। विवेकहीन होकर उसका पालन मात्र कितना अकल्याणकारी हो सकता है, यह महारानी कैकेयी के प्रसंग में प्रत्यक्ष हो चुका है।

अब किंचित् अवलोकन करना है रावण की पतिव्रता पत्नी मंदोदरी का। उसकी भक्ति-भावना पर विचार हो चुका है। वह भक्त होते हुए भी लोक-जीवन की उपेक्षा नहीं करती और राम का स्वरूप जानते हुए भी पति का परित्याग कर उनकी शरण मे नहीं जाती। वह पति को उचित सम्मति और उपदेश देकर सतत सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करती रहती है और पति की सुरक्षा और उसके कुशल में ही अपने सौभाग्य की वृद्धि मानती है। अत रावण को बार-बार राम की शक्ति और उनके परम रूप का बोध कराकर उनकी शरण मे जाने का अनुरोध करती है जिससे उसका जीवन सफल हो और 'अहिवात' बना रहे। इस प्रकार मन्दोदरी एक अनोखी पतिव्रता रमणीरत्न है।

तारा का चित्रण इस दृष्टि से नही हुआ। प्रबंध योजना मे उसका विशेष महत्त्व नही है। फिर भी उसके प्रसग मे प्रबधकार ने यह संकेत तो कर ही दिया है कि पत्नी के उचित परामर्शका मूल्य क्या है और अभिमानवश उसका पालन न करना कितना बड़ा अपराध है। मरणासन्न बालि से राम ने जो कहा उसका तात्पर्य यही है :—

"मूढ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावनु करेसि न काना[1]॥"

अब इन सभी देवियों को छोड उनके दर्शन की ओर बढना चाहिए जो महाकाव्य के नेता कोसलाधीश राम की पत्नी और महाकाव्य की नायिका हैं। 'राम-चरित' के लौकिक पक्ष में इनका पत्नी-रूप ही प्रधान है। राम के जीवन में उनके जीवन का अभिन्न और अप्रतिम योग है। आध्यात्मिक दृष्टि से उनके स्वरूप का पूर्ण विवेचन हो चुका है। लौकिक दृष्टि से सीता नारीत्व के उच्चतम आदर्श का मूर्तिमान रूप हैं। भारतीय नारी अपने पतिव्रत धर्म के कारण ही विश्व-वंद्य हैं। अन्य देशों मे ऐसा आदर्श नहीं है। भारत के इतिहास को उज्ज्वलता प्रदान करने वाली ऐसी देवियों में सीता की कांति

१ 'मानस' किष्कि० ८१।

सर्वाधिक ज्योतिर्मय और अद्वितीय है। लोक-कल्याण के लिए तपस्या और त्याग ही उनका जीवन है।

जनकपुर में जानकी का पदार्पण एक ऐसी अलौकिक रूपवती, सुकुमारी, सुशील और शालीन राजकन्या के रूप मे होता है जो माता की आज्ञाकारिणी और पिता की मानमर्यादा की रक्षा करनेवाली है। ऐसी किशोरी के अद्भुत रूप-लावण्य और मनोहारिणी चेष्टाओं का साक्षात्कार पुष्प-वाटिका, धनुर्यज्ञ और विवाह के विविध अवसरो पर मिलता है।

पुष्पवाटिका मे राम और सीता एक दूसरे के रूप से आकृष्ट होते और पूर्वजन्म के संस्कारवश उनके हृदय में प्रेमोद्रेक होता है। सीता के रूप-वर्णन में कवि ने अनूठी कल्पना से कार्य लिया है। पुष्पवाटिका में—

"सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई[1] ॥"

की अद्भुत सुन्दरता

"जौ छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूप मय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू[2] ॥"

के द्वारा उपलब्ध काल्पनिक लक्ष्मी के रूप मे चरम उत्कर्ष को प्राप्त होती है। इसी से उस लावण्य का प्रभाव भी सार्वभौम है —

"रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी[3] ॥"

विवाह के अवसर पर राम की शोभा के साथ इसके मणिकांचनयोग से सखियों का ही नही समस्त नारिवृन्द का हृदय असीम हर्ष और उल्लास से भर जाता है। वे उनके दर्शन करते नही अघाती और भूरि-भूरि प्रशंसा मे लीन होती रहती है[4]। आगे चलकर युगल मूर्ति की छवि अपनी सहज शोभा से वनस्थली को सुहावनी बनाती हुई ग्रामीणों एवं वनवासियो के नेत्रों को शीतल और हृदयो को तृप्त करती चलती है। उसकी एक झाँकी के लिए आबाल-वृद्ध, नर-नारी भूख-प्यास भूलकर दौडे चले आते है। इस अनुपम रूप के जादू से पशु-पक्षी भी ठगे-से रह जाते है और राम के ऊपर तो राक्षसो की सेना

---

१. 'मानस', बाल० २३४.७।
२. वही, २५१.७,८।
३. वही २५२४।
४. इसके लिए देखिए 'मानस' का राम-विवाह-प्रसंग, और भी 'कवित्ता०' बाल० १२-१७, 'गीता०' बाल० ६४, १०२, १०३, १०४-१०८।

भी बाण-मोचन नहीं कर पाती। सीता के अलौकिक सौन्दर्य की ख्याति रावण का काल बन जाती है और विभीषण का उपदेश रावण को ही नहीं, मानव मात्र को बता देता है कि नारी का रूप किस आँख से देखने की वस्तु है।[1]

इस दिव्य सौन्दर्य के साथ ही जनकनंदिनी में दिव्य गुण भी है। उनकी विनम्रता और सुशीलता पुष्पवाटिका से लेकर वन-गमन के अवसर पर सास-ससुर और वन मे सुमंत्र के प्रति कहे गये वचनों में बराबर परिलक्षित होती है। यहाँ उनकी गंभीरता भी प्रशंसनीय है। उनकी कोमलता और सहृदयता का परिचय सखियों के मध्य मिलता है। उनकी अत्यन्त मधुर और हृदयहारिणी झलक ग्रामवधूटियों के बीच, उनकी भावना को परखकर मनोहारी चेष्टाओं द्वारा पति का परिचय देते हुए मिल जाती है। बडो के प्रति उनका सर्वदा ही आदर और सम्मान का भाव है। छोटों के प्रति स्नेह, वात्सल्य और कोमलता उनका सहज स्वभाव है।

गृहिणी के रूप मे उनकी गुरुजनो के प्रति सेवाभावना के दर्शन चित्रकूट मे होते है जहाँ वे सभी सासो को सेवा से प्रसन्न कर लेती है। पति के सम्मुख तो वे सदैव ही विनम्र दासी के रूप मे नतमस्तक हैं। राजा राम की पत्नी सीता का गृहलक्ष्मी रूप इतने से ही प्रत्यक्ष हो जाता है :—

"यद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। विपुल सकल सेवा विधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई॥
जेहि बिधि कृपा सिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा विधि जानइ॥
कौसल्यादि सासु गृह माही। सेवइ सबहि मान मद नाहीं[2]॥"

पति के प्रति यह भाव उसी पुनीत प्रेम का परिणाम है जिसका अंकुर पूर्व सस्कारों के भीतर से पुष्पवाटिका मे अंकुरित हुआ था। राम के प्रथम-दर्शन मे उसकी प्रगाढ़ता दर्शनीय है :—

"चितवत चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गए नृप किसोर मन चिता॥
जहँ बिलोक मृग सावक नयनी। जनु तहँ बरसि कमल सित स्रेनी॥
लता ओट तब सखिन्ह लखाये। स्यामल गौर किसोर सुहाये॥
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हिहूँ परिहरी निमेषे॥

---

१. 'मानस', सुन्दर० ३७.५, ६, ३६.६-८।
२. वही, उत्तर २३ ५ ८

अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।।
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी[1]।।"

हृदय-मंदिर मे रामरूप-रसपान मे लीन जानकी को वहाँ से बाहर लाया सखी का प्रेमपूर्ण परिहास :—

"बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूप किसोर देखि किन लेहू[2]।।"

तब परिस्थिति का बोध हुआ और :—

"नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पन मन अति छोभा।।[3]"

राम के इस दर्शन और इस उधेड़-बुन मे आत्मविस्मृत-सी जानकी 'पुनि आउब एहि बरिया काली' सुनकर सचेत हो उठी और :—

"धरि बड़ि धीर राम उर आने। फिरि अपनपौ पितु बस जाने।।
देखन मिस मृग बिहँग तरु फिरै बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़ै प्रीति न थोरि[4]।।"

नित्य वर्धमान इस प्रीति के प्रथम परिचय मे दाम्पत्य रति के सरस स्वरूप, सहज अनुभावो को योजना, किशोर वय के अनुरूप चेष्टाओं और सखियो की मीठी चुटकियो के साथ उधर राम के पक्ष मे भी प्रेम के भव्य रूप का चित्रण है। इस योग मे शृंगार रस की अत्यन्त रमणीय योजना है जिसका विश्लेषण अनेक विद्वानो ने किया है। तुलसीदास का मर्यादापूर्ण शृंगार सर्वविदित है।

धनुष-यज्ञ के अवसर पर कठोर धनुष और कठिन प्रण के साथ किशोर कोमल शरीर की कमनीय शोभा देख सीता के प्रेम-कातर हृदय मे जो व्याकुलता है और उसका जो प्रभाव राम पर चित्रित किया गया है, वह शृंगार की एक निधि है। सीता का हृदय व्याकुल है, धैर्य लुप्त हो रहा है, बस प्रेमाकुल दृष्टि राम से पृथ्वी और पृथ्वी से राम पर डोल रही है, वाणी मूक है, लोचनो का जल कोयों में भरा हुआ है, जीवन-मरण का प्रश्न है। अन्त में उसी सत्य प्रेम के बल से भगवान् का ही आश्रय लेती हैं :—

"तन मन वचन मोर पन साचा। रघुपति पद सरोज चितु राचा।।
तौ भगवान सकल उर बासी। करिहिं मोहि रघुबर कै दासी।।
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू[5]।।"

---

१ 'मानस', बाल० २३६. १-७। २ वही २३८. २।
३ वही २३८. ६। ४ वही २३८. ८, २३६।
५ वही, २६१ ४ ६।

कौन कह सकता है कि इस सत्य स्नेह की शक्ति ने धनुष तोड़ने में राम की सहायता नहीं की[1] ?

यह प्रेम दिन-दिन पुष्ट और प्रगाढ होता जाता है। इसी के मधुर आलोक में मिथिला एवं अयोध्या के अनन्त ऐश्वर्य में पली राजकुमारी को कष्टकारी वन भी 'सहस अवध सम प्रिय' दिखाई देता है और वे राम को भी इसी के प्रभाव मे वन के सभी कष्ट सुख मे परिवर्तित होते दिखला देती हैं। पुष्पवाटिका में प्रफुल्ल प्रेम की कलिका कठिन कर्तव्य के साँचे मे ढलकर सती के दृढ और अविचल प्रेम का रूप प्राप्त करती है। उसके सुख की छाया मे काँटे भी फूल बन जाते हैं और

"कुस किसलय साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई॥"

की अनुभूति प्राप्त होती है। रामवनगमन के अवसर पर सीता द्वारा पति से कहे गए वचनों का एक-एक शब्द सती के पवित्र प्रेम और पुनीत कर्त्तव्यों के आदर्श का द्योतक है। पति-पत्नी संबंध की गरिमा, उसके कर्त्तव्यों की दिव्यता और उसके कारण लोक-जीवन की कठिन यात्रा की सफलता, सभी कुछ वहाँ प्रत्यक्ष कर दिया गया है[2]। सीता ने जो कहा वह सत्य सिद्ध होता है। यह

---

१. निम्नांकित पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है :—

"सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड लघु ब्यालहि जैसे।
देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही॥
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुएँ करै का सुधा तड़ागा॥
का बर्षा सब कृषी सुखाने। समय चुके पुनि का पछिताने॥
अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी॥
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें। काहु न लखा देख सब ठाढ़ें॥"
'मानस', बाल० २६३. ८, २६५. १-४, ७।

२. बनगमन के अवसर पर राम-सीता-सम्वाद के प्रसंग में सीता की विनय के लि[ए] देखिए :—

'मानस' अयो० ६४-६७, 'गीता०' अयो० पद ६-८।

सीता की भावनाओं के लिए सुमन्त्र से कहे गए उनके वचन भी विचारणीय हैं देखिए 'मानस', अयो० ९६ ८-९८ २।

प्रेम जंगल मे भी मंगल का विधान करता[1] और इससे वनवासी जीवन कैसा सुखद हो जाता है, यहाँ प्रत्यक्ष है :—

"रामु लषन सीता सहित सोहत परन निकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर सची जयंत समेत[2]॥"

इस जीवन में भी पट-परिवर्तन होता है। शूर्पणखा के अशुभ आगमन से यह सुख-शांति बिखर जाती है और प्रेम की शीतलता विरह के संताप से दग्ध हो उठती है। एक ओर—

"हा जगदेक वीर रघुराया। केहि अपराध बिसारेहु दाया[3]॥"

की करुण पुकार सुनाई पड़ने लगती है तो दूसरी ओर—

"हा गुन खानि जानकी सीता। रूप सील व्रत नेम पुनीता[4]॥"

का करुण क्रन्दन।

इस करुण क्रन्दन मे आवृत पत्नी के प्रति राम के कर्त्तव्य की दृढ़ निष्ठा जटायु के समक्ष उनके मुख से प्रकट हो जाती है :—

"सीता हरन तात जनि कहेहु पिता सन जाइ।
जौ मै राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ[5]॥"

सीता के करुण विलाप के मूल में सतीत्व का वह बल और ओज छिपा हुआ है जो भारतीय नारी के गर्व और गौरव का विषय है और जिसके बल पर वह अग्नि की लपटों का भी प्रेम से आलिंगन करती रही है। चित्र-लिखित कपि देखकर डरनेवाली सुकुमारी वन के एकान्त में छद्मवेशी यती को राक्षसराज के परम भयंकर रूप में परिवर्तित होते देख क्षण भर के लिए भय-भीत होती है। परन्तु दूसरे ही क्षण सतीत्व का दर्प सजग होकर रावण को

---

१. वनवास के जीवन की मनोहर झाँकी चित्रकूट-निवास में है :—
देखिए 'मानस', अयो० १३८-१४१, 'गीता०' अयो० ४६-४८।
पंचवटी में इसकी एक झलक मात्र है :—
"एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए॥
सीतहि पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर॥"
'मानस' अरण्य १. ३, ४।

२. वही, अयो० १४१। ३. वही अरण्य० २२. १।

४ वही २३ ७ ५. वही २५।

ऐसा ललकारता है कि त्रैलोक्यविजयी मन-ही-मन लज्जित हो उसके प्रति श्रद्धावनत हो जाता है। पतिव्रता के प्रेम की पाषाण तुल्य कठोरता यहाँ दर्शनीय है :—

"नाना बिधि कहि कथा सुहाई। राजनीति भय प्रीति देखाई॥
कह सीता सुनु जती गुसाईं। बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं॥
तब रावन निज रूप देखावा। भई सभय जब नामु सुनावा॥
कह सीता धरि धीरजु गाढ़ा। आइ गएउ प्रभु रहु खल ठाढ़ा॥
जिमि हर बधुहि छुद्र सम चाहा। भएसि काल बस निसिचर नाहा॥
सुनत बचन दससीस लजाना। मनमहुँ चरन बंदि सुख माना॥
क्रोधवत तब रावन लीन्हेसि रथ बैठाइ।
चला गगन पथ आतुर भय रथ हाँकि न जाइ[1]॥"

आगे चलकर, अशोक-वाटिका में वन्दिनी सीता से रावण का प्रस्ताव होता है :—

"कह रावन सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी॥
तव अनुचरी करौं पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा[2]॥"

सतीशिरोमणि पवित्र पति-प्रेम के बल पर त्रैलोक्यविजयी से तिनके की ओट लेकर, लोहा लेने के लिए तत्पर है। तीखे शब्दों में मर्मान्तक चोट करने वाली वाणी ही उनका अस्त्र है। जानकी का उत्तर है :—

"सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥
अस मन समुझु कहति जानकी। खल सुधि नहिं रघुबीर बान की॥
सठ सूने हरि आनेहि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही[3]॥"

अभिमान-आहत रावण का क्रोध भड़क उठता है। मदांध दशानन प्राणों को ही सर्वाधिक प्रिय समझ कर तलवार खींचते हुए प्राण लेने के लिए उद्यत हो कर कहता है :—

"सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहौं तव सिर कठिन कृपाना॥
नाहि त सपदि मान मम बानी। सुमुखि होत न त जीवन हानी[4]॥"

---

१. 'मानस', अरण्य० २१. ११-१६, २२।
२. वही, सुन्दर ८. ४,५।
३. वही, ८ ७–६।
४. वही, ६-१,२।

प्राणाधिक प्रिय पति के वियोग मे सती को प्राणों का क्या लोभ? वियोग-ताप को शान्त करने के लिए तलवार भी शीतल लगने लगती है। अतः सीता का मार्मिक उत्तर है :—

"स्याम सरोज दाम सम सुन्दर। प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा॥
चन्द्रहास हरु मम परितापं। रघुबर बिरह अनल सजातं॥
सीतल निसित बहसि बर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा[1]॥

अविवेकी असुर की उठी हुई भुजा को दूसरी सती की शक्ति रोक लेती है। मन्दोदरी की नीति काम करती है। रावण चला जाता है। प्रियतम के मिलन की तीव्र कामना अब तक प्राणो को रोके हुए थी पर आज प्रेम-पीडा असह्य हो जाती है और उसके शमनार्थ चिता की चिंता होने लगती है। त्रिजटा समझाती है कि रात्रि में अग्नि का मिलना कठिन है। विरहाग्नि से दग्ध हृदय, शरीर भस्म कर उस अग्नि को शान्त करने की आतुरता मे जैसे कातरता-पूर्वक अशोक से अग्नि की याचना करता और तारिकाओं मे उसे ढूंढता है, वह वियोग श्रृंगार का भी श्रृंगार है। सीता के 'सत्य सनेह' का प्रमाण मिल जाता है। जिनकी प्रेम पीडा से व्याकुल हो प्राण त्यागने की तत्परता हो रही थी उन्ही परम प्रियतम के प्रेम-सन्देश की वाहिका मणि-मुद्रिका याचना का उत्तर बनकर शोक को हर्ष मे परिवर्तित करने अशोक से उतर आती है। इस मूक सन्देश-वाहिका के पीछे प्रभु के शीतल सन्देश का वाहक भी अवतरित हो जाता है। बस, अशोक-वाटिका के इस अवसर के दृश्य और इस सन्देश के अन्तर्गत महाकवि के वियोग श्रृंग.र की सम्पूर्ण सरसता संपुटित हो गई है[2]। मेघदूत, हंसदूत और पवनदूत ने बहुत कुछ कहा है पर पवनपुत्र जो गुरु-गम्भीर सन्देश लेकर आते हैं उसके आगे सभी दूतों के सन्देश हल्के पड जाते है। प्रेम का सर्वस्व---प्रभु का यह सन्देश जिन हृदयो को जोड़ रहा है उनके सिवा उसका अनुभव कोई अन्य नहीं कर सकता। इसमें प्रेम का वह परम रूप है जो आत्मा का अभिन्न स्वरूप होने से मन और तन की अभिन्नता का कारण हो जाता है। इसी से उसे सुनते ही सीता का शरीर भी मन के साथ ही उनका नही रह जाता ---

---

१. 'मानस', बाल ६. ३-६।

२ सम्पूर्ण प्रसंग के लिए देखिए 'मानस' सुन्दर० ११ १० १० २८

"प्रभु संदेस सुनत वैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही[1]॥"

उस सदेश का साराश है —

"तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मनु रहत सदा तोहि पाही। जानु प्रीति रस एतनेहि माही[2]॥"

हाँ, इतने में ही प्रभु से एक रूप करने वाला वह प्रीति रस समाया हुआ है जिसे वही जान पाता है जिसको वे जना दें और जानकर उन्हीं के स्वरूप को पा जाता है। भक्ति के सर्वस्व इस रामप्रेम की पराकाष्ठा को रामा ही प्राप्त कर सकी हैं और इसी से वे स्वय भक्तिस्वरूपा मानी गई है।

विधि का विचित्र विधान देखिए कि जिनकी दशा वियोग में ऐसी अभिन्न रही वे ही सयोग मे पहुँचकर भिन्नता को प्राप्त हुई। अयोध्या पहुँच जाने पर प्राणप्रिय स्वामी ने पतिव्रता पत्नी का परित्याग कर दिया[3]। प्रेम-सुधा से सिक्त सदेश भेजने वाले पति ने सतीशिरोमणि का परित्याग कैसे सहन किया इसे तो उनका ही कठोर-कोमल हृदय जाने, पर संत का नवनीत-हृदय इस संतापदायक आख्यान की कठोर वेदना को सहन न कर सका और उसकी वज्रलेखनी का भी साहस यहाँ आकर समाप्त हो गया। लोकद्रष्टा का हृदय नारी की इस दयनीय दशा की साखी देने मे असमर्थ सिद्ध हुआ। कवि के नायक राम और पति राम का योग न हो पाया और इसीसे सीता का वियोग भी संभव न हो सका। इस प्रकार संत तुलसी के 'मानस' में सीता निर्वासन को स्थान मिलना कठिन हो गया।

'रामायन सत कोटि अपारा' मे एक चरित्र तो ऐसा हो सकता था जिसमें यह हृदय विदारक वियोग न हो। उसमें सन्निहित परमोत्कृष्ट त्याग की महत्ता सर्वमान्य होते हुए भी जिस 'मानस' की प्रतिष्ठा घर-घर और जन-जन के हृदय में करनी थी उसमें पत्नी की यह दशा विख्यात करना समाज-सुधारक तुलसी को इष्ट न था। जनसाधारण इसके अध्यात्म-पक्ष और आदर्श तक न पहुँच पाता। वह इसे इसी रूप में ग्रहण करता कि किसी भी अनुत्तरदायी व्यक्ति के कुछ भी कह देने पर कोई भी पत्नी घर से निकाल दी जा सकती

---

१ 'मानस', सुन्दर०, १४८। २. वही, १४६, ७।

३. "बैरि बंधु निसिचर अधम तज्यो न भरे कलक।
भूठे अघ सिय परिहरी तुलसी साइँ ससंक॥"

'दोहा०', दोहा १६६।

है। इस भावना को आश्रय देने पर कलियुग की विषम सामाजिक स्थिति[१] में किसी भी पत्नी के जीवन का सुख सुरक्षित नही रह सकता था। गोस्वामी जी को इस युग में कुछ और ही सीख देनी थी। अत: निष्कलंक पत्नी के निष्कासन का आख्यान 'मानस' मे प्रवेश न पा सका। वहाँ आदि से अंत तक 'सती सिरोमनि सिय गुन गाथा। सोइ गुन अमल अनूपम पाथा[२]' का रूपक ही चरितार्थ होता रहा। मानस-रूपक मे भी कहा गया था :—

"राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम[३] ॥"

अस्तु, इस आख्यान को 'मानस' में अवस्थित करना 'राम सीय जस' के 'बीचिविलास' को विकृत कर देना था।

निदान 'राम-चरित-मानस' की कथा में सीता-निर्वासन के प्रसंग का समावेश नही हुआ और सीता की अग्नि-परीक्षा को ही इस रूप मे प्रस्तुत किया गया कि उसके अनन्तर लोकापवाद के लिए कोई अवकाश न रह पाए।

'वाल्मीकि-रामायण' में अग्नि-परीक्षा का प्रसंग विस्तृत रूप मे है।[४] 'मानस' के प्रसंग की तुलना मे कुछ बातें यहाँ ध्यान देने योग्य है। राम विभीषण को आज्ञा देते है कि तुम सीता को आदर सहित ले आओ। सीता पूरे राजसी ढग से, अंगरक्षकों द्वारा घिरी हुई आती है। राम उन्हें पैदल आनेकी आज्ञा देते है। तदनन्तर उनके दर्शन प्राप्त करने से प्रफुल्ल-हृदय, अपने समक्ष खडी हुई जानकी से वे अत्यन्त कठोर वचनो मे उनका दोष बतलाते हुए उन्हें स्वीकार करने की असमर्थता प्रकट करते है। वे कहते है कि तुम कही भी चली जाओ या भरत, लक्ष्मण, सुग्रीव अथवा विभीषण किसी के भी पास रहो। इस समय उनका रूप अत्यन्त रोषपूर्ण है। 'अध्यात्म रामायण' में भी इससे मिलता-जुलता ही वर्णन है।[५] तुलसीदास के वे राम जो दो डग चलकर ही श्रमित हो जाने वाली जानकी को देख आँखों की अश्रु-

---

१ 'मानस' का कलियुग दर्शन द्रष्टव्य है : उसमें निम्नलिखित दशा का उल्लेख है:—
"कुलवति निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती ॥"

२ 'मानस', बाल० ४६ ७।

३ वही. ४१.३।

४ 'वाल्मीकि रामायण', संपूर्ण प्रसंग युद्धकाड सर्ग, ११४-११६।

५ रामायण', युद्धकांड सम १२ ५० ३ २२

वर्षा नहीं रोक सकते थे[1] भला इतने कठोर कैसे बन जाते ? हाँ उन्हें कुछ लोक-लीला रचनी थी और वह थी :—

"सीता प्रथम अनल महुँ राखी। प्रगट कीन्ह चह अंतरसाखी ॥
तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद।
सुनत जातुधानी सब लागीं करै बिषाद[2] ॥"

वे दुर्वचन क्या थे इसे कवि की लेखनी लिपिबद्ध न कर सकी। जो सीता प्रभु के 'बचन बियोग[3]' को न सँभाल सकने के कारण मूर्छित हो गई थीं उनके लिए मिलन के इस अवसर पर पुन. वियोग की आज्ञा[4] अथवा चरित्र-दोष सबंधी दुर्वचन सहना संभव नही हो सकता, यदि उनके द्वारा कोई अपराध इस अवसर पर न बन पड़ा होता। साथ ही, उपस्थित समाज को भी राम का जानकी पर अकारण क्रोध उनके कोमल स्नेही स्वभाव के अनुरूप नही जान पडता। अत: चरित्र-चित्रण में कुशल कवि ने स्वाभाविकता तथा मर्यादा की रक्षा के विचार मे इस प्रसंग में कुशलतापूर्वक कुछ परिवर्तन कर दिया है।[5]

राम विभीषण को आज्ञा देते है कि सीता को सादर लिवा लाओ। वे यह स्पष्ट रूप से नही कहते कि किस प्रकार शृंगारादि करवा कर लाओ। वे जानते है कि विभीषण किस प्रकार अपने राज्यवैभव के अनुरूप समादर सहित सीता को लाएँगे। वे जानते है कि अहर्निश उनके ध्यान मे लीन रहने वाली वैदेही को मिलन की आतुरतामे इस समय अपनी देह की भी सुध न होगी और वे जिस प्रकार भी लाई जाएँगी, चली आएँगी। उन्हे सभी कार्य प्रभु के आदेशानुसार होता हुआ जान पड़ेगा। इस प्रकार राम अपनी लीला रच लेते है और विभीषण सीता को लिवाने लंका पहुँच जाते है।

सीता को समाचार मिलता है कि स्वामी का बुलावा आया है। उस वियोग का अंत समीप है जिसकी असह्य वेदना मे अग्नि भी प्रिय लग रही थी। इस आनन्दातिरेक मे नेत्रों में छाया है केवल प्रियतम का रूप और हृदय मिलन-सुख को तरंगो में दोलायमान हो रहा है। प्रेम-मग्न वैदेही को देह की सुध

---

१ 'तिय को लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै' ॥
कविता० अयो० ११।

२ 'मानस', लंका० १०८।

३ वही, अयो० ६७. १।

४ देखिए पीछे पृ० ९९, वाल्मीकि रामायण, युद्ध० ११५. १३-२४।

५ मानस, लङ्का ११७ १–१०१।

कहाँ ? उसकी साज-सँवार जो भी होती है उसका ध्यान ही उन्हे नहीं रहता। वे यह भूल जाती हैं कि तापस-पति की पत्नी होने की भावना से मैं चित्रकूट मे एक रात्रि भी राजा जनक के डेरेमे निवास नही कर सकी थी। रावण के यहाँ भी इतने दिनों मैं 'कृसतनु सीस जटा एक बेनी[1]' की दशा मे रही हूँ। पति अभी उस तापस-जीवन से मुक्त नही हुए है। इस स्थिति मे, रावण के राज्य से सोलह शृंगार किए हुए, राजसी ठाट-बाट के साथ उनके पास जाना कहाँ तक उचित है ? उनमें यह विचारने की शक्ति नही रह जाती कि मैं तापस की तपस्विनी पत्नीके रूप में नहीं, राजरानी पत्नी के रूप में उपस्थित हो, समस्त वानर एव राक्षस समाज के सामान्य हृदयो में इस आशका के लिए अवकाश उपस्थित कर दूँगी कि कहीं रावणके यहाँ मेरा यही रूप तो नही रहा ? त्रिकालदर्शी अत्रि की अर्द्धांगिनी महासती ने आज ही के लिए तो सीख दी थी। परन्तु प्रेम की पराधीनता मे आज 'प्रबोध[2]' भी अपहृत हो गया और जानकी सोलह शृंगार किए हुए राम के समीप पहुँच गईं। दर्शन हुए और करुणानिधान के कठोर वचनो से होश ठिकाने आ गया। अपनी भूल अब समझ मे आई और अग्नि-परीक्षा के लिए उद्यत हो गईं। इसीलिए इस अवसर पर 'मानस' की वैदेही 'वाल्मीकि-रामायण' की जानकी की भाँति उद्विग्न और आर्त हो राम को कड़ाई से उत्तर नही देने लगती[3]। वे शान्तिपूर्वक लक्ष्मण से इतना ही कहती है :—

"लछिमन होहु धरम के नेगी। पावक प्रगट करहु तुम बेगी॥[4]"

उनकी वाणी 'बिरह बिबेक धरम निति' सानी है इसी से लक्ष्मण सजल नयन हो जाते है पर स्वामी का रुख देखकर आज्ञा-पालन में विलम्ब नहीं करते। सीता की दशा तो यह है :—

"पावक प्रबल देखि बैदेही। हृदय हरष नहि भय कछु तेही[5]॥"

---

१. 'मानस', सुन्दर० ७ ८।

२. कहा गया है :—'बैरु अध प्रेमहि न प्रबोधू।' 'वही', अयो० २६२. ८।

३. वहाँ जानकी राम से यहाँ तक कह देती है कि जैसे कोई निम्न श्रेणी का पुरुष निम्नकोटि की ही स्त्री से न कहने योग्य बातें भी कह डालता है उसी तरह आप भी मुझसे कह रहे हैं। सीता के लम्बे उत्तर के लिए देखिए 'वाल्मीकि रामायण', युद्ध० ११६ २-१६।

४. 'मानस', लंका० १०८.२।

५ वही, १०८ ६।

और वे यही कहकर अग्नि में प्रवेश करती है :—

"जौं मन बच क्रम मम उर माही। तजि रघुबीर आन गति नाही॥
तौ कृसानु सब कै गति जाना। मोकहुँ होहु श्रीखंड समाना[1]॥"

सती को दृढ़ विश्वास है कि जिस पावक में मैं पति की इच्छा से प्रवेश कर रही हूँ वह मेरे लिए निश्चय ही शीतल हो जाएगी। अपनी भूल का प्रायश्चित्त भी तो करना ही होगा। निदान :—

"श्रीखंड सम पावक प्रबेसु कियो सुमिरि प्रभु मैथिली।
जय कोसलेस महेस बंदित चरन रति अति निरमली॥
प्रतिबिम्ब अरु लौकिक कलंक प्रचण्ड पावक महुँ जरे।
प्रभु चरित काहु न लखे नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे[2]॥"

प्रभु का यह चरित कोई न देख पाया कि वैदेही को विषम मनोदशा में पहुँचाकर उनसे प्रमादवश अपराध करा लिया और सभी के समक्ष परीक्षा दिलवाकर सदैव के लिए निष्कलंक सिद्ध कर दिया। उनके आध्यात्मिक रूप का पता तो लक्ष्मण को भी नहीं था, फिर अन्य किसी को क्या लख पड़ता? इस प्रकार जब लौकिक कलंक लंका में ही भस्म हो गया तो अयोध्या में उसके जग उठने का अवकाश ही कहाँ रहा? समस्त देवगण, वानर और राक्षस समाज साक्षी हो रहे हैं कि मैथिली पवित्र हैं। यहाँ उपस्थित सुग्रीव, अंगद, विभीषण और हनुमान जैसे भक्तों ने अयोध्या जाकर क्या राम के गुणगान के साथ जानकी की इस पवित्रता का भी गुणगान नहीं किया होगा? अतः इसके अनन्तर राजा से प्राणाधिक प्रेम करने वाली 'मानस' की प्रजा राम में—तुलसी के उन राम में जिनका चरित शंकर भगवान् ने 'शत कोटि रामायन' में से चुनकर प्रतिष्ठित किया था—कोई दोष नहीं देख सकती थी। अस्तु, लौकिक कलंक के अग्नि में समाप्त होने के साथ ही यह प्रकरण भी समाप्त समझा गया।

उत्तरकाण्ड में 'दुइ सुत सुन्दर सीता जाए[3]।' कहा गया है पर किस स्थान पर, यह नहीं बतलाया गया। अतः अयोध्या में ही इसका विधान माना जाएगा। 'मानस' का लक्ष्य है राम के स्वरूप का प्रतिपादन और लोक में आदर्श रामराज्य की स्थापना। वह 'राम राज बैठे त्रयलोका। हरसित

---

१. 'मानस', लंका० १०८.७,८।
२. वही, १०८.६,१२।
३. वही, उत्तर० २४.६।

भए गए सब सोका[१] ॥' के साथ समाप्त हो जाता है। उसके लिए उत्तर-रामचरित के विस्तार की आवश्यकता नहीं समझी गई है। राम की प्रतिष्ठा अयोध्या के राज्यसिंहासन पर क्या हुई उसके साथ ही जन-जन के हृदयासन पर भी हो गई। तुलसीदास का लक्ष्य पूरा हो गया और कथा-विस्तार की आवश्यकता नहीं रही। उन्होंने अपने काव्यकौशल से सिद्ध कर दिया कि उनके सर्वस्व और भगवान् शंकर के आराध्य राम ने कभी अपनी पत्नी का परित्याग कर नारी के अनादर का आदर्श विश्व के समक्ष उपस्थित नहीं किया।

ठीक है, परन्तु 'कल्पभेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥' के आधार पर किसी अन्य राम-चरित में यह घटना कवि को अमान्य नहीं है। अतः सरस्वती के अन्य वरद पुत्रों द्वारा गाए हुए इस आख्यान को 'गीतावली' में कुछ स्थान मिल गया। कवि का हृदय भी वहाँ खुल गया और प्रत्यक्ष दिखाई दे गया कि रामराज्य के गायक को राजा राम का यह कृत्य उनकी विवशता प्रतीत होता है, परन्तु पति राम का यह व्यवहार उसे नितांत अनुचित जान पड़ता है और उसकी सारी सहानुभूति माता सीता के ही साथ है।

राजा राम की विवशता का स्वरूप यह है :—

"वैरि बंधु निसिचर अधम तज्यो न भरे कलंक।
झूठे अघ सिय परिहरी तुलसी साइँ ससंक[२] ॥"

'साइँ'—स्वामी सशंक है कि सेवक प्रजा को किसी भी प्रकार का दोष उनमें दिखाई न दे जाए। तुलसीदास के नृपति का आदर्श प्रजाप्रेम ही है :—

"सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना[३] ॥"

राम ने स्वयं अपने प्रजा-प्रेम को यथास्थान व्यक्त किया है[४]।

'वाल्मीकि रामायण' में राम ने अग्नि से कहा है कि यदि मैं जनकनंदिनी की परीक्षा न लेता तो लोग यही कहते कि राम बड़ा ही मूर्ख तथा कामी है[५]।

---

१. 'मानस', उत्तर० १६ ७।

२. 'दोहा०', दोहा १६६।   ३ 'मानस', अयो० १७१.४।

४. "जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। बेद पुरान विदित जग जाना॥
अवधपुरी प्रिय सम नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥
× × × ×
अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥"
वही, उत्तर० ३ ३, ४ ७।

५. ', युद्धकांड ११६. ११ १४

वे दरबार में मित्रों से सीता के अपवाद की बात सुनकर तीनों भाइयों को वहीं बुलवाकर उनसे जो कुछ कहते हैं[1] उसका सारांश यही है कि जानकी को शुद्ध समझते हुए भी उन्हें अपनी अपकीर्ति सह्य नहीं है। वे यहाँ तक कह डालते हैं—

'अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभा ।।
अपवादभयाद् भीत' किं पुनर्जनकात्मजाम्[2] ।।'

भवभूति के राम की यशप्रियता पर सीता की सखी वासन्ती ने भी बड़ा ही तीखा व्यंग्य किया है[3]।

'गीतावली' में सीतापरित्याग के कारणों में अपकीर्ति का भय प्रधान नहीं है। वह 'अध्यात्म रामायण' के मेल में भी नहीं है, जहाँ देवताओं की प्रार्थना पर स्वयं सीता राम को परित्याग का स्मरण कराती हैं[4]। 'गीतावली' में इसका रूप कुछ भिन्न है। वहाँ तो कुछ और ही परिस्थिति है :—

"संकट सुकृत को सोचत जानि जिय रघुराउ।
सहस द्वादस पंचमत में कछुक है अब आउ।।
भोग पुनि पितु-आयु को, सोउ किए बनै बनाउ।
परिहरे बिनु जानकी नहि और अनघ उपाउ[5] ।।"

असमंजस यही है कि प्रभु का प्रेमपालक स्वभाव है और पिता की आयु के उपभोगार्थ प्रेम का पालन संभव नहीं हो सकता। किस प्रकार हित हो यही उलझन है :—

"पालिबे असिधार-व्रत प्रभु प्रेम-पाल सुभाउ।
होइ हित केहि भाँति, नित सुविचारु नहि चित चाउ[6] ।।"

इस रहस्य को जानती हैं तो केवल जानकी, पर प्रेम की परिमिति कैसे तोड़ी जाए :—

---

१. 'वाल्मीकि-रामायण', उत्तर ४५. २-२४।

२. वही, ४५. १३, १४।

३. 'अयि कठोर यशः किल ते प्रियं किमयशो ननु घोरमतः परम्।'
'उत्तर रामचरित' अंक ३.२७।

४. 'अध्यात्म-रामायण', उत्तर० ४.३५-४०।

५. 'गीता०,' उत्तर० २४।

६ गीता० उत्तर० २४

"अनुज सेवक सचिव है सब सुमति साधु सखाउ।
जान कोउ न जानकी बिनु अगम अलख लखाउ॥
राम जोगवत सीय-मनु प्रिय मनहि प्रान प्रियाउ।
परम पावन प्रेम परमिति समुझि तुलसी गाउ[1]॥"

'गीतावली' में तुलसी ने इस प्रसग का गान क्यों किया इसका रहस्य यहाँ ज्ञात हो जाता है। राम सीता का परित्याग अपकीर्ति के भय से नही, पुत्र-धर्म पालन के हेतु कर रहे है। इसके लिए सीता के त्याग की कल्पना कर जो 'अलख' वेदना उनके हृदय मे हो रही है उसे सीता के सिवा कोई नही लख पाता। यदि वे उनसे व्यक्त कर देते कि इस हेतु तुम्हे बन जाना है तो जानकी सहर्ष चली जाती पर उनसे कहे किस प्रकार? एक बार पुत्रधर्म-पालन के निमित्त जो कष्ट उठाने पडे उनका अत अग्निपरीक्षा में हुआ। अब पुनः उसी की चर्चा सीता से कैसे करें? अत. राम का सोच है :—

"प्रियतमा पतिदेवता जिहि उमा रमा सिहाहि।
गुरुविनी सुकुमारि सिय तियमनि समुझि सकुचाहि॥
मेरे ही सुख सुखी सुख अपनो सपनहूँ नाहि॥
गेहिनी गुन-गेहिनी गुन सुमिरि सोच सकाहि[2]॥"

'सोच' मे पड़े ही है कि सयोग बन जाता है और परम संकोची पति इस अप्रिय प्रसग की असह्य कष्टप्रद चर्चा से बच जाते है। दैववश होता यह है कि :—

"चरचा चरनि सों चरची जानमनि रघुराइ।
दूत मुख सुनि लोक-धुनि घर घरनि बूझी आइ॥
प्रिया निज अभिलाप रुचि कहि कहति सिय सकुचाइ।
तीय तनय समेत तापस पूजिहौ बन जाइ॥
जानि करुनासिधु भावी-बिवस सकल सहाइ।
धीर धरि रघुबीर भोरहि लिए लषन बोलाइ[3]॥"

इस 'चर्चा' को तुलसी ने प्रच्छन्न ही रखा है, अन्य रामायणकारों की भाँति स्फुट और बिशद नही। राम के कानो मे भनक पड जाती है, पर न तो पत्नी को बतलाना ही धर्म समझते हैं और न संकोच त्याग सकते है। दैववश बात

१ 'गीता०', उत्तर० २४ २ वही, २६
३ वही २७

बन जाती है और सीता स्वयं ही वन जाने का अभिलाष व्यक्त करती है। बस, उनकी इच्छापूर्ति के हेतु उन्हे तुरन्त ही वन भेजना अवसरानुकूल समझ कर लक्ष्मण को आज्ञा दे दी जाती है :—

"तात तुरतहि साजि स्यंदन सीय लेहु चढाइ।
बाल्मीकि मुनीस आश्रम आययहु पहुँचाइ[1]॥"

द्रष्टव्य है कि तुलसीदास ने अन्य कथाकारो की भाँति निर्ममता से सीता को वन मे अकेले छोड आने का वृत्त नही रखा। किसी भी पत्नी की दुर्दशा उन्हें निश्चय ही इष्ट नही थी। अतः उनके लक्ष्मण वन में सीता को निराश्रय करुण क्रन्दन करते हुए नही छोड़ आते। बल्कि उन्हें मुनि को सौंप कर नमित मुख खडे रह जाते है। तब :—

"बाल्मीकि बिलोकि व्याकुल लखन गरत गलानि।
सर्वविद बूझत न विधि की बामता पहिचानि॥
जानि जिय अनुमानही सिय सहस विधि सनमानि।
राम सदगुन धाम परमिति भई कछुक मलानि॥
दीनबन्धु दयालु देवर देखि अति अकुलानि।
कहति बचन उदास तुलसीदास त्रिभुवन-रानि[2]॥"

महाकवि की एक अनूठी शैली है उनकी मूक भावव्यंजना। पात्रों के मौन द्वारा ही कभी-कभी वे गहरे भावों की अभिव्यक्ति करते है।

"कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूँछा। प्रेम भरा मन निज गति छूँछा[3]॥"
में यह प्रत्यक्ष हो चुका है और बोल चुका है बहुत कुछ कैकेयी का मौन भी। सीता लक्ष्मण से बहुत कुछ कह रही है किन्तु राम के प्रति एकदम मौन हैं। अन्य ग्रन्थो की सीता की भाँति वे यहाँ राम के प्रति प्रणाम निवेदन अथवा उनके लिए कोई संदेश नहीं भेजती। उनके मौन से जो कुछ कहला दिया गया है उसका अनुमान कर हर सहृदय अपने ढंग से उसकी अनुभूति में रसमग्न होता रहेगा। कोई भी हृदयालु कवि द्वारा इस भावना के गुप्त रखे जाने के कारण का अनुमान कर स्वयं परख सकता है कि उसने नारी-हृदय की उस वेदना को कितना पहचाना जिसे पहचान कर कवि ने मौन ही उचित समझा

---

१ 'गीता०', उत्तर० २७। २ वही २८।
३ 'मानस' अयो० २४१ ७

है। लखनलाल भी इस वेदना की अनुभूति कर, बड़े धर्मसंकट मे पड़े हुए मौन हो जाते हैं :—

"इतहि सीय-सनेह-संकट उतहि राम रजाइ।
मौन ही गहि चरन गवने सिख सुआसिष पाइ[1]॥"

राम के लिए मूक संदेश वहन करने वाले 'त्रिभुवन रानि' के इन 'उदास' वचनो में नारी-हृदय की समस्त परवशता और उसके प्रति कवि की मूक-गंभीर संवेदना एक साथ मुखरित हो उठी है :—

"तौलौं बलि आपुही कीबो बिनय समुझि सुधारि।
जौलौं हौं सिखि लेउँ बन ऋषि रीति बसि दिन चारि॥
तापसी कहि कहा पठवति नृपन को मनुहारि।
बहुरि तिहि बिधि आइ कहिहै साधु कोउ हितकारि॥
लखनलाल कृपाल ! निपटहि डारिबी न बिसारि।
पालबी सब तापसनि ज्यों राजधरम बिचारि[2]॥"

जिन देवर ने तब अग्नि प्रकट की थी वही आज सर्वदा के लिए त्यागने आए है। अत. उनसे यही कहना है कि हे कृपालु लखनलाल ! इस समय प्रभु से क्या निवेदन करने का आदेश दूँ, समझ में नही आता। जब तक मैं यह नही सीख लेती कि तपस्विनियाँ राजा के पास किस प्रकार निवेदन भेजा करती है तब तक तुम्हीं अपनी ओर से समझ-सुधारकर कुछ कह देना। अब कोई राजरानी नहीं कि राजा के पास निवेदन भेजे, कोई पत्नी नही कि पति के पास संदेश भेजे। अब तो यहाँ है एक तपस्विनी और अवध मे हैं चक्रवर्ती। अब इस नाते कभी कोई रमता साधु संदेश ले जाएगा। लेकिन तब तक कृपालु लखनलाल ! मुझे एकदम मत भूल जाना। पुराना नही, नया नाता तो है। तपस्वियों का पालन राज-धर्म है। उसी नाते सब तपस्वियों की भाँति मेरा भी पालन करते रहना। हो सकता है कि कभी उसी धर्म की दुहाई देकर कोई परोपकारी साधु महाराज से किसी निर्दोष पति-परित्यक्ता सती के न्याय की फ़रियाद करने पहुँच जाए।

सीता ने किस तात्पर्य से क्या कहा होगा, कहा नही जा सकता, पर लोक-द्रष्टा ने जो कहा उसे सुनना हर पति का धर्म है। कोई भी सहृदय समझ

१ 'गीता०' उत्तर० ३०।
२ वही २९

सकता है कि तुलसीदास के हृदय ने सीता के परित्याग मे कितना न्याय अथवा अन्याय देखा । वास्तव मे उनकी दशा भी लक्ष्मण जैसी ही थी :—

"इतहि सीय सनेह सकट उतहि राम रजाइ[1] ।।"

इस असमंजस मे लक्ष्मण की भाँति ही मौन धारण कर लिया उनकी वाणीने और स्तब्ध हो गई उनकी लेखनी भी । क्रौंच-वध का करुण दृश्य देखने में असमर्थ कोमल कविहृदय की वज्रलेखनी इस करुण दृश्य का चित्रण भले ही कर सकी, परन्तु संतहृदय उसे अपने 'मानस' में अंकित करने का साहस नहीं कर सका ।

बाल्मीकि के आश्रम में सीता के हृदय पर क्या बीती उसका विस्तृत विश्लेषण न कर कवि ने सकेतमात्र कर दिया है :—

"सूल राम सनेह को तुलसी न हिय तें जाइ[2] ।।"

यह शूल भीतर-ही-भीतर चुभते हुए भी विरह-सतप्त हृदय मे पालित प्रेम मे नित्य नई प्रगाढता लाता गया :

"प्रिय चरित सिय चित चितेरो लिखत नित हित भीति[3] ।।"

और उस हृदय की दशा यही बनी रही .—

"दुखी सिय पिय-बिरह तुलसी, सुखी सुत-सुख पाइ ।
आँच पय उफनात सींचत सलिल ज्यों सकुचाइ[4] ।।"

बस यही तक यह प्रसंग उनके काव्य में स्थान पा सका । सीता के पृथ्वी-प्रवेश का वर्णन उनके लिए असंभव ही रहा ।

यह भली भाँति स्पष्ट हो गया कि सीता-परित्याग कवि का इष्ट नहो है । उनकी दृष्टि मे पत्नी समाज में पूर्ण आदर और प्रतिष्ठा की अधिकारिणी है । "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:"वाले आदर्श के देश मे गोस्वामी जी ने रावण अथवा बालि द्वारा की गई पत्नी की किंचित् उपेक्षा भी उचित नहीं समझी है । महादेवी सीता के रूप में उन्होंने पत्नी के उस दिव्य और भव्य आदर्श का चित्रण किया है जिसके कारण भारतवर्ष का मस्तक विश्व मे सदैव ऊँचा रहेगा ।

---

१. 'गीता०', उत्तर० ३० । २. वही, ३४ ।
३. वही, ३५ ।
४ वही ३६

अब ऐसी परित्यक्ता पत्नी पर विचार करना शेष रहा जो अपने प्रबल पाप के कारण पति द्वारा शापित होकर राम को कृपा से मुक्त हुई और पुनः पति द्वारा आनन्दपूर्वक अंगीकार कर ली गई[१]। गौतम-पत्नी अहल्या का प्रसग तुलसीदास के प्रिय प्रसंगों में से है। उसके प्रति भगवान् की दयालुता की स्मृति से गद्गद हुए उनके हृदय का आनन्द उसमे समा नही पाता और कभी केवट की भोली उक्तियों[२], कभी ऋषिपत्नियो की आनन्दमिश्रित कल्पनाओ[३] तो कभी प्रभु के गुणगान[४] और कवि की गहरी व्यंग्योक्तियो के रूप में छलकता रहता[५] है।

अहल्या पापिनी थी, इसमे सदेह नहीं[६]। इसी कारण उसे शाप मिला था। तुलसीदास ने इसका सकेत ही नहीं, उल्लेख भी किया है कि अहल्या का शरीर ही पत्थर का हो गया था। इसका आधार 'बाल्मीकि रामायण' अथवा 'अध्यात्म रामायण' नही है। दोनो ही मे अहल्या के शिला पर सूक्ष्म शरीर से अवस्थित होकर हजारो वर्षों तक तपस्या करने और राम का अतिथि-सत्कार कर शाप-मुक्त होने का उल्लेख है। 'मानस' मे 'उपल देह धरि धीर' द्वारा संकेत किया गया है कि गौतम ने शाप दिया कि 'तू पत्थर हो जा' और भूपतिता अहल्या प्रस्तर की नारी-मूर्त्ति के रूप मे वही पडी रह गई[७]। अनेक शिलाओ से पूर्ण आश्रमो और वनों में किसी एक शिला को देखकर

---

१. अहल्या के प्रमदा रूप की चर्चा पहले हो चुकी है। यहाँ उसकी पुनरुक्ति न कर उसके इसी पक्ष पर विचार किया जाता है।

२. 'मानस', अयो० ९९,३-१२, 'कविता०', अयो० ६-१०।

३. 'गीता०', बाल० ५६।

४. 'मानस', उत्तर० १२, १३, 'विनय०', पद १००, १०६, १५०, १६६, १८१, 'दोहा०', दोहा १७४, १७५।

५. 'कविता०', अयो० २८।

६. इसका विस्तृत उल्लेख पीछे हो चुका है, देखिये पृष्ठ ४५।

७. इसका आधार संभवतः 'रघुवंश' तथा 'पद्मपुराण' है। 'रघुवंश' में 'शिलामयी गौतमवधू' का रामपद-रज से पुनः शरीर धारण करने का उल्लेख है (११,२३, ३४) 'पद्मपुराण' में गौतम ने शाप दिया है 'शिलाभव' और उस पर वायु के ' ' डालने का वचन है १५ ७-११

उसके संबंध में प्रश्न पूछने का कोई प्रसंग ही न था, जब तक उस शिला मे कोई विशेषता प्रत्यक्ष न दिखती हो। गौतम-नारी के पाषाण शरीर प्राप्त करने का उल्लेख 'गीतावली' में एवं अन्यत्र[1] भी है। वहाँ इस परिवर्तन के प्रयोजन का भी बोध हो जाता है। 'गीतावली' का पद है —

"राम पद पदुम पराग भरी।
ऋषि तिय तुरत त्यागि पाहन तन छबिमय देह धरी।
तुलसिदास अस केहि आरत की आरति प्रभु न हरी[2] ।।"

यह छबिमय देह 'तपपुंज' भी थी[3]। उसने अपना परम सुन्दर एवं तपतेजयुक्त ऋषिपत्नी का रूप पुन प्राप्त कर लिया। चमत्कार यह कि पूर्वरूप ही नही, पूर्वपद भी प्राप्त किया। तुलसीदास बारम्बार यह बतला देना चाहते है कि देखो, प्रभु ने ऐसी पापिनी को तार कर उसे मुक्ति ही नही दी, प्रत्युत उसके पति के पास भेज दिया। उसके पति, धर्म-प्रवर्तक महर्षिने भी विवश होकर नही, ऐसे उछाह से उसे अपनाया मानो उनका गौना आया हो[4]। गौतम के उस उछाह की उमंग से कवि के हृदय मे आनंद की जो धार उमडी वह अपने प्रवाह में विन्ध्य के अनेक पत्नी-विहीन तपोव्रतधारी तपस्वियों को उठी हुई उमग को भी समेटती चली गई। तुलसीदास की इस भाव-धारा में भी अवगाहन करें :—

"विन्ध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनि भे मुनि वृंद सुखारे।।
ह्वै है सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि काननु को पगु धारे[5] ।।"

और इसकी गहराई में पैठकर कवि की गभीरता को परखें। यह कोरा विनोद नही, परिहास की ओट मे नारी के उत्थान का प्रयत्न है। यहाँ भगवान् की उस

---

१ 'विनय०' पद १००, १०६, १५२, १६६, 'कविता०', अयो० ८, ६, 'दोहा' १७४, १७५।

२ 'गीता०', बाल० ५५।

३ 'मानस', बाल० २१५'१।

४ "तुलसी जिनकी धूरि परसि अहल्या तरी।
गौतम सिधारे गृह गौनो सो लिवाइ कै।।" 'कविता०', अयो० ६।

५ वही, अयो० २८।

अकारण कृपा के दर्शन होते है जिसके बल पर पथभ्रष्ट नारी भी पवित्र होकर समाज में पुनः प्रतिष्ठा की अधिकारिणी बन सकती है।

राम-चरित का यह आख्यान तत्कालीन हिन्दू समाज की आँख खोलने के लिए बड़े काम का था और इसीलिए भावुक कवि द्वारा बार-बार बड़े मधुर और हृदयग्राही रूप में उसके सामने प्रस्तुत किया गया। उसके समक्ष यह एक उदाहरण था और स्वयं पवित्र एवं निर्दोष होते हुए भी अत्याचारियो द्वारा अपहृत हिन्दू-ललनाओ के उद्धार का यह अपूर्व मार्ग-प्रदर्शन था।

यह कथन बहुतो को खटक सकता है और हिन्दू-धर्म के ऐसे उन्नायक, धर्मात्मा को ऐसी विचारधारा का पोषक मानने में वे आपत्ति कर सकते हैं। परन्तु इसे कोरा तर्क और अनधिकार चेष्टा समझना उचित नही। इस प्रसंग के अन्त मे तुलसीदास अपने मन को जो सीख दे रहे है, वह सावधानी से सुनने योग्य है :—

"अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल[1]॥"

'अस प्रभु दीनबंधु हरि' मे ही उनकी उदार दृष्टि का मर्म छिपा हुआ है। यह 'कारण रहित दयाल' का ही कार्य था कि उन्होने ऐसी नारी का उद्धार किया जिसका उद्धार मानव-समाज में कोई नही कर सकता था। पथभ्रष्ट पति-परित्यक्ता की चिंता भला समाज मे किसे होती? परन्तु जब राम ने उसको अपनाया तब पति ने भी आनंदविभोर हो उसे अपना लिया। अत. राम का सेवक अपने मन को सजग कर रहा है—अरे शठ मन! अब तो अपनी कपट वृत्ति का त्याग कर। दुष्टता छोड, निष्कपट होकर देख राम क्या कर रहे है! जैसी नारी को प्रभु अपना रहे हैं क्या तू उसे निरादर की दृष्टि से देखेगा? नहीं, अब अपनी संकीर्णता त्याग और उसी लोक-पावन के आदर्श का अनुकरण कर। इस नारी के प्रति प्रभु को भावना कितने सम्मान की है और उनके इस गुण पर न रीझने वाले को उनके भक्त ने किस दृष्टि से देखा है उसे मनन करने की आवश्यकता है :—

"सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥
× × ×
सिला साप-संताप-बिगत भइ परसत पावन पाउ।
द[illegible] सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए पछिताउ[2]॥"

---

१ 'म[illegible] बाल० २१६।
२ 'विनय०' पद १००।

जो भगवान् 'नारि अपावन' को प्रणाम न कर चरण से छूने पर पश्चात्ताप कर रहे हैं उनका भक्त भला ऐसी नारी को लात मार कर समाज से बहिष्कृत करने का विचार मन में कैसे ला सकता है ? तुलसीदास राम के सच्चे भक्त है। स्वेच्छा से इन्द्र को अपने रूप का उपभोग करने की अनुमति देने वाली अहल्या को राम ने जब यह सद्गति प्रदान की, तब जो सती-साध्वी बरबस धर्मच्युत की जाती है उसके प्रति उनके अनन्य भक्त की सहानुभूति हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? आश्चर्य तो तब होता जब राम-भक्त कवि उनके इस अनुपम कृत्य की उपेक्षा कर इस आख्यान को चलता कर देता। 'मानस' में अत्यन्त कौशल पूर्वक प्रस्तुत किए गए इस प्रसंग का किंचित् मनन करने पर ही कवि की भावना की पकड़ हो सकती है और उनके अन्य ग्रंथो में उपलब्ध इस प्रसंग से सम्बद्ध उक्तियों से उसकी पुष्टि हो जाती है। 'मानस' में इस आख्यान का समावेश अनिवार्य था परन्तु मुक्तक काव्य-ग्रंथों में इसका उल्लेख कवि के विशेष लक्ष्य का ही परिणाम है। इसमें उसकी समाज-सुधार की धारणा प्रत्यक्ष है।

कुटुम्ब में पुत्री की स्थिति भी विचारणीय है। गिरजा और जानकी के जीवन में इसका परिचय दिया गया है। माता-पुत्री के स्नेह का उल्लेख पहले हो चुका है। पिता के स्नेह की झलक हिमाचल और जनक के स्नेह में मिलती है। माता-पिता की पुत्री के सुख-सौभाग्य की आकांक्षा की पूर्ति उसके विवाह के समय होती है। उस समय उसके लिए वे क्या नहीं करते और उसे सब कुछ देते हुए भी उनका मन तृप्त नहीं होता। उसकी बिदा के समय पिता-माता, स्वजन-सबंधी, घरेलू पशु-पक्षी तक किस वेदना से आर्द्र हो उठते हैं और कन्या का हृदय भी किस व्यथा से व्याकुल हो उठता है, सभी का सम्यक् चित्रण जानकी एवं गिरिजा के विवाह के प्रसगों में प्राप्त होता है। पुत्र से केवल एक कुटुम्ब की प्रतिष्ठा बढ़ती है पर पुत्री दोनो कुलो का नाम उजागर करती है। उसकी कीर्ति से पिता का हृदय किस गर्वमिश्रित आनन्द का अनुभव करता है इसे चित्रकूट में जनक जी के मुख से ही सुनना उचित है[1]।

---

१. "पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥
जिति सुरसरि कीरतिसरि तोरी। गवनु कीन्ह विधि अंड करोरी॥
गंग अवनि थल तीनि बडेरे। येहि किये साधु समाज घनेरे॥"
'मानस', अयो० २८२।

गोस्वामी जी के विचार में समाज के अन्तर्गत माता, पत्नी, और पुत्री का क्या रूप होता है और वे किस सम्मान की अधिकारिणी है, यह विदित हो गया। कौटुम्बिक सम्बन्ध के अतिरिक्त विभिन्न वर्गों के रूप में भी नारी-समाजका दिग्दर्शन होता रहता है। इसमें उनकी विशेष स्थिति, क्रिया-कलाप और स्वभावगत तथा जातिगत भेदों का भी बोध होता चलता है। 'विप्रवधू कुल मान्य जठेरी'[1] के द्वारा हम विप्र-वधुओं से परिचित होते है। वे अपना कर्तव्य समझ कैकेयी को नाना प्रकार से समझाती है[2]। अयोध्या से चित्रकूट पहुँचने पर राम-लक्ष्मण उनसे बडे सम्मान के साथ मिलते है[3]। इस प्रकार विप्र-वधुओं की समाज में विशेष प्रतिष्ठा के अधिकार का संकेत है। इनके साथ ऋषिपत्नी अरुन्धती भी सम्मानित है। ऋषिपत्नी महासती अनुसूया के जीवन की जो झाँकी मिलती है उससे ज्ञात होता है कि हमारे धर्म मे ऋषि-पत्नी किस प्रकार पति के परमार्थ-साधन मे निरन्तर योग देती और अवसर आने पर समाज को नारीधर्म की शिक्षा भी दिया करती थी। ऋषिपत्नी कैसी भी हो, पूजनीय है यह राम के उनके प्रति किए गए व्यवहार से ही नही, उस पछतावे से भी ज्ञात होता है जो अहल्या को चरण से छूने पर उन्हे हुआ था[4]।

दूसरा वर्ग है राजन्य वर्ग की स्त्रियों का। इनकी शालीनता, मर्यादा एवं व्यवहार राम-विवाह, रामवनगमन, चित्रकूट एवं राम-राज्याभिषेक के अवसर पर भली भाँति परिलक्षित होते है।

इस वर्ग की सेवा मे तत्पर दिखाई पडता है दासीवर्ग। अनेक दासियाँ राजकन्याओं के साथ जाती है और बराबर उनकी सेवा में रहती है। उनके प्रति स्वामिनी का कैसा सद्भाव और आत्मीयतापूर्ण व्यवहार होता है और कभी-कभी कोई घर फोड़ी दासी इससे कैसा अनुचित लाभ उठाकर घर में फूट डाल देती है इसका चित्रण अयोध्याकाण्ड में है। इस वर्ग का एक रूप 'राम लला नहछू' में भी चमक उठता है। वहाँ तत्कालीन ग्रामीण सेविका-वर्ग की पूरी झाँकी है। नाउन, बारिन, अहीरिन, मालिन, तँबोलिन आदि की भाव-भगिमा, एवं रंग-ढंग अलग-अलग और मनोरजक रूप में है। उसमे उनकी जातिगत तथा स्वभावगत विशेषताओं का सूत्र प्राप्त होता है।

---

१. 'मानस', अयो० ४८·२।
२. वही, ४९.३-५०।
३ वही, २४४ १ २।
४ 'विनय पद १००

ग्रामीण-जीवन की इस झलक के साथ कुछ उल्लेख ग्रामनारियों का भी हो जाना चाहिए। पथिक राम के सम्पर्क मे आने वाले ग्रामीण और वनवासी समाज के बीच वहाँ की नारियों का अनूठा रूप अंकित है। ग्रामवधूटियो का प्रसंग भी कवि के प्रिय प्रसंगों में से है। यहाँ ग्रामीण सादगी के साथ ग्राम-नारियों के स्वभाव की जो मनमोहक मधुर झाँकी दिखलाई गई है और उनके प्रति राजकुमारो एवं राजकुमारी का जो सौहार्द्र, कृपा और स्नेह दिखाए गए है वे आज भी हमारे ग्राम-उत्थान की दृष्टि स्वच्छ करने के लिए पर्याप्त है। मानवता की उस भूमि पर आर्थिक विषमता समाप्त हो जाती है। सीता के साथ उन बालाओं का वार्तालाप, युवती-हृदय की सरस और सहज वृत्तियों की सात्त्विक और मनोहारी झाँकियाँ अनावृत कर सहृदयों का मन मोह लेता है। कहा नहीं जा सकता कि इस चित्रण की सफलता के लिए तुलसीदास अपनी ससुराल के कितने ऋणी है।

सखीवर्ग भी एक विशेष वर्ग है। यह वर्ग सुख-दुख, उछाह और उमंग मे तरह-तरह के रूप धारण करता है। पुष्पवाटिका में किशोरावस्था की सहेलियो की मधुर छेडछाड, उनकी जानकी के राम-प्रेम मे प्रसन्नता, उनके हित की चिन्ता और हितसाधन का प्रयत्न सभी हृदयहारी है। ये राजकुमारी की सहेलियाँ है। आगे चलकर वनयात्रा मे ग्रामीण सखियों के समूह सीता को घेर लिया करते हैं। रामप्रिया के रूप पर मुग्ध, उनसे परिचय बढाने और हिल-मिल जाने के हेतु आतुर इन गँवार कही जानेवाली युवतियों की चतुरतापूर्ण विनोद की बातें बड़ी लुभावनी हैं। उनकी जिज्ञासा है :—

> "सीस जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल तिरीछी सी भौहें।
> तून सरासन बान धरे, तुलसी बन-मारग में सुठि सोहै॥
> सादर बारहि बार सुभाय चितै तुम त्यौ हमरो मन मोहै।
> पूछति ग्रामबधू सिय सो 'कहौ साँवरे-से सखि रावरे को है'॥"[1]

'तुम्हारी ओर सादर बार-बार देखकर हमारा मन मोह रहे हैं' कहने में मर्यादा की रक्षा के साथ बडी मीठी चुटकी भी है। 'हमारी ओर देखकर मन मोहते है,' कहने में रस फीका हो जाता। सीता जान जाती हैं कि वे क्या चाहती है और थोडी देर की साथिन इन सखियों का मन संतुष्ट कर देती है। वह इस प्रकार :—

---

१. 'कवित्ता०', 'अयो०'. २१।

"सुनि सुन्दर बैन सुधारस-साने, सयानी है जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्है समुझाइ कछू मुसुकाइ चली[१]॥"

इस अवसर के दृश्य की शोभा का निरीक्षण आगे चलकर होगा। यहाँ सखियो के स्वभाव का इतना परिचय पर्याप्त है।

इनका भी साथ छूटना ही है। दीर्घकाल के अनन्तर फिर मिलती हैं सखियाँ राजरानी सीता को। यहाँ का समाँ ही कुछ और है :—

"आली री! राघौ के रुचिर हिंडोलना झूलन जैए[२]।"

इस हिंडोलना झूलने के उत्साह और उमंग के दृश्य मे दर्शक का हृदय भी दोलायमान हुए बिना नही रहता। इसके बाद आता है बसन्त का रग और सखियों के साथ सीता भी होली के राग-रंग मे रँग जाती हैं।[3]

समय का चक्र! इस राग-रग के स्थान पर पुन विषाद और वनवास! पर सखियाँ यहाँ भी साथ देती हैं। इस विपत्ति मे वे माता, मौसी-बहन और सास, सभी से बढकर सेवा करती है।[४] पर अब वह आनन्द की तरंग कहाँ?

पार्वती भी सखियों से ही अपने मन की बातें खोलती हैं और तपस्या मे सखियाँ बराबर उनकी सेवा में रहती है।

महारानी सुनयना का सखी से अपनी चिंता प्रकट करना और उनके द्वारा उसका समाधान रानी-महारानियो की सखियो का आभास करा देता है। 'श्रीकृष्णगीतावली' की गोपियों का सखीवर्ग कुछ दूसरे ही रंग में रँगा हुआ है। वहाँ उनका सखी-रूप प्रधान नहीं, कृष्ण-प्रेम का रग प्रधान है जिसका उल्लेख पहले हो चुका है।

इन सबसे अलग एक निराली सखी का भी निराले ढंग मे दर्शन होता है। वह सीता और राम की कृपाभाजन अवश्य है पर कौन है, किसकी संबंधी है और कहाँ से आई है, इसका पता नही[५]। अतः इसकी खोज किसी अन्य अवसर[६] के लिए छोड आगे बढ़कर एक भिन्न वर्ग के नारी-समाज का परिचय प्राप्त करना चाहिए।

---

१. 'कविता०', अयो०।

२. 'गीता०', उत्तर०, १८। ३. वही, २२।

४. "मातु मौसी बहिन हूँ ते सास सें अधिकाइ।
करहिं तापस-तीय-तनया सीय-हित चित लाइ॥" वही, ३४।

५. "तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी सी काढ़ी,।
न जानैं कहाँ तें आई कौन की को ही॥" वही, अयो० १९।

६ इस पर छठे अध्याय में विचार किया गया है

यह है राक्षसी वर्ग। इसमे नारी समाज के एक विशेष रूप का चित्रण है। इस समाज मे मदोदरी ऐसी महिला के साथ रावण की अन्य रानियो, सामान्य राक्षसियों एवं सीता को डराने-धमकानेवाली दासियों का रूप सभी विलक्षण है। किसी निकृष्ट समाज की भी वयोवृद्धा मे मातृत्व-सुलभ सहानुभूति और वात्सल्य का जो रूप हो सकता है, वह त्रिजटा मे प्रत्यक्ष हो जाता है। 'कवितावली' के अतर्गत राक्षसियों का स्वरूप अग्निकांड की ज्वालाओं के प्रकाश मे चमक उठता है। उनका स्वभाव और व्यवहार यहाँ खुलता है। वे भाँति-भाँति से रावण, मेघनाद और अन्य राक्षसो की भर्त्सना करती, उन्हें धिक्कारती और गालियाँ तक देने लगती हैं कि मना करने पर भी नही माने, बन्दर के मुँह लगे और अब सभी उसका दुष्परिणाम भोग रहे है। उनकी खीझ, चीख-पुकार, बौखलाहट-बड़बड़ाहट और परेशानी देखते ही बनती है। राक्षसी वर्ग का यह चित्रण चलती भाषा मे बड़ा स्वाभाविक है और यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि तुलसीदास ने नारी में पुरुष से अधिक समझदारी देखी है। राक्षसों की समझ मे नहीं आया था कि बन्दर भी हानिकर हो सकता है।

विभिन्न सामाजिक उत्सवो एवं पारिवारिक शुभ कार्यों के अवसरो पर नारी-वर्ग का जो योग रहता है और उससे जो शोभा-वृद्धि होती है उसका परिचय राम-जन्म, राम-विवाह, राज्याभिषेक तथा शिव-पार्वती-विवाह के समय प्राप्त होता है। नारियों द्वारा गृहो की साजसज्जा, मंगल-कलश एवं आरती लेकर चलना, मंगलगान, पुष्पवर्षा आदि सभी का साक्षात्कार यथास्थान होता रहता है। ऐसे प्रसगों पर सुवासिनियो का बराबर उल्लेख है। प्रत्येक शुभ अवसर पर वे आगे रहती हैं और उन्हें बुलाकर वस्त्रादिक देकर उनका सम्मान भी किया जाता है। सुवासिनी अथवा सौभाग्यवती (सधवा) स्त्रियों का शुभ अवसरो पर सम्मान हमारे सामाजिक और धार्मिक कृत्यो में आज भी बना हुआ है।

सधवा के साथ विधवा को भी देखते चलें। कलियुग-वर्णन मे 'सौभागिनी बिभूषन हीना। बिधवन्ह के सिंगार नबीना' मे कवि की अनुदारता देखना उचित नहीं है। जिस युग मे विधवा के लिए सती हो जाना ही श्रेष्ठ और अनिवार्य तक समझा जाता था उसमें तुलसीदास ने इस प्रथा का खंडन नारी की विवशता को देखकर ही किया था

बरबस सती होने पर किस उपहासास्पद अवस्था मे पड़ना पड़ता है यहाँ प्रत्यक्ष है :—

"परमारथ पहिचानि मति लसति विषय लपटानि ।
निकसि चिता तें अधजरति मानहुँ सती परानि[1] ॥"

इसीलिए उनका ऐसी सती से कहना था :—

"सीस उघारन किन कहेउ बरजि रहे सब लोग ।
घर ही सती कहावती सहती नाह बियोग[2] ॥"

अतः विधवा का श्रृंगार उन्हे भला नही जँचता । निष्ठुर समाज ऐसी विधवा को कही का नही रहने देता । हाँ, विधवा होने पर भी नारी के सभी अधिकार सुरक्षित रहना चाहिए, यह कौसल्या को राजनीति में जो स्थान दिया गया उससे ज्ञात होता है । अनार्यों में मन्दोदरी और तारा की स्थिति भी पति के निधन के बाद सम्माननीय ही रहती है, इसका संकेत है । तुलसीदास से यह आशा करना बुद्धिसगत नही है कि वे सत्रहवी शताब्दी मे विधवा-विवाह का समर्थन करते ।

'मानस' में लौकिक और अलौकिक का जो मेल है उसमे मानव के साथ देववर्ग का अथवा अन्य लोक के प्राणियो का उल्लेख अवश्यम्भावी-सा हो गया है । विभिन्न प्रसंगो मे अप्सराओ और देववधुओ का उल्लेख बराबर होता रहता है । राम-जन्म से लेकर राज्यारोहण तक सुख-दुख का प्रभाव इन पर भी पड़ता रहता है । वे विभिन्न अवसरो पर कभी राम के दर्शन के लिए विमानो में विचरण करती हुई, कभी कलगान करती और कभी पुष्पवर्षा करती दिखाई देती है । विवाह के अवसर पर तो वे अपने को रोक नही पाती और :—

"सची सारदा रमा भवानी । जे सुरतिय सुचि सहज सयानी ॥
कपट नारि वर बेष बनाई । मिली सकल रनवासहि जाई[3] ॥"

नाना प्रकार से इस उत्सव मे उनका सहयोग मिलता है[4] । कपटवेश धारण करने से प्राप्त आनन्द की एक झलक यहाँ है :—

"लहकौरि गौरि सिखाव रामहि सीय सन सारद कहै ।
रनिवासु हास बिलास रस बस जनम को फल सब लहै[5] ॥"

---

१. 'दोहा०', दोहा २५३ ।
२. वही, दोहा २५४ ।
३. 'मानस', बाल० ३२२.६
४. वही, ३२२ ६ १२
५. वही, ३२२ १७, १८

अपने गान और नृत्य से अप्सराएँ भी सभी शुभअवसरो पर योग देती रहती हैं। इनकी लीला आकाश-पथ अथवा विमानों मे ही होती रहती है। इन्द्र की आज्ञा से वे कभी-कभी नीचे उतरकर समाधिस्थ योगियों की समाधि भग करने का यत्न भी करती है। नृत्य को तुलसीदास ने निकृष्ट दृष्टि से नहीं, कला और लीला के एक विशेष अग के रूप मे देखा हैं। हाँ, समाज में उसका प्रचार उचित न समझने के कारण उन्होने लौकिक नारिवृन्द के मध्य कभी उसकी झंकार नही गूँजने दी है।

गोस्वामी जी की दृष्टि में परनारी मे आसक्ति पुरुष के विनाश का मुख्य कारण है। विभीषण द्वारा रावण को दी गई सम्मति मे सुख, सुयश और कल्याण चाहनेवाले के लिए परस्त्री मे आसक्ति नितान्त त्याज्य कही गई हैं[1]। इस क्षेत्र मे विभीषण और सुग्रीव का कृत्य यद्यपि उनकी सामाजिक मर्यादा के प्रतिकूल नही था और वे राम के स्नेहभाजन भी थे, फिर भी तुलसीदास उनको इस 'कुचालि' के कारण ही उन्हे जब-तब खरे शब्दो मे याद किया करते हैं[2] और इसके लिए अपने स्वामी को उलाहना देने से भी नही चूकते। उनके विचार से यह समाज का सबसे बडा कलंक और उसके उत्थान के मार्ग का सबसे बड़ा अवरोधक है। इसी से उन्होने इसकी बराबर निंदा की है। समाज के लिए उन्होने इसे कितना अहितकर समझा हैं और भगवान् के प्रति भी इस भाव को वे दिव्य नहीं मान सके है, यह उनके निम्नाकित पद से भली भाँति प्रत्यक्ष हो जाता है। विचारणीय है कि यहाँ उन्होने श्रीकृष्ण की उस अनोखी रीति का गुणगान किया है जिसके अनुसार वे अपने बिरद के हेतु 'पुनीत' को त्याग पाँवर से प्रेम करते है। पद है —

"ऐसी कौन प्रभु की रीति।
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति॥
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु जादवराइ॥
काम-मोहित गोपिकनि पर कृपा अतुलित कीन्ह।
जगत-पिता बिरचि जिनके चरन की रज लीन्ह[3]॥"

---

१. 'मानस', सुन्दर०, ३७ ५,६। देखिए पीछे पृष्ठ ३३

२. 'कविता०', उत्तर०, ५, ६, १२२, 'दोहा०', दोहा १५७, 'मानस', बाल०, ३३.६-८।

३ विनय दोहा', २१४

गोपियों के माधुर्य-भाव के प्रेम के प्रति तुलसीदास की धारणा यहाँ स्पष्ट है। भगवान् कामभाव से शरणागत भक्तो पर भी अवश्य कृपा कर देते हैं परंतु इस भाव से उनकी उपासना तुलसीदास के विचार मे श्रेष्ठ नहीं है। यह उक्त पद के अंतिम चरण से प्रत्यक्ष हो जाता है :—

"कौन तिन्ह की कहै जिनके सुकृत अरु अघ दोउ।
प्रगट पातक रूप तुलसी सरन राख्यौ सोउ[1]॥"

अर्थात् गोपियो का सुकृत—उनका कृष्ण प्रेम—भी प्रकट रूप में (समाज मे) पातक (पर-पति-प्रेम के रूप में) ही समझा जाता है।

'श्रीकृष्ण गीतावली' मे यद्यपि नारीवर्ग की प्रधानता है तथापि कृष्ण की रासलीला एवं संयोग शृंगार का वह रूप वहाँ नहीं जो सूरदास के काव्य मे है। वहाँ भक्तिभाव के कारण कृष्ण-चरित का थोड़ा-बहुत गान कर दिया गया है। सामाजिक आदर्शों की स्थापना के लिए कवि को वहाँ कोई अवकाश नही देख पड़ा। यहाँ इतना कहना अप्रासंगिक न होगा कि महाभारत के किसी भी वृत्त का उल्लेख वहाँ नही है। परन्तु नारी की समाज में उचित प्रतिष्ठा के समर्थक तुलसीदास को नारी की मर्यादा-रक्षा के प्रसंग पर कुछ लिखे बिना संतोष नही हो सकता था। इसीलिए वहाँ द्रौपदी के मुख से सुनाई पड़ता है :—

"कहा भयो कपट जुवा जो हौं हारी।
समर धीर महाबीर पाँच पति क्यों दैहें मोहि हौन उघारी[2]॥"

इस प्रकार महाभारत के एक से एक महान् भक्तो का गुण-गान छोड़कर द्रौपदी की लज्जा-रक्षा-संबंधी दो पदो के गान के साथ इस रचना की समाप्ति की गई है।

गोस्वामी तुलसीदास के नारी-चित्रण में एक लोकद्रष्टा के नारी-समाज के उत्थान का सफल प्रयास प्रत्यक्ष है। नारी-जीवन के सभी पक्षो का चित्रण करते हुए उसके मध्य ऊँचे से ऊँचे आदर्शों की प्रतिष्ठा उन्होंने की है। उन्होंने प्रसिद्ध आँग्ल कवि शेक्सपियर की भाँति केवल चरित्रांकन के लिए ही चरित्रांकन नहीं किया और न तो आदि कवि की भाँति मानव-जीवन के स्वाभाविक

---

१. इस प्रसंग के दो पद हैं जो अत्यंत मार्मिक हैं। देखिए 'श्रीकृष्ण गी०' ६०, ६१।
२ वही, ६१

रूप का विशद चित्रण ही उनका एकमात्र लक्ष्य रहा है। हाँ, आदि कवि तथा महाकवि कालिदास की भाँति भारतीय संस्कृति के चित्रण का प्रयत्न उनका भी है। परन्तु इसके साथ ही जीवन का अध्यात्मपक्ष एवं उसमे नैतिक आदर्शों का समावेश तुलसीदास के काव्य की विशेषता है। उन्होंने मानवजीवन के बीच सीता-राम को इस प्रकार से अवतरित किया है कि उनकी दिव्य कान्ति से उसका कोना-कोना चमक उठे। अत उसमें समाविष्ट नारी-जीवन भी सीता-राम की दिव्य छाया से जगमगा उठा है। उसके सभी गुण-दोष उसमे प्रकाशित हो जाते है तथा दोष भी ऐसे आवरण मे सामने आते हैं कि उनसे हानि होने की संभावना नही रहती। नारी के स्वभाव, आचरण एवं भव्य गुणों की जो छाप पाठक के हृदय-पटल पर अकित होती है वह उसके जीवन का प्रेरणा-स्रोत बन जाती है। मानसकार ने लौकिक मे अलौकिक को इस कुशलता से उतारा है कि वह दिव्य होते हुए भी असभव अथवा अस्वाभाविक नही होने पाया। हाँ, कही-कही असाधारण अवश्य प्रतीत होता है। नारी-जीवन की समस्त दिव्यता और भव्यता, गरिमा और मधुरिमा, शालीनता और सुशीलता एवं कुमति और 'करतब' सभी सिमट कर उसमे एक साथ प्रतिबिम्बित हो उठे हैं। महाकवि की सफलता यही है कि नारी-जीवन का यह रूप अस्थायी नहीं शाश्वत है और शाश्वत जीवन की ओर ही गतिमान है। वह हमारे समक्ष नारीमात्र के कल्याण के प्रशस्तपथ के रूप में ही प्रस्तावित है।

■

अध्याय ४

नारी-सौन्दर्य

गोस्वामी तुलसीदास एक विरक्त संत थे। अतः उनके काव्य में लौकिक काव्यान्तर्गत नियोजित नारी-सौन्दर्य-वर्णन के विविध रूपों का अन्वेषण उचित नहीं है। किन्तु वे एक महाकवि भी थे। 'राम-चरित-मानस' में महाकाव्य के लक्षणों की पूर्ति मात्र नहीं, मानव-जीवन की छोटी-बड़ी, सरल और जटिल, सभी प्रकार की समस्याओं के समाधान का प्रयत्न भी है। तुलसीदास नव रस सिद्ध कवि थे। उनके सरस काव्य में शृंगार रस के मार्मिक किन्तु मर्यादापूर्ण स्वरूप की उत्कृष्ट योजना है। इस क्षेत्र में नारी ही नहीं, नर का सौन्दर्य-वर्णन भी अनिवार्य-सा हो जाता है। महाकाव्य के नायक राम के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन सर्वत्र है और उसका प्रभाव त्रैलोक्यव्यापी है। मानव ही नहीं, राक्षस, पशु-पक्षी एवं जीव-जन्तु सभी उससे प्रभावित हो जाते हैं। राम के अतिरिक्त पुरुषों में कहीं किसी का सौन्दर्य वर्णन है तो 'पार्वती-मंगल' में दूल्ह रूप में भगवान् शंकर का। चारों भाइयों के बालरूप की शोभा 'मानस' के अतिरिक्त 'कवितावली' तथा 'गीतावली' में भी अंकित है।

पुरुषवर्ग में जहाँ यह स्थिति है, वहीं नारी-वर्ग में महाकाव्य की नायिका सीता के साथ पार्वती का भी रूप-वर्णन है। इनके अतिरिक्त ग्राम-वधुओं एवं अन्य नारी-समूहों की शोभा का चित्रण यथास्थान बराबर होता रहता है। 'मानस' के उत्तरकांड में राम के प्रत्यागमन के अवसर पर कहा गया है :—

> "राका ससि रघुबर पुर सिंधु देखि हरषान।
> बढ़्यो कोलाहल करत जनु नारि तरग समान[१]।"

---

१ 'मानस', उत्तर०, ३।

इस अवसर पर अयोध्या मे नारी तरंग की भाँति लहरा रही है। सच पूछिए तो इसी प्रकार 'मानस' मे भी नारी आद्योपांत तरगित हो रही है और उसकी शोभा उसमे सर्वत्र व्याप्त है। अन्य रचनाओं मे भी अनेक प्रसगो मे नारी का सौन्दर्य-वर्णन विविध रूपो मे मिलता है। इसके अतिरिक्त कवि के अप्रस्तुतविधान में भी यत्र-तत्र नारी के सौन्दर्य की मनोहर झलक मन को आकृष्ट करती रहती है। नारी-सौन्दर्य का ऐसा व्यापक चित्रण देखकर प्रश्न हो सकता है कि क्या तुलसीदास भी बिहारी की भाँति सौन्दर्य-प्रेमी जीव है और नारी-सौदर्य-वर्णन भी उनका एक प्रिय विषय है? ऐसा कदापि नहीं है। बिहारी नारी के रूप पर पवित्र भाव से मुग्ध हो, अपनी लेखनी से उसकी छवि सजीव रूपमें उतारनेवाले कलाकार हैं। तुलसीदास कलाकार ही नही अनन्य रामभक्त भी हैं और नारी मे मातृशक्ति की उस शोभा का साक्षात्कार करते है जो उसके अंग-अंग मे प्रस्फुटित हो उसे जीवन को प्रकाशित करनेवाली काति से देदीप्यमान कर रही हैं। माता जानकी और जगदम्बा पार्वती की अतुलित शोभा के वर्णन का एक कारण यह भी है। सीता के लिए कहा गया है—

"आदिसक्ति छबिनिधि जग मूला[1]।"

और

"भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम वाम दिसि सीता सोई[2]॥"

आदिशक्ति के रूप का प्रभाव धनुर्यज्ञ के अवसर पर द्रष्टव्य है—

"रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी ॥"

और है उनके नेत्रो की छबि भी दर्शनीय :—

"जहँ बिलोकि मृग सावक नयनी। जनु तहँ बरसि कमल सित श्रेनी[4]"

जिन नेत्रों के भृकुटिभग मे सृष्टि को संचालित करने की क्षमता है उन्ही के दृष्टिनिक्षेप से श्वेत कमलों की वर्षा-सी होती चलती है। तात्पर्य यह कि जगदम्बा की भीषण शक्ति-समन्वित मूर्ति परम मनोहर भी हैं। जब यही शक्ति संसार मे नारी रूप में प्रकट है तो उसकी पावन रूप-छटा के वर्णन से मुँह मोडना किसी भक्त के लिए कैसे संभव हो सकता है? तुलसीदास का संकेत यही है कि 'सीयराममय' जग के घट-घट में सीय-राम की जो छवि

---

१ 'मानस', बाल०, १५२.२।

२ वही, १५२. ४।

३ वही, २५२. ४।

४ वही २३६ २।

व्याप्त है वही हर एक रमणी के रूप मे प्रतिबिम्बित होकर नेत्रों के लिए वरदान स्वरूप झलक रही है। अतः नारी के रूप में उसी के दर्शन कर अपने नेत्र पवित्र करो। उस सुन्दर, शुचि और तेजमयी शक्तिको पहचानो। वही तुम्हारे लिए कल्याणी हो सकती है और वही अपने एक भ्रूभंग मे तुम्हारा सर्वनाश भी कर सकती है। नारी में मातृशक्तिके दर्शन करो, उससे आशीर्वाद पाओगे। उसके रूप लोलुप बनकर उसे नष्ट करना चाहोगे तो अपने समस्त सौन्दर्य-सहित तुम भी नष्ट हो जाओगे। सीता के रूप मे वह अपने भृकुटि-विलास से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार की क्षमता रखती है तो नारी के रूप मे अपने भृकुटि-विलास से तुम्हारा जीवन-संसार नष्ट करने में भी समर्थ है। अतः उस दीपशिखा से प्रकाश ग्रहण कर जड-चेतन की ग्रंथि खोलो। दीप-शलभ मत बनो। नारी के रूप का यही महत्त्व है। इसी से दीपशिखा के सदृश ज्योतिर्मय नारी-तन की कांतिका चित्रण तुलसीदास ने अपनी लेखनी से किया है।

कहा जाता है कि कभी वे भी किसी दीपशिखा के शलभ बने थे। परन्तु जिस प्रकाश पर वे पतंग बन कर टूटे उसने उन्हे मरण नहीं, अमरत्व प्रदान किया। दृष्टि बदल गई। मारक ही तारक बन गया। 'तनु' की दीपशिखा ने 'सोहमस्मि' की दीपशिखा[1] का बोध करा दिया और वास्तविकता को पहचान लिया। अतः मनभाया भव्य सौन्दर्य जब दिव्यरूप में सम्मुख आया तो बराबर रमणीय 'तनु' की दीपशिखा के रूप की दिव्यता की झाँकी दिखाता रहा। इस प्रकार नारी के रूप की दिव्य शोभा और उसके पुनीत प्रभाव का चित्रण उनके काव्य मे बराबर होता रहा।

महाकवि ने अन्य कवियों की भाँति नारी के रूप का शिख-नख अथवा नख-शिख वर्णन करते हुए अलंकारों की झडी नहीं लगाई है। महाकाव्य की नायिका सीता के सौन्दर्य का वर्णन पुष्पवाटिका एवं धनुर्यज्ञ के अवसर पर विशेष रूप से किया गया है। पुष्पवाटिका को अपनी दिव्यकांति से प्रकाशित करते हुए[2] राम के मन को लुभानेवाले जनकतनया के मनमोहक सौन्दर्य का चित्रण कवि ने अपनी कुशल लेखनी से थोडे ही शब्दो में कर दिया है। 'कंकन

---

१. "सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा, दीपसिखा सोइ परम प्रचण्डा॥"
'मानस', उत्तर०, ११७।१

२. "पूजन गौरि सखीं लै आई। करत प्रकास फिरइ फुलवाई॥"
वही बाल० २३५।२

किंकिनि नूपुर धुनि' सुनते ही राम के मन मे आकर्षण उत्पन्न होता है और सीता की ओर दृष्टि डालते ही वे मंत्रमुग्ध-से रह जाते हैं—

"अस कहि फिर चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा॥
भये बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल[1]॥"

वाणी मूक है। कवि भी इतना ही कह कर रह जाता है—

"जनु विरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई॥
सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई[2]॥"

सुन्दरता को भी सुन्दरता प्रदान करनेवाली यह छबि भी दीपशिखा ही है जो अपनी दिव्य कांति के प्रकाश से समस्त सौन्दर्य-जगत् की छबि को आलोकित कर देती है और नारी मात्र का सौन्दर्य भी उसी दिव्य कांति से आभा प्राप्त करने के कारण ही कांतिमान दिखाई पड़ता है। कवि की नारी सौन्दर्य की भावना यहाँ भी स्पष्ट है।

उसी दिन संध्या-समय चन्द्रोदय का दृश्य देखते हुए रामचन्द्र गगन-चन्द्र से सीता के मुखचन्द्र की तुलना करने मे लीन हैं—

"प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुख पावा॥
बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं। सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥
जन्म सिन्धु पुनि बंधु बिषु दिन मलीन सकलंकु।
सिय मुख समता पाव किमि चन्द्र बापुरो रंकु॥
घटै बढ़ै बिरहिन दुखदाई। ग्रसै राहु निज संधिहि पाई॥
कोक सोक प्रद पंकज द्रोही। औगुन बहुत चन्द्रमा तोही॥
बैदेही मुख पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे[3]॥"

यह चन्द्र शीतल अवश्य है पर इसमे वह प्रसन्नता, आह्लाद और सुख कहाँ जो अपने चतुर्दिक् सम्पर्क मे आनेवालो को शीतलता के साथ सुख और शांति प्रदान करता रहे। यह तो बहुतों के लिए कष्टप्रद भी है, कलंकयुक्त है तथा इसे विष और वारुणी जैसी वस्तुओं से प्रेम है। अतः वैदेही के मुख से इसकी तुलना करना नितांत अनुचित है। 'होइ हानि बड़ अनुचित कीन्हे' यहाँ विचारणीय है। कवि-समाज चन्द्रमा से मुख की उपमा बराबर देता

---

१. 'मानस', बाल० २३४.३,४।
२. वही, २३४ ६,७।
३ वही २४१ २४२ ३

आया है पर आज उसमे हानि इसलिए दिखलाई पड़ रही है कि यहाँ केवल बाह्य रूप ही सौन्दर्य की कसौटी नही, रूपवान का गुण, शील, और प्रभाव भी उसका अनिवार्य अंग माना गया है। इससे रहित कोरा रूप-लावण्य अकल्याणकारी हो सकता है। अत. कवि की दृष्टि मे उसका कोई मूल्य नही।

इस प्रकार यहाँ व्यतिरेक अलंकार की उत्कृष्ट योजना के द्वारा कवि ने अपनी सौंदर्य-भावना भी स्पष्ट कर दी है। धनुर्यज्ञ के समय जानकी के रूप-वर्णन में इसे और भी स्पष्ट कर दिया गया है। त्रिलोक के समस्त शक्तिशाली राजा जिस राजकुमारी के परिणय की अभिलाषा से जनकपुर पधारे हैं उसके अलौकिक रूप का वर्णन करना सरल नही। जनक-नन्दिनी यज्ञमंडप मे पदार्पण करती है और कवि उनके सौन्दर्य-वर्णन में लीन होता है—

"सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदबिका रूप गुन खानी॥
उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत नारि अंग अनुरागी॥
सीय बरनि तेइ उपमा देई। कुकवि कहाइ अजस को लेई॥
जौं पटतरिअ तीय महँ सीया। जग अस जुवति कहाँ कमनीया॥
गिरा मुखर तनु अर्ध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
बिष बारुनी बधु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि बैदेही॥
जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूप मय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय सम तूल[१]॥"

कहने को कवि ने इतना ही कहा कि सीता के रूप-योग्य उपमा के अभाव मे उनके अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन संभव नही है। परन्तु उसने ऐसा वर्णन किया जिसका जोड़ विश्व-साहित्य मे शायद ही कही मिले। कवि का तर्क है कि संसार के उपमानो से वैदेही की छवि की समता नहीं की जा सकती। उनका प्रयोग तो लौकिक स्त्रियों के अंगों के लिए होता है। जगदम्बिका के रूपवर्णन में उनका प्रयोग करके कुकवि कहलाकर अपयश का भागी कौन बने? कवि का तात्पर्य यही है कि अप्रस्तुत रूप, गुण एवं प्रभाव में, सदा प्रस्तुत से बढकर ही होना चाहिए। संसार के पदार्थ तो जगदम्बा के रूप के सामने टिक नहीं सकते, रही दिव्य देवियों के रूप से उनकी तुलना। यहाँ

---

१. 'मानस', बाल०, २५१.१, २५२।

दूसरी आपत्ति है। सभी मे रूप दिव्य होते हुए भी गुणों की कमी है। सरस्वती वाचाल है तो पार्वती 'अर्धतनु' और रति सदा उदास रहती है। लक्ष्मी में स्वतः दोष नही पर उनके संबधी हैं विष और वारुणी। अत इन दोषो से मुक्त और स्वयं कामदेव द्वारा शोभा के रज्जु से शृंगार के मदराचल द्वारा क्षीर-सागर नही, छबि-सुधा-समुद्र का मंथन करने से जो लक्ष्मी अवतीर्ण होगी, वह भी सीता की तुलना के योग्य नही हो सकेगी। कवि-समाज उसे भी संकोच से ही सीता के समान कह सकेगा। छबि, शोभा और शृंगार की खानि, 'सुन्दरता सुख मूल' वैदेही के सौन्दर्य का वर्णन वाणी द्वारा संभव ही नही है।

अस्तु, अंग-प्रत्यंग-वर्णन की अब आवश्यकता नही रही। शिख-नख वर्णन न होते हुए भी कवि ने उसमे अधिक उत्कृष्ट रूप-वर्णन के साथ-साथ सौन्दर्य का रहस्य भी प्रकट कर दिया कि सच्चा सौन्दर्य वही है जो उत्कृष्ट शील और भव्य गुणों से युक्त होकर कल्याण का स्रोत बन सके।

लौकिक सौन्दर्य में प्रयुक्त होनेवाले सभी उपमान तो सीता के प्रतिबिंब के भी सामने आने से डरते थे। 'महाबिरही अति कामी' के रूप मे ललित नरलीला करते हुए श्रीराम के द्वारा कवि ने उनका भी उल्लेख इस कौशल से कर दिया है कि मर्यादा भी बनी रहे और उनका परिगणन भी हो जाए। विरही राम जानकी के अनुपम सौन्दर्य का स्मरण करते हुए विलाप कर रहे हैं—

"खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥
कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी॥
बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न सक सकुच मन माहीं॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥"[1]

इस प्रकार लौकिक और अलौकिक दोनो रूपो की छबि कवि द्वारा अंकित है। नारी के अंगो की शोभा का गिना-गिनाकर वर्णन कही नही है। जहाँ कही किसी अंग का वर्णन है, वह अपनी कुछ न कुछ विशेषता लिए हुए है। सक्षेप मे इनका भी पर्यवेक्षण कर लेना चाहिए।

सीता के मुखचन्द्र का बारम्बार वर्णन है। मुख मे सर्वोच्च स्थान है ललाट का। इसका वर्णन एक स्थल पर प्रकारान्तर से इस प्रकार किया गया है :—

---

१ 'मानस' अरण्य० २१ १०—१४

"जो आपन चाहइ कल्याना। सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना।।
सो पर नारि लिलार गोसाईं। तजौ चौथि के चंद कि नाईं[1]।।"

यहाँ नारी का ललाट चौथ के चन्द्रमा के समान कहा गया है। दुइज के चन्द्रमा से इसकी समता बराबर की जाती है पर चौथ के चन्द्रमा के इस अप्रस्तुत मे दोहरी व्यजना है। नारी का सुन्दर ललाट चतुर्थी के उस चन्द्रमा जैसा है, जो स्वयं तो निष्कलंक है परन्तु जिसके दर्शन से कलंक भी लग सकता है। चतुर्थी के इसी चन्द्र का दर्शन अनेक अवसरों पर शुभ होता है। चतुर्थी के व्रत मे चन्द्र-दर्शन का बडा महत्त्व है। अस्तु, नारी का ललाट भी चतुर्थी के चन्द्र तुल्य है। सद्भावना से उसका दर्शन श्रेष्ठ परन्तु दूषित भावना से उसका अवलोकन कलंकदायी है। इस प्रकार यहाँ सौन्दर्य वर्णन के साथ उसे देखने की दृष्टि का भी सकेत है।

ललाट के साथ ही शोभा होती है केशपाश की। दीपशिखा तुल्य नारी-शरीरकी काति पर लुब्ध मन इसमे जा अटकता है, इसे तुलसीदास ने विनय' के एक पद में व्यक्त किया है। नारी के रूप की आसक्ति पुरुष का सहज स्वभाव है—

"ज्यो सुभाव प्रिय लागति नागरी नागर नवीन को[2]।।"

इस आकर्षण मे शरीर तो हो जाता है दीप-शिखा और उसका अंजन हो जाता है केशपाश।

"जानत हूँ हरि रूप चराचर मै हरि नयन न लावौ।
अंजन केस सिखा जुवती तहँ लोचन सलभ पठावौं[3]।।"

इस से स्पष्ट है कि केश की शोभा का रूप कुछ विशेष है। नारी के सौन्दर्य-वर्णन मे कवियों ने केशपाश की शोभा का बराबर चित्रण किया है। तुलसीदास ने भी सीता के केशो की कालिमा का वर्णन किया है '—

"केस-मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकता करत उदोत[4]।।"

---

१. 'मानस', सुन्दर०, ३७,५, ६।

२. 'विनय', पद २३६।

३. वही, पद १४२।

४ बरवै०', १।

यहाँ आलंकारिक चमत्कार की दृष्टि प्रधान है। इस क्षेत्र में जायसी सबसे आगे निकल गए है। उनकी पद्मिनी के केशों की कालिमा ऐसी है कि —

"बेनी छोरि झार जौ बारा। सरग पतार होइ अँधियारा[1] ॥"

इसके आगे केवल मोती को श्यामल करनेवाली कालिमा कहाँ ठहर सकती है ? हाँ, इतना अवश्य ज्ञात हो जाता है कि केशो के सौन्दर्य मे प्रधानता है कालिमा की ही। केश काले होते है और है दीपशिखा में अंजन तुल्य। परन्तु उनका नारी की शोभा-वृद्धि में जो महत्त्व है और कवि ने रामचरित-गान करने वाले कवियों के मध्य केशों के अप्रस्तुत द्वारा अपने कविकर्म का जो विशेष स्थान निर्धारित किया है, दोनो की व्यजना एक साथ जिस कौशल से की गई है, वह अद्भुत है :—

"प्रभु गुन गन भूषन बसन बिसद बिसेस सुबेस।
राम-सुकीरति-कामिनी तुलसी करतब केस[2] ॥"

तात्पर्य यह कि राम की कीर्ति कामिनी है। उसका वेश विशेष स्वच्छ है। राम के गुण-गण ही उसके आभूषण और वस्त्र है। जिस प्रकार आभूषण सहज सौन्दर्यकी अभिवृद्धि करते है उसी प्रकार प्रभुके गुण-गण भी उनकी महिमा की वृद्धि करते है। बात यहाँ पते की है। मानसरूपक की निम्नांकित चौपाइयाँ ध्यान मे रखकर इसपर विचार करना उचित होगा—

"रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर वारि अगाधा[3] ॥"

और—

"राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम[4] ॥

'अगुन अबाधा' का अर्थ ग्रहण किया गया है—'राम के निर्गुण रूप की एकरस महिमा का वर्णन"[5]।

'मानस' का अगाध जल है रामके निर्गुण रूप का माहात्म्य और सीता-राम का यश उसका सलिल है। तात्पर्य यह कि निर्गुण और सगुण दोनों रूपों का निरूपण एवं यशगान 'मानस' मे है।

---

१ संक्षिप्त पदमावत, सं० श्यामसुन्दर दास और सत्यजीवन वर्मा, रत्नसेन खड १७४।
२ 'दोहा' १९२।
३ 'मानस', बाल० ४१ २।
४ वही, ४१.३।
५ देखिए 'मानस पीयूष'।

अब इसी यश को कीर्ति-कामिनी के रूप में देखना चाहिए। कीर्ति है रामके दोनो रूपों की। नारी का सौन्दर्य भी दो रूपों मे खिलता है। सहज सौन्दर्य और सजाया सँवारा हुआ सौन्दर्य। वस्त्राभूषणों से सहज-सौन्दर्य की वृद्धि अवश्य होती है परन्तु उनके बिना भी उसकी अपनी विशेषता रहती है। किस प्रकार उसकी सहज कान्ति आभूषण बिना और भी स्वच्छ रूप मे प्रकट होकर नेत्रों को अधिक भाती है, यह राम के सौन्दर्य-वर्णन मे स्पष्ट किया गया है—

"कागर-कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई[१]॥"

आभूषणों की यह स्थिति बिहारी के यहाँ भी है। उन्होने नायिका के शरीर की स्वच्छ-कान्ति की रक्षा के लिए उसके सहज सौन्दर्य की तुलना में उन्हे पायंदाज तुल्य ठहराया है[२]। निष्कर्ष यह कि आभूषणों से शोभावृद्धि अवश्य होती है परन्तु उनके बिना सौन्दर्य अपने नैसर्गिक रूप मे भी खिलता है।

अब देखना यह है कि राम की कीर्ति-कामिनी का क्या स्वरूप है और क्यों राम के गुण-गण उसके आभूषण कहे गये है ? प्रश्न है, क्या गुणो के बिना भी राम की कीर्ति की शोभा है ? प्रभु के गुण उनके सगुण रूप के अनिवार्य अंग अवश्य हैं पर उनका जो रूप 'महेस मन मानस हंसा' है जो 'सगुन' के साथ 'अगुन' भी है, जिस 'अगुन अबाधा' की महिमा 'मानस' मे है, उसकी भी तो कीर्ति है[3]। जो अनाम, अरूप, अज, अनादि और निर्गुण ब्रह्म भक्तो की पुकार पर विविध रूप धारण कर दौड़ा आता है, उसकी कीर्ति असीम है। अतः उसके साकार रूप के गुणोंका गान भी कीर्तिकामिनी की शोभा का वृद्धिकारक होगा। इस गुणगान के बिना भी उसका सौन्दर्य अपूर्ण नही है क्योकि वह पूर्ण मे से पूर्ण निकाले जाने पर भी पूर्ण ही रहता है। उसका प्रत्येक रूप हर प्रकार से पूर्ण ही होगा।

---

१ कविता०, अयो०, २·१।

२ 'मानहु विधि तन अच्छ छबि स्वच्छ राखिबे काज।
दृग-पग पोंछन को कियौ भूषन पायंदाज॥'
'बिहारी-रत्नाकर०' दोहा ४१३

३ वेद 'नेति नेति' कह कर उसका गुणगान करते है। उसके सौन्दर्य का वर्णन सन्तों के यहाँ खूब है जिसकी एक झलक साधक को बेसुध कर उसे प्रेमोन्मत बनाए रहती है।

इस प्रकार कीर्ति-कामिनी के स्वरूप मे गुण-ग्राम आभूषण तुल्य है और कविकर्म है वह केशपाश जो उसके सहज सौन्दर्य के साथ-साथ अलंकृत सौन्दर्य का भी वृद्धिकारक है। रामचरित को लेकर अनेक रामायणों का निर्माण हुआ। सभी में राम का गुणगान है। राम के गुण ही सगुण की कीर्ति को अलंकृत कर रहे है। तुलसीदास द्वारा प्रणीत रामचरित मे भी राम के गुणो का वर्णन है। परन्तु उनके राम-चरित-गान में गुणगान के अतिरिक्त कुछ और भी है। पार्वती ने राम-कथा के अतिरिक्त कुछ और भी पूछा है। उन्होने राम-रहस्य, ज्ञान और भक्ति का भेद आदि और भी बहुत कुछ जानना चाहा है और सभी का उत्तर 'मानस' मे है। इसके अतिरिक्त उस काव्य द्वारा कवि ने अपना जीवन-सदेश भी दिया है। अत गुणगान रूपी अलंकारों के अतिरिक्त इतना और भी वहाँ वर्तमान है। समस्त शरीर की छबि के रूप मे तरंगित होने वाला सहज लावण्य उसके किसी विशेष अंग मे ही स्थित नही रहता और आभूपणो से भिन्न भी होता है। उसी भाँति उपर्युक्त सामग्री ही वह सौन्दर्य है जो गुणगान रूपी अलंकारों से आवृत अपने सहज रूप में सर्वत्र विराजमान है। इसी में कवि का वह 'करतब' व्यक्त हुआ है जो केश बन कर उसकी शोभा बढा रहा है। निष्कर्ष यह कि राम की कीर्ति तुलसीदास के कविकर्म द्वारा उसी भाँति सुशोभित हुई है, जिस प्रकार केशों की कालिमा कामिनी की स्वच्छ काति को सुशोभित करती है। केशपाल आभूपण-रहित और आभूषण-सहित दोनों रूपो मे चार चाँद लगा देता है। तुलसीदास का कविकर्म भी राम के गुण-रहित और गुण-सहित दोनो रूपो का कीर्तिगान कर रहा है। केशपाश कालिमा युक्त होने पर भी शोभा का सिरमौर होता है। तुलसीदास की 'भनिति' 'भदेस' होने पर भी समस्त रामचरित काव्य की शोभा का सिरमौर है।

उक्त दोहे का अर्थ यह भी लगाया जाता है कि तुलसीदास ने भाषा मे राम का कीर्तिगान किया, अत अपनी करतूत (भापा मे रामचरित कहना) को केश (अर्थात् काले कलकवत्) कहा है। हमारी धारणा इससे भिन्न है। कविकर्म के संबंध में उन्होंने कहा है :—

"कवि न होउँ नहि बचन प्रबीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥
× × ×
कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहाँ लिखि कागद कोरे[१]॥"

१ 'मानस, बाल० ११८।११

उपर्युक्त कथन अथवा अन्यत्र कही गई इस प्रकार की उक्तियाँ कवि की विनम्रता की द्योतक हैं और—

"कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा॥
जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाही। कहहु तूल केहि लेखे माही[1]॥"

के अनुसार भगवान् के अनत चरित के गान मे अपनी असमर्थता दिखलाने के लक्ष्य से कही गई है। ध्यान देने की बात है कि कवि खल-वन्दना के पश्चात् ही अपनी 'भाषा भनिति' की बात कहता है कि मेरा उपहास करने वाले भले ही चाहे जो कहें परन्तु मुझे उसकी चिन्ता नही क्योंकि :—

"खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहि कलकंठ कठोरा॥
× × ×
भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसबे जोग हँसे नहि खोरी[2]॥"

इतना कहकर तब वह दृढतापूर्वक, पूर्ण विश्वास से अपनी कविता का मूल्यांकन करता है :—

"भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ। राम नाम विनु सोह न सोऊ॥
× × ×
जदपि कवित रस एकौ नाही। नाम प्रताप प्रकट एहि माँहीं॥
× × ×
भनिति भदेस बस्तु भल बरनी। राम कथा जग मंगल करनी॥
× × ×
प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी।
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी।
प्रिय लागहि अति सबहि मम भनिति राम जस संग।
दारु बिचार कि करइ कोउ बंदिअ मलय प्रसंग[3]॥"

इतना ही नही, उसे शंकर की कृपा पर पूर्ण विश्वास है और उसके बल पर वह अपनी 'भाषा भनिति' के प्रभाव के गुणगान में यहाँ तक कह देता है :—

---

१. 'मानस' बाल० १६·१०-११। २. वही, बाल० १३·१-४।

३. वही, बाल० १४·१०-१६।
इस संबंध में तेरहवें दोहे से सत्रहवें दोहे तक किया गया-कवि का निवेदन मनन करने योग्य है।

"भनिति मोरि सिव कृपा बिभाती। ससि समाज मिलि मनहुँ सुराती॥
जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनहहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं राम चरित अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी॥
सपनेहु साँचहु मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥"[1]

अत. इसमें शंका के लिए कोई स्थान नही कि कवि अपनी 'भनिति भदेस' को राम के कीर्तिगान मे किसी प्रकार भी किसी अन्य कविता से कम नही समझता। कारण, उसके मतानुसार उसका सर्वश्रेष्ठ गुण है :—

"एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥
मगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी[2]॥"

राम-नाम का विवेचन पहले हो चुका है[3]। कवि की कविता मे राम नाम है इसका तात्पर्य यह है कि उसमे निर्गुण, सगुण और दशरथसुत राम के स्वरूप का निरूपण है। तुलसीदास को अपनी वाणी के इस रामनाम यश से अंकित होने का गर्व है, इसमे सन्देह नही। इस स्थिति मे यह कहना उचित नही कि कवि ने भाषा के कारण अपनी कविता को राम की कीर्ति में कलंकवत कहा है।

इस प्रकार राम की कीर्ति-कामिनी से तुलसीदास की कविता का संबध ज्ञात हो जाता और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि केश की शोभा रमणी के सौन्दर्य मे अनिवार्य है। एकाध आभूषण अथवा एकाध अंग के सुन्दर न होने से अधिक क्षति नहीं होती परन्तु यदि केशपाश न हुआ तो नारी का सारा सौन्दर्य ही नष्ट हो जाता है। कवियों ने इसके सहारे कम चमत्कार नही दिखलाए है। 'रत्नाकर' ने घनानन्द को ब्रजभाषा रूपी कविता-कामिनी का केशपाश माना तो घनानन्द ने केशपाश को रूप-पानिप का सिवार[4], जिसका सहारा लेने मे रूप-पानिप की छबि-तरंगो मे बहता हुआ मन उसीमे डूब जाता है। इन रूपकों को दृष्टिगत रखते हुए हम कह सकते है कि तुलसीदास का

१. 'मानस', बाल० १६.६-२०।

२. वही, बाल० १८'१।

३. देखिए पीछे पृष्ठ ११८-१२०।

४. 'घनानन्द कवित्त' : सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १६६, कवित्त १२७

'करतब' राम की कीर्ति-कामिनी का कमनीय केश-पाश अथवा रामगुणगान का सिरमौर है। वह इस अर्थ में कि काव्य और अध्यात्म का जो अद्भुत मेल तुलसीदास के कृतित्व मे है, उसका दर्शन अन्यत्र दुर्लभ है। अत इस अर्थ मे तुलसीदास के 'करतब' को केश मानना असंगत नही। केशव की कीर्ति-कामिनी के केशों का महत्त्व किसी प्रकार भी कम क्यो आँका जाए ? इस प्रकार तुलसीदास के इस विलक्षण दोहे मे अपने कविकर्म की सच्ची आत्मशसा के साथ ही उनकी नारी-सौन्दर्य-दृष्टि का परिचय भी मिलता है।

केशपाश के पश्चात् नेत्रो की शोभा का अवलोकन करना उचित होगा। रूप-सौन्दर्य मे नेत्रो का विशेष महत्त्व है। किसी के व्यक्तित्व का प्रभाव बहुत कुछ उसके नेत्रो द्वारा ही पड़ता है। नेत्रो की महिमा अपार है और है सहज शोभा के साथ उनके प्रभाव के कारण ही। भावाभिव्यक्ति की शक्ति नयनों मे वाणी से कम नही है।

'गिरा नयन अनयन बिनु बानी' सत्य अवश्य है, परन्तु कभी-कभी नयनो कि भाषा वह कार्य करती है जो वाणी भी नही कर सकती। नेत्रो की सुन्दरता भी बोला करती और दूसरों को अपने वशीभूत कर लेती है। इनमें सभी प्रकार के भावो को व्यक्त करने की शक्ति है। पुष्पवाटिका प्रसंग मे नयनो की इस सरस लीला की बडी मनोहारिणी झलक है। सीता का आगमन पुष्पवाटिका में होते ही उनके भावों का परिचय उनकी चितवन दे देती है :—

"चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गए नृप किसोर मन चिन्ता[1]॥"

इस चकित चितवन का तात्पर्य समझ कर ही :—

"लता ओट तब सखिन लखाये।"

अब नेत्रों की भाव-भंगिमा बदल जाती और वे हृदय की दशा बतलाते चलते है :—

"देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हिहू परिहरी निमेखे॥
अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी[2]॥"

---

१. 'मानस', बाल० २३६.१।

२ वही २३१.४ ७

नेत्रों के मौन-व्यापार की भाषा ने भी एक दूसरे से बहुत कुछ कह दिया। इधर सीता ने प्रभु की छबि को हृदय मे बन्दी बना लिया, उधर राम को भी उनके प्रेम का संकेत मिल गया और अनुभव हुआ कि सीता सुख, स्नेह, और शोभा की खानि है। इसीलिए—

"प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी॥
परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही[1]॥"

लोचनों की भाषा की मौन पुकार को पक्के प्रेमी घनानन्द ने भी खूब परखा है। उन्होंने नाना प्रकार के भाव व्यक्त करने वाले नेत्रो का बावलापन अपनी विरहाकुल वाणी मे अमर कर दिया है। बिहारी भी इसमें पीछे नही रहे। परन्तु जो गम्भीरता, मर्यादा और शील तुलसीदास के उक्त वर्णन मे है वह अन्यत्र नही।

यह तो हुई नयनों की चितवन की भाषा। कभी जब नेत्र बाँकी भौहो से बोलने लगते है तब उनकी वाणी सरस ही नही, ऐसा विलक्षण प्रभाव उत्पन्न करती है कि उसे समझने वालो की शोभा भी कुछ अद्भुत हो जाती है। ग्राम-नारियाँ सीता की दिव्य शोभा का पान करते हुए तृप्त नही होती। पति की ओर निहारते हुए, उनके नेत्रों की भाव-भंगिमा की सरस शोभा के दर्शन पाने की आतुरता-वश पूछती है —

"सीस जटा उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी सी भौहें॥
तून सरासर बान धरे, तुलसी बन मारग मे सुठि सोहै॥
सादर बारहि बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहै।
पूछति ग्रामबधू सिय सो कहो साँवरे से, सखि रावरे को हैं[2]॥"

ग्रामीणो की चतुरता भी अत्यंत सरलता पूर्ण है। जानकी उनकी कामना समझ लेती हैं अतः —

"सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने सयानी है जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हे समुझाइ कछू मुसुकाइ चली॥
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन-लाहु अली।
अनुराग-तड़ाग मै भानु उदै बिगसी मनो मंजुल कंज कली[3]॥"

---

१. 'मानस', बाल० २३६.२,३।

२. 'कविता०', अयो० २१।

३ वही, २२

बस, इस मनचाही रूप-छटा को देखकर उनके मुख-कमल भी खिल उठते और एक अनुपम दृश्य उपस्थित हो जाता है। सीता की तिरछी चितवन के रूप-रस-पान मे मग्न ग्रामनारियों के प्रेम-विभोर समूह की इस सुषमा में कवि ने प्रकृति के क्षेत्र से बड़े रमणीय अप्रस्तुतों का चयन किया है। सखियो के रूप-रस-लोलुप लोचन सीता की मधुर मुसकान और लजीली चितवन-युक्त छबि-सुधा का पान कर तृप्त हो जाते हैं और इस आनन्द से उनके मुख-कमल प्रफुल्लित हो उठते हैं। सीता की ओर मुग्ध दृष्टि डालते हुए इन प्रसन्न बदनो की शोभा अरुणोदय से खिली हुई प्रातःकालीन कंजकलियों का लुभावना दृश्य उत्पन्न कर देती है। नारी-सौन्दर्य के साथ कवि के प्रकृति सौन्दर्य निरीक्षण की भी एक झलक यहाँ है।

'मानस' मे भी यही दृश्य अंकित है। ग्राम नारियाँ राजकुमारी से बड़ी विनयपूर्वक दोनो 'कोटि मनोज लजावनि हारे' राजकुमारों का परिचय पूछती है। उसे सुनकर सीता की मुद्रा भी संकोचपूर्ण हो उठती है :—

"सुनि सनेह मय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकत धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी॥
सकुचि सप्रेम बालमृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥
सहज सुभाय सुभग तनु गोरे। नामु लषनु लघु देवर मोरे[1]॥"

लक्ष्मण का परिचय तो वाणी से दिया जा सकता है परन्तु राम के परिचय की शक्ति वाणी मे कहाँ ? वह उन्ही नयनो मे है जिन्होंने उस छवि को हृदय प्रदेश मे उतार कर कभी उन्हे प्रेम-संदेश दिया था। अत. वही राम का परिचय देते हैं —

"बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि[2]॥"

इसी छबि-निधि को लूटने के निमित्त ही तो ग्रामवधुएँ व्याकुल थी। इसलिए :—

"भई मुदित सब ग्राम बधूटी। रँकन्ह राय रासि जनु लूटी[3]॥"

---

१. 'मानस', अयो० ११६,२-५।

२. वही, ११६ ६,७।

३ वही, ११९ ८

इस प्रकार के दृश्यों का अवलोकन करते हुए यह कहना उचित नही जान पड़ता कि वैरागी होने के कारण तुलसीदास ने नारी-सौन्दर्य-वर्णन खुल कर नहीं किया है। उनकी कविता इसका प्रमाण है कि कवि की पवित्र दृष्टि नारी के सौन्दर्य का निरीक्षण कर उसे अत्यन्त हृदयग्राही एवं मनोहारी रूप मे अंकित कर सकती है।

बालमृगनयनी के नयन सखियों से वार्ता करते हुए चचलतावश खंजन बन गए। किन्तु चंचलता पूर्ण यह चितवन मर्यादित है; घूँघट की ओट में है कि सखियाँ ही देखें, दूसरी ओर से राम अथवा अन्य कोई व्यक्ति उसे न देख पाए। सूक्ष्म निरीक्षण के साथ कवि की सहृदयता यहाँ प्रत्यक्ष है।

खजन के साथ-साथ नेत्रों के लिए प्रयुक्त अन्य अप्रस्तुतो की चर्चा भी हो जानी चाहिए। आँखों के लिए परम्परा प्राप्त अप्रस्तुत है कमल, मृग, खजन और मीन। महाकवि की कविता मे प्रसग और भाव के अनुरूप इनका प्रयोग हुआ है। नारी-समूह का जहाँ वर्णन है वहाँ उन्हे अधिकांश रूप मे मृगनयनी ही कहा गया है :—

"बिधु बदनी सब-सब मृगलोचनि[१]।"

कमल का प्रयोग अप्रस्तुत रूप मे अत्यधिक है। इसका कारण तुलसीदास के भावकोश में अप्रस्तुतो का अभाव नही है। अन्य अप्रस्तुतो की अपेक्षा कमल मे कुछ विशेषता अवश्य है। अप्रस्तुत विधान में उपमान के नाम, रूप, गुण और प्रभाव के साम्य का ध्यान रखा जाता है। कमल के नाम मे भी कुछ विशेषता है। लक्ष्मी का नाम कमला है तो कमलापति विष्णु के हाथ में कमल विराजमान है। ब्रह्मा कमलासन हैं तो सरस्वती पद्मासना। कमल का महत्त्व उसकी कोमलता और पवित्रता आदि गुणों के कारण भी है। वह ऐसा पुष्प है जो दिव्यलोक और मर्त्यलोक दोनो में समान रूप से सम्माननीय है। वह प्रकाश में ही प्रस्फुटित होता है, अधकार उसे प्रिय नही। देवीदेवताओ के हाथ मे भी वही देखा जाता है। उसके अर्पण का विशेष महत्त्व भी माना जाता है। अत. कमल के पुष्प के साथ हमारी अनेक पवित्र भावनाएँ संबद्ध हैं। उसके अनेक वर्ण भी होते है और अनेक अगो से उसकी उपमा दी जाती है। भगवान् के शरीर की उपमा 'नीलसरोरुह' से और जानकी की 'कनक पंकज की कली' से दी गई है। हमारे यहाँ गुणो के वर्ण और वर्णो के गुण माने जाते है।

---

१ मानस, बाल० २२२ १

सतोगुण का वर्ण श्वेत है, रजोगुण का लाल और तमोगुण का श्याम। सीता के नेत्रों के लिए जो श्वेत कमल का उपमान प्रयुक्त किया गया है, वह उनकी सात्त्विकता और पवित्रता के कारण। लाल कमल का प्रयोग किसी प्रकार की राजसता, यौवन का तेज अथवा मद और प्रेम की लालिमा के लिए भी होता है। सीता के रूप में सात्त्विकता और पवित्रता की पराकाष्ठा है। आबाल वृद्ध नर-नारी के उनके रूप पर मुग्ध होने का कारण यही है[1]। चितवन के भोलेपन के कारण ही उन्हें 'बालमृगनयनी' कहा गया है। अप्रस्तुत रूप मे खंजन का प्रयोग वही है जहाँ अंबक-छबि चंचलता युक्त है। रह गई मीन। मीन के उपमान का ग्रहण तुलसीदास के काव्य मे अधिकतर प्रेम-प्रतीक के रूप में है। नेत्रो के प्रसंग मे उनका प्रयोग बहुत कम है।

प्रफुल्ल नेत्रों मे भी कभी-कभी आँसू छा जाते है। धनुर्यज्ञ के अवसर पर सीता के अश्रुयुक्त लोचन कुछ विलक्षण शोभा का केन्द्र हो रहे है। राम धनुष-भंजन के लिए प्रस्तुत है। जानकी आकुलतावश मन-ही-मन उद्विग्न हो रही है। उसे प्रकट करने के लिए आतुर अश्रु लोचनो के कोयो में ही रोक लिए जाते है। ये प्रेमाश्रु वैदेही को कृपण के धन-सदृश प्रिय है, फिर उनका मोचन कैसे हो ? फलत —

"लोचन जल रहु लोचन कोना। जैसे परम कृपिन कर सोना[2]॥"

की दशा हो जाती है। प्रेमाश्रुओं की यह दशा 'मेघदूत' की यक्षिणी के आँसुओं की-सी है। आँसुओं से डबडबाए हुए ये नेत्र उत्सुकतावश बार-बार राम की ओर उठते और लज्जावश पृथ्वी की ओर झुक जाते है। प्रेम-विह्वलता प्रकट करने वाली इस चंचल गति की छबि मे कवि कुछ अद्भुत शोभा देखता है .—

"प्रभुहि चितै पुनि चितै महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मंडल डोल[3]॥"

यहाँ अश्रुजलपूर्ण नेत्रों की समता मीन से बड़ी ही सटीक है।

नेत्रों का सौन्दर्य कटाक्षों द्वारा भी बहुत कुछ किया करता है। कटाक्ष का वर्णन हिन्दी काव्य में भरपूर है। तुलसीदास के यहाँ इसके दो रूप है:—

---

१. देखिए पीछे पृ० १४५, टिप्पणी १।

२. 'मानस', बाल० २६३-२।

३ वही, २५१।

'कृपा कटाक्ष' और 'नारि नयन सर'। जगज्जननी सीता के कृपा-कटाक्ष की अद्वितीय महिमा है। अमरत्व पा लेने पर भी उसकी अभिलाषा बनी रहती है —

"जासु कृपा कटाक्ष सुर चाहत चितव न सोइ।
राम पदारविंद रति करति स्वभावहि खोई[1]॥"

इसी कटाक्ष का दूसरा रूप है 'नारि नयन सर'। भुक्तभोगी सुग्रीव का राम से निवेदन है :

"नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया[2]॥"

भक्तशिरोमणि महाकवि का भी अभिमत है :—

"श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नयन सर को अस लाग न जाहि[3]॥

कामवासना को उत्तेजित करने वाले इस 'नयन सर' के कुप्रभाव से बचने का उपदेश सर्वत्र है क्योंकि इससे बचना अत्यन्त दु साध्य है। राम पर कभी इसका प्रभाव नही पड़ा। जहाँ तक राम-सीता का सम्बन्ध है, यह नेत्र-कटाक्ष भी लौकिक लीला में दाम्पत्य-जीवन का सात्त्विक मधुर एव मर्यादित स्वरूप स्पष्ट करने के लिए ही है। किन्तु 'प्रमदा' का यह अस्त्र बडा शक्तिशाली होता है। महारानी कैकेयी के प्रसंग में इसका सकेत किया गया है :—

"कपट सनेहु बढाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन मुँहु मोरी[4]॥"

इस प्रकार कवि के 'नयन सर' के अहितकर रूप की धारणा स्पष्ट है। प्रभु के भ्रूविलास पर नाचने वाली माया विश्व में नारी-रूप मे प्रकट है। वही जब कभी प्रमदा का रूप धारण करती है तो उसके इस प्रबल अस्त्र से पुरुष पराजित होता और काम का बन्दी बन जाता है। अत वासना को जीवन का लक्ष्य बनाने के लिए इसका प्रयोग विनाशकारी है। नेत्र-कटाक्ष का सौन्दर्य जहाँ खिलता है उसका वर्णन जगज्जननी के प्रसंग मे किया गया है। नारी

१. 'मानस', उत्तर० २४।
२. वही, किष्कि० २०.४, ४।
३. वही, उत्तर० ७०।
४ वही अयो० २६ ८

इस रूप में वन्दनीय नहीं कि वह पुरुष को केवल 'कामकौतुक' दिखाती रहे। उसका वह रूप वन्दनीय है जहाँ यह कटाक्ष काम-कटाक्ष न होकर कृपा-कटाक्ष हो जाता है। निदान, यही जान पड़ता है कि तुलसीदास ने नारी के शारीरिक सौन्दर्य को केवल स्थूल माँसल सौन्दर्य के रूप मे प्रतिष्ठित नही किया। उसके इस रूप को अंकित करते हुए उन्होने उसका आध्यात्मिक पक्ष भी दृष्टि से ओझल नही होने दिया है।

शूर्पणखा के प्रसंग मे 'नयन सर' का उल्लेख नही है। कारण यही जान पड़ता है कि शूर्पणखा जैसी निर्लज्ज राक्षसी के लिए उसका कोई महत्त्व नही था। वह अपने शील का पूर्ण परित्याग कर चुकी थी और हाव-भाव का आश्रय लिए बिना सीधे शब्दों मे ही उसने राम से अपने प्रेम का प्रस्ताव कर दिया। उसे निर्लज्जता का दण्ड मिला और इस प्रसंग मे कोरी वासना का निकृष्ट रूप तथा उसका दुष्परिणाम प्रत्यक्ष कर दिया गया। नारी के काम-कटाक्ष का महत्त्व उसकी मर्यादा के भीतर है। परपुरुष के प्रसंग मे उसे दिखलाना तुलसीदास जैसे मर्यादावादी कवि के लिए असम्भव था।

यही नेत्र कभी कर्णावलम्बी भी हो जाते हैं। अतः कानो के स्वरूप पर भी दृष्टिपात कर लेना है। राम के शिखनख वर्णन मे कुण्डलो सहित उनका उल्लेख अनेकत्र है। नारी की शोभा में कर्ण और कर्णभूषण का क्या मूल्य है, यह एक अप्रस्तुत द्वारा प्रकट कर दिया जाता है। प्रसंग है भक्ति का। भक्ति राम की प्रिया कही गई है। राम-नाम और भक्ति का सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए नारी की मुख-छवि में कर्णभूषण के योग का अप्रस्तुत द्रष्टव्य है। नाम-माहात्म्य के प्रसंग में कर्णाभूषण की शोभा भी खिल उठती है :—

"भगति सुतिय कल करन बिभूषन। जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन[1]॥"

राम-नाम के दोनो अक्षर भक्तिरूपी सुतिय के कर्णाभूषण हैं। कर्णभूषण-रहित नारी की शोभा मे हमें और आपको भले ही कोई कमी न दिखाई पड़े पर तुलसीदास को वह वैसी ही फीकी लगती थी, जैसे राम-नाम के बिना भक्ति। ध्यान देने की बात है कि नाम-महिमा के प्रसंग मे अन्य अप्रस्तुतों के बीच नारी की छवि को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कहाँ 'बेद-प्रान'[2] राम-नाम की महिमा और कहाँ नारी और उसके कर्णाभूषण।

---

१. 'मानस', बाल० २४ द।

२ वही, १२ ५।

यही वह पकड़ है जो बतलाती है कि नारी की शोभा को कभी जिसकी आँखों ने पवित्र और निरपेक्ष सौन्दर्य-दृष्टि से देखा है वही उसे इस पावन प्रसंग मे बेखटके उतार सकता है। उसकी दृष्टि में नारी का सौन्दर्य कोई मलिन और निकृष्ट वस्तु नही है कि राम-नाम के पुनीत प्रसंग मे उसका उल्लेख अप्रासंगिक और भद्दा कहा जा सके। निदान कहा जा सकता है कि तुलसीदास के विचार में नारी की शोभा-वृद्धि में सहायक आभूषणो मे सर्वश्रेष्ठ स्थान कर्णभूपण का ही है। राम-नाम के प्रसंग मे, जहाँ विश्व की विभूतियो से चुन-चुन कर उपमान बटोरे गए हैं वहाँ नारी की मुखछबि और कर्णभूषण को स्थान दिया जाना ही यह खुल कर बता देता है कि सौन्दर्योपासक की मुक्त दृष्टि मे नारी की शोभा कितनी दिव्य है।

मन्दोदरी के श्रवण-तार्टक का उल्लेख सौन्दर्य-वर्णन के लक्ष्य से नही हुआ है। वे वैभव के उत्कर्ष एव सुहाग के सूचक है। इसीसे उनके भूपतित होने पर वह आशंकित हो उठती है। हिन्दू मात्र की धारणा है कि नारी की शोभा उसके सुहाग से ही पूर्ण होती है।

रूप-वर्णन मे चरण-कमल और कर-कमल का बारम्बार उल्लेख भक्त की दृष्टि से है। कर-कमलों का आशीर्वाद और चरण-कमलो की रज की कामना भक्त का सर्वस्व होती है। कर और चरण प्राय सर्वत्र कमल के रूप में ही प्रत्यक्ष हो सीता-राम की कोमलता का आभास देते रहते है। किसी सुकुमारी के करपल्लवों के लिए इससे अधिक उपयुक्त उपमान उन्हे कोई दूसरा नहीं जँचता। इसीलिए इसके साथ जब बाहुलताओं का वर्णन है तो उनकी समता मृणाल से की गई है :—

"सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम बिबस पहिराइ न जाई॥
सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला[1]॥

मर्यादावादी कवि नारी के किसी अनावृत अंग का वर्णन नही कर सकता। जयमाल प्रदान के अवसर पर बाहुलताओं के दर्शन हो गए अतः उनकी छबि अंकित कर दी गई।

किसी कामिनी के मुख की शोभा मे चिबुक के तिल की जो महिमा है उसे कवि की दृष्टि ने खूब आँका है, पर प्रस्तुत किया है उसे भी अप्रस्तुत के रूप में ही। द्रष्टव्य है कि राम की कीर्ति की महिमा का वर्णन यहाँ भी

---

१ मानस, बाल० २६८।५,७

कामिनी के अप्रस्तुत द्वारा ही किया गया है। क्या उसके लिए अन्य अप्रस्तुत कवि के भाव-मुक्ताओ मे न था ? कीर्तिकी धवलता के लिए अनेक अप्रस्तुतों का भंडार वीरगाथाओ एवं रीतिकालीन कविता मे भरा पड़ा है। परन्तु राम की कीर्ति मे धवलता के साथ जो पवित्रता, माधुर्य और रमणीयता है उसका प्रतीक महाकवि की दृष्टि मे कामिनी से बढ़कर दूसरा नहीं ठहरा। राम की कीर्ति का महिमा-गान करने के लिए तुलसीदास के द्वारा उसी अप्रस्तुत की योजना स्वाभाविक है जो उनके विचार मे सर्वश्रेष्ठ हो। विधाता की सृष्टि मे सर्वश्रेष्ठ है 'मानुसतन' और उसकी समस्त सुषमा सिमटकर नारी के रूप में आ बसी है। फिर किसी सहृदय भावुक ने कीर्ति को कामिनी के रूपमें देखा तो आश्चर्य क्या ? राम की कीर्ति कितनी उज्ज्वल, मनोहारिणी, पावन, शीतल और सुखदायिनी है इसका अनुमान कवि के निम्नांकित वर्णन से हो सकता है :—

"रघुबर कीरति-कामिनी क्यों कहै तुलसीदासु।
सरद-अकास प्रकास ससि चारु चिबुक-तिल जासु[1] ॥"

इस कीर्ति-कामिनी की भव्यता और दिव्यता निराली है। विश्व में व्याप्त इसकी शीतलता के सम्मुख हिमकर की शीतलता कुछ नहीं। यह तो केवल शरीर को सुख देती है पर कीर्ति की कौमुदी जन-जन के हृदय-मन्दिर मे प्रवेश कर 'भव ताप भयाकुल' संसार को अपनी शीतलता मे 'परम-विश्राम' प्रदान करने वाली है। जीवन-पथ के 'अति आतप व्याकुल' पथिक का परित्राण इसी की छाया में संभव है। यहाँ बतला दिया गया है कि उसकी जीवन-सहचरी का रूप-सौन्दर्य उसके जीवन-पथ में लौकिक संताप के अवसर पर जो शीतलता प्रदान करता है वह उस अनन्त शीतलता की छाया का एक बिन्दु मात्र है। रामकी कीर्ति के स्वरूप का वर्णन तो शेष-शारदा भी नहीं कर सकते, फिर कवि की सामर्थ्य ही क्या ? बस, इतना समझ लेना है कि जिस प्रकार नारी के चिबुक का तिल अपनी लघुता से भी उसके मुख-चन्द्र की प्रचुर छबि की ओर सबको आकर्षित करता है, उसी प्रकार उज्ज्वल आकाश चन्द्र की शीतल आभा राम की कीर्ति की पवित्र शीतलता का आभास देती है। इस प्रकार राम की कीर्ति का सौन्दर्य एवं माहात्म्य अत्यन्त रमणीय अप्रस्तुत द्वारा चित्रित कर दिया गया। साथ ही कवि के मानस-पटल पर

१ 'दोहा०' १११

अंकित नारी के सौन्दर्य का एक विशेष अंग भी प्रत्यक्ष हो गया। स्पष्ट है कि कवि की दृष्टि मे चिबुक का तिल नारी की मुख-कांति का वर्धक है और कर्णाभूषण से मिलकर उसकी सहज शोभा को और भी रमणीय बना देता है।

अंगो की शोभा का निखार होता है नारी के शरीर के वर्ण से। 'बरवै रामायण' मे कहा गया है :—

"चंपक हरवा अंग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुँभिलाइ[1]॥"

और

"सिय तुव अंग-रग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौ चम्पक होत[2]॥"

शरीर का चम्पक वर्ण ही कवि की दृष्टि मे सर्वाधिक सुन्दर प्रतीत होता है। श्रीराम के साथ विराजमान जानकी के चपक वर्ण की काति दर्शनीय है —

"सो राम-वाम-विभाग राजत रुचिर अति सोभा भली।
नव-नील-नीरज निकट मानहुँ कनक पंकज की कली[3]॥

यह अग्निपरीक्षा के पश्चात् की झाँकी है। तीव्रगामी पुष्पक विमान पर आकाश-मार्ग मे यही शोभा कुछ और ही रूप मे छा रही है :—

"राजत राम सहित भामिनी। मेरु शृंग जनु घनदामिनी[4]॥"

विभिन्न समारोहो के अवसर पर नगर की शोभा के साथ नारि-वृन्द की शोभा भी अंकित की गई है। रामजन्म, रामविवाह, अथवा राज्याभिषेक के समारोहो मे सारी शोभा मानों नारी समूह मे ही केन्द्रित हो जाती है। रामजन्म के अवसर पर नगर की शोभा निराली है। गुलाब और अबीर तो इतना उडा है कि दोपहर को ही सध्या का आगमन प्रतीत हो रहा है। पुरुष-वर्ग भी उत्सव मना रहा है परन्तु कवि वर्णन करता है नारी-वर्ग के शृंगार और क्रिया-कलाप की शोभा का ही :—

"बृन्द बृन्द मिलि चली लोगाई। सहज सिंगार किएँ उठि धाई।
कनक कलस मंगल भरि थारा। गावत पैठहिं भूप दुवारा॥
करि आरती नेछावरि करही। बार बार सिसु चरनन्हि परही[5]॥"

---

१. बरवै० ५। २. वही, ६।
३. 'मानस', लंका० १०८.१५, १६।
४. वही- ११८.५। ५. वही, बाल० १९८.३-५।

रामविवाह के अवसर पर यह सुषमा चारों ओर व्याप्त हो जाती है :—

"जहँ तहँ जूथ जूथ मिलि भामिनि। सजि नवसप्त सकल दुति दामिनि
बिधुबदनीं मृगसावक लोचनि। निज सरूप रति मान बिमोचनि
गावहिं मंगल मंजुल बानी। सुनि कलरव कलकंठ लजानी
भूप भवन किमि जाइ बखाना। बिस्व बिमोहन रचेउ बिताना[1] ॥

आगे चलकर परछन का दृश्य है :—

"सजि आरती अनेक बिधि मंगल सकल सँवारि।
चली मुदित परिछन करन गजगामिनि बर नारि ॥"

"बिधु बदनी सबसब मृगलोचनि। सब निज तन छबि रति मद मोचनि।
पहिरे बरन बरन बर चीरा। सकल बिभूषन सजे सरीरा ॥
सकल सुमंगल अंग बनाए। करहिं गान कलकंठ लजाए ॥
कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। चाल बिलोकि कामगज लाजहिं[2] ॥"

इन्हीं सुन्दरियों के बीच 'सुर बर बामा' भी आ मिली है और जिस चतुराई से परमानन्द लाभ कर रही है, वह भी दर्शनीय है[3] :—

"सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी ॥
कपट नारि बर बेस बनाई। मिलीं सकल रनवासहिं जाई ॥
करहिं गान कल मंगल बानी। हरष बिबस सब काहु न जानी ॥
को जान केहि आनंद बस सब ब्रह्म बरु परिछन चली।
कल गान मधुर निसान बरसहिं सुमन सुर सोभा भली।
आनंद कंद बिलोकि दूलहु सकल हिय हरषित भई।
अंभोज अंबक अंबु उमगि सु अंग पुलकावलि छई[4] ॥"

इन देवियों को आज परम धाम का सुख भी जिस सुख के आगे फीका लग रहा है, वह है :—

"लहकौरि गौरि सिखाव रामहि सीय सन सारद कहैं।
रनिबासु हास बिलास रस बस जनम को फल सब लहैं ॥

---

१. वही, ३०१.१-४। २. 'मानस', बाल० ३२२-३२२'४।

३. राम-विवाह के प्रसग में जनकपुर तथा अयोध्या में नारी-समूह के क्रिया-कलाप एव सौन्दर्य का अत्यन्त सरस वर्णन है। स्थल-संकोच से यहाँ कुछ ही उदाहरण दिए गए है।

४. वही, बाल० ३२२-८ [?]।

निज पानि मनि महुँ देखियत मूरति सुरूप निधान की।
चालति न भुजबल्लो बिलोकनि बिरह भय बस जानकी[1] ॥"

जनकपुर की सुन्दरियों के मध्य कपटवेश धारण कर मिली हुई सुरबालाओं की विलक्षण रूप-छटा के साथ जानकी की अलौकिक रूप-राशि की सम्मिलित शोभा का वर्णन कवि ने बड़े अनोखे अप्रस्तुत द्वारा किया है। यह झाँकी भी अत्यन्त मनोहारिणी है :—

"नारि बेस जे सुर बर बामा। सकल सुभाय सुन्दरी स्यामा ॥

× × ×

सीय सँवारि समाज बनाई। मुदित मण्डपहिं चली लेवाई ॥
चलि ल्याइ सीतहि सखी सादर सजि सुमंगल भामिनी।
नवसत्त साजे सुन्दरी सब मत्त कुंजरगामिनी ॥
कलगान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं कामकोकिल लाजहीं।
मंजीर नूपुर कलित कंकन ताल गति बर बाजहीं ॥
सोहति बनिता बृन्द महुँ सहज सुहावनि सीय।
छबि ललना गन मध्य जनु सुखमा सिय कमनीय[2] ॥"

इस प्रकार नारी-वृंद के श्रृंगार तथा उनके कलकण्ठ-गान एवं उनकी मनोहर गति का वर्णन बराबर है। वस्त्राभूषणों की चमक-दमक नारी-मण्डल की शोभा-वृद्धि करती है और सुन्दरी नारी कविको श्रृंगार-विहीन भली नहीं जँचती, इसी से उनका वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह कि क्या व्यक्ति और क्या समूह दोनों ही रूपों में नारी-सौन्दर्य की कवि ने उपेक्षा नहीं की। इन उत्सवों में पुरुष-मण्डल के क्रिया-कलाप का ब्योरा नहीं है। कारण प्रत्यक्ष है कि कवि को समारोहों की शोभा नारी-वर्ग में ही खिलती दिखाई देती हैं।

ऊपर नारी-समूह की मन्थर गति का चित्रण है। इसके कारण उन्हें गजगामिनी कहा गया है। कवि ने नारी-सौन्दर्य का सूक्ष्म निरीक्षण किया है, इसमें सन्देह नहीं। उसी नारी-मण्डल की द्रुत-गति की शोभा भी देखने योग्य है। बरात के स्वागत की तैयारी में नगर का उत्साह उमड़ उठा है। नारी-वृन्द की शोभा से नगर की शोभा किस प्रकार चमक उठती है, यही यहाँ देखना है :—

---

१. 'मानस', बाल० ३३१'१७-२०।
२. वही, ३२६.५ ३२७।

"धूप धूम नभ मेचक भयऊ। सावन घन घमण्ड जनु ठयऊ॥
सुरतरु सुमन माल सुर बरषहिं। मनहु बलाक अवलि मनु करषहिं॥
मंजुल मनिमय बंदनवारे। मनहुँ पाकरिपु चाप सँवारे॥
प्रगटहिं दुरहिं अटन्हि पर भामिनि। चारु चपल जनु दमकहिं दामिनि[1]॥"

वर्षा ऋतु की जो सुषमा नगर पर छा रही है उसमें नारी-मण्डल की शोभा विद्युच्छटा-सी चकाचौंध उत्पन्न कर देने वाली है। उनकी चहल-पहल, उनका बार-बार अटारी पर चढ़कर प्रकट होना और फिर दृष्टि से ओझल हो जाना ही यह अनोखा दृश्य उपस्थित कर रहा है। राम के अयोध्या-प्रत्यागमन के अवसर पर यह शोभा अटारियों पर ही नहीं सारे नगर पर लहराने लगती है। नारी ही नारी चारों ओर छाई हुई प्रतीत होने लगती है :—

"राकाससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान।
बढ्यो कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान[2]॥"

'नारि तरंग' की शोभा की यह महिमा निम्नांकित उक्तियों के प्रकाश में अधिक खिलेगी :—

"गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न॥"

और—

"उपमा बीचि बिलास मनोरम[3]॥"

तात्पर्य यह कि जल और लहर अभिन्न हैं तथा लहर ही जल की शोभा है। स्पष्ट है कि नगर की शोभा तरंगित हो रही है नारी के समूह में ही। अप्रस्तुत-विधान किस प्रकार वर्ण्य-विषय को चमका देता है—इसका प्रमाण तुलसीदास का काव्य है। उपमा और उपमा-मूलक अलंकारों से उनकी कविता-कामिनी विभूषित है और है सर्वत्र मर्यादा का परिधान पहने हुए। उसके बिना उसकी सारी शोभा ही व्यर्थ है :—

"राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मदमोहा॥
बसनहीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी[4]॥"

और :—

"बिधु-बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी[5]॥"

१. 'मानस', बाल० ३५१.१-४।
२. वही, उत्तर० ३।
३. वही, बाल० ३१.३।
४ वही सुन्दर० २०.३ ४
५. वही, बाल० १४४।

में यह भलीभाँति स्पष्ट कर दिया गया है कि कवि के मतानुसार मर्यादा-विहीन सौन्दर्य का कोई मूल्य नही। सुजन-समाज मे उसका कोई आदर नहीं और मानव-जीवन के उत्कर्ष-साधन में उसका कोई योग नही हो सकता। मर्यादा के भीतर नारी का सौन्दर्य जीवन को जिस आह्लाद से पूर्ण करता और दृष्टि को जिस प्रकार पावन करता है उसका प्रमाण इस प्रसंग में उद्धृत अवतरणो से मिल जाता है। मानव-जीवन का जीवन है नारी, और उसकी शोभा जीवन की शोभा है। उसका आतरिक सौन्दर्य जीवन के अन्धकार मे विद्युच्छटा की भाँति आलोक प्रदान करने वाला और उसका शील वह सागर है जिसकी कोई थाह नही। उसका आध्यात्मिक रूप मानव के परमार्थ-साधन का मूल आधार है। सच्चा सौन्दर्य क्या है, और मानव उसे कैसे प्राप्त कर सकता है, यह तुलसीदास ने रामचरित मे प्रत्यक्ष कर दिया है। नारी-सौन्दर्य को रूप-लोलुप की दृष्टि से अंकित करने वालों की श्रेणी में उनकी गणना कोई भी विचारशील सहृदय नहीं कर सकता।

वस्त्रो के अतिरिक्त नारी के सहज-सौन्दर्य के अभिवृद्धि-कारक है आभूषण, शृंगार और नारी-सुलभ हाव-भाव, चेष्टाएँ एवं मुद्राएँ आदि। नारी-समूह के शृंगार का उल्लेख हो चुका। आभूषणों का विस्तृत ब्योरा नही है। मुँदरी और चूडामणि का तो महत्त्व ही दूसरा है। कर्णभूषण की चर्चा भी हो चुकी। अरण्यकाण्ड मे जहाँ राम सीता को पुष्पाभूषणों से सुसज्जित करते है उसमें भी उनका कोई ब्योरा नहीं है। इतना ही कहा गया है :—

"एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निज कर भूषन राम बनाए।
सीतहि पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर[1]।"

आभूषण शोभा के साथ-साथ मागलिक भी है इसीसे विशेष अवसरो पर उन्हे धारण किया जाता है। रामराज्याभिषेक के अवसर पर :—

"सासुन्ह सादर जानकिहि मज्जनु तुरत कराइ।
दिव्य बसन बर भूषन अँग अँग सजे बनाइ[2]॥"

कुछ आभूषण ऐसे भी हैं जो नारी के समक्ष न होने पर भी उसके सौन्दर्य और प्रभाव की लुभावनी सूचना दिया करते हैं :—

---

१. 'मानस', अरण्य०, १.३-४।
२. वही उत्तर० ११

"कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि । कहत लपन सन रामु हृदय गुनि ॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही । मनसा बिस्व विजय कहँ कीन्ही[१] ॥"

नारी के सहज सौन्दर्य और आभूषणो के परस्पर संबंध की कवि की धारणा भी मनन करने योग्य है :—

"मनि मानिक मुकुता छवि जैसी । अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई । लहहिं सकल सोभा अधिकाई[२] ॥"

रत्न की शोभा आभूषण मे प्रकट होती है पर खिलती है तरुणी के तन को पाकर ही । इसी से दोनों का संबंध स्पष्ट है । 'गीतावली' मे राघवेन्द्र के यहाँ हिंडोलने पर झूलती हुई सखियों के हिलते-डुलते आभूषण उनके केशपाशो में उलझते हुए उनके मुख-चन्द्र की शोभा के साथ बड़े अद्भुत सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं :—

"झूलहि झुलावहिं ओसरिन्ह गावै सुगौड़-मलार ।
मजीर-नूपुर-बलय-धुनि जनु काम-करतल तार ॥
अति मुचत स्रमकन मुखनि बिथुरे चिकुर बिलुलित हार ।
तम तड़ित उडुगन अरुन बिधु जनु करत व्योम विहार[३] ॥"

शृंगाररस के अन्तर्गत परिगणित हाव-भाव और चेष्टाओ का विस्तृत चित्रण अन्य कवियों की भाँति तुलसीदास मे नही है । प्रसंगवश यत्र-तत्र वह अपने आकर्षक रूप मे स्वय आ गया है । इनका रमणीय रूप सौन्दर्य-प्रेमी बिहारी के यहाँ खूब खिला है । वहाँ मुद्राओं और चेष्टाओ के साथ हाव भाव की अनुपम झाँकी दर्शक की दृष्टि को उलझा देती है पर तुलसीदास ने नारी को माया का ही रूप समझा है और उसके दोनो पक्षो के स्वरूप का चित्रण किया है । उन्होंने जहाँ उसके रूप-जाल के विनाशकारी प्रभाव से बचने के लिए चेतावनी दी है वहीं उसके सौन्दर्य की दिव्यता को भी अंकित किया है ।

इस संबध में 'भगति सुतिय कल करन विभूपन' की चर्चा हो चुकी है । तुलसीदास के विचार मे नारी का सौन्दर्य किस कोटि की वस्तु है, यह तब स्पष्ट हो जाता है जब वे रामचरित का गान करते हुए संतमंडली में पहुँचते

---

१ 'मानस', बाल० २३४.१,२ ।
२ वही १५ १ २ ।
३ 'गीतावली', उत्तर० १८ १८ २१

है। उसके मध्य रामचरित को शोभा देख उसके समकक्ष जिस वस्तु का स्मरण उन्हे हो आता है वह है नारी का सुभग शृंगार। अतः वे गा उठते हैं :—

"रामचरित चितामनि चारू। संत सुमति तिय सुभग सिंगारू[1] ॥"

नारी-सौन्दर्य की दिव्यता को सीमा यही तक नही है। तुलसीदास की दृष्टि मे उसका प्रसार कहाँ तक है इसे देखने के पहले यह जान लेना उचित होगा कि उनके सीता-राम का सौन्दर्य किस प्रकार विश्व की सुषमा का सार है। राम-विवाह के अवसर पर कोई सखी दूसरी से कह रही है :—

"सुषमा सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमिय मय कियो है दही, री ॥
मथि माखन सिय राम सँवारे, सकल भुवन-छबि मनहुँ मही, री ॥
तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही, री ॥
रूप-रासि बिरची बिरचि मनो, सिला लवनि रति-काम लही री[2] ॥"

इन्ही 'रूप रासि' राम की मुख-छवि के दिव्य दर्शन का आग्रह है :—

"देखौ राघव वदन बिराजत चारु।
जात न बरनि बिलोकत ही सुख, मुख किधौ छबि बर नारि सिगारु ॥
× × × ×
निगम सेष सादर सुक संकर बरनत रूप न पावत पारु।
तुलसिदास कहै कहौ धौ कौन बिधि अति लघुमति जड़ कूर गँवारु[1] ॥"

शेष, शारदा, शुक और शंकर भी जिसका पार नही पाते ऐसे रूप के वर्णन में यहाँ कवि ने केवल एक ही अप्रस्तुत की योजना की है और वह है "छबि बर नारि सिंगारु"। अन्य कोई अप्रस्तुत उसे इस सौन्दर्य के उपयुक्त नही जँचा। नारी का शृंगार उसकी शोभा का वर्धक होता है। अतः छवि रूपी नारी के शृंगार की शोभा का अनुमान किया जा सकता है। 'छबि बर नारि सिंगारु' का अर्थ 'श्रेष्ठ नारी के शृङ्गार की छबि' भी किया जा सकता है। जो हो, राम के मुख-सौन्दर्य-वर्णन में नारी के शृंगार के उल्लेख का कारण कवि की नारी-रूप-लोलुपता नहीं, उसकी नारी-सौन्दर्य की दिव्यता की भावना ही है। राम के रूप का चित्रण तुलसीदास ने कही भी केवल स्थूल

---

१. 'मानस', बाल० ३६.१।
२. 'गीता०', बाल० १०४।
३ वही, उत्तर० १०।

भौतिक सौन्दर्य के रूप में नहीं किया है। अतः विचारणीय है कि उनको मुख-छबि के लिए नारी का विशेष रूप उन्हें क्यों भाया है ? राम के दिव्य रूप में भी नारी की शोभा के दर्शन होना यही बताता है कि उन्हें नारी के दिव्य रूप के दर्शन ही इष्ट हैं। विधाता की अनुपम सृष्टि नारी की सुषमा यदि विश्व-सौन्दर्य की मूल, राम की छबि का स्मरण दिलाती हैं तो इसमें आश्चर्य क्या ? नारी का दिव्य रूप यदि यह स्मरण दिलाता रहे कि ऐसा ही राम का मुख है तो इस भावना से नारी के रूप से उस प्रकाश की प्राप्ति अवश्य संभव है जिसमे जड़-चेतन की ग्रंथि खुलती है। निदान, तुलसीदास के काव्य की परख के लिए उन्ही की आँख से देखना उचित है। 'मानस' मे उसके प्रतिपाद्य विषय का परिचय इस प्रकार दिया गया है :—

"जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना[1] ॥"

जिन राम के स्वरूप का प्रतिपादन 'मानस' में किया गया है उन्ही घट-घट वासी की जब कृपा होगी और :—

"सोइ जानहि जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई[2] ॥"

के परिणामस्वरूप जगत् सीयराममय प्रतीत होने लगेगा तभी नारी के श्रृंगार युक्त दिव्य रूप में राम की मुख-छबि के दर्शन होंगे और राम का मुख नारी के श्रृंगार तुल्य रमणीय प्रतीत होगा। अतः नारी का सौन्दर्य राम से मिलने वाला होगा, उनसे विमुख करनेवाला नही।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने नारी-शोभा का वर्णन केवल नारी-सौन्दर्य-निरीक्षण का कौशल प्रदर्शित करने के लिए नही किया। वास्तव में नारी का सौन्दर्य क्या है, और लोक एवं परलोक-साधन मे उसका क्या स्थान है, यह दिखाना उनका लक्ष्य है। स्वाभाविक है कि जो रूप कभी उनके मानस-पटल पर अपना प्रभाव छोड़ गये, वे ही अब उभर कर अपने उदात्त-रूप में प्रत्यक्ष हो गये है। इसीसे उनके काव्य में अंग-प्रत्यङ्ग की शोभा की छान-बीन नहीं है। कुलागना के विशेष अंगों की छबि यथास्थान अंकित हो गई है तथा अन्य प्रसंगों में अप्रस्तुत के रूप में भी उतर आई है। साथ ही नारी-मंडल के सामूहिक सौन्दर्य के चित्र भी निखर उठे हैं। कवि का सदेश अपने मन और उसके द्वारा मानव-मन से यही है कि 'छबि-निधि'

---

१ 'मानस', उत्तर० दो० ६।

२ वही, अयो० १२६. २

'आदिशक्ति' ही नारी रूप में प्रकट हो रही है, फिर इसमे संदेह क्यों हो कि उसी विश्वमोहिनी की शोभा का सार नारी के रूप में ही केन्द्रित है और उसकी लीला की शोभा भी उसी में समाई हुई है। यदि उसकी लीला में भाग लेना है तो सौन्दर्य के सच्चे महत्त्व को समझ कर अपना जीवन भी सुन्दर बना लो, अन्यथा भ्रम मे पड़े भटकते रहोगे। उस सौन्दर्य के प्रकाश से कैसे लाभ उठा सकते हो, यह सीखना है तो उनका जीवन देखो जिनकी शक्ति की छबि के लिए :—

"सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छबि गृह दीपसिखा जनु बरई[1]॥"

कहा गया है। उसी आदिशक्ति के सौन्दर्य की दीप्ति से विश्व की समस्त सुन्दरता—फलतः नारी की सुन्दरता भी—देदीप्यमान हो रही है। देखो, राम ने इस दीपशिखा से अपना कैसा सम्बन्ध रखा और उनका जीवन क्या बना। यदि तुम्हे अपना जीवन राममय बनाना है तो उनका अनुसरण करो। नर को यही सिखाने के लिए उन्होंने मनुज शरीर धारण किया और अपनी नर-लीला में 'महाबिरही अतिकामी' का भी अभिनय कर दिखाया है। इसलिए नहीं कि मानव भी अपनी लौकिक लीला मे उसी को अपनाए। नही, इसलिए कि वह उससे वही पाठ पढ़े जो वे उसके द्वारा मानव मात्र को पढ़ाना चाहते हैं। उनका यह रूप स्पष्ट करने के लिए ही कहा गया है —

"कामिन्ह कै दीनता देखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढाई[2]॥"

उसी प्रसंग में जो उपदेश उन्होंने नारद को दिया है उसका लक्ष्य नारी-निन्दा नहीं, यह समझना है कि कोरी कामदृष्टि का विषय बनाए जाने पर नारी कभी कल्याणी नही बन सकती। हाँ, काममद को उत्तेजित कर पतन के गर्त में अवश्य ढकेल सकती है।

नारद ने विश्वमोहिनी का रूप केवल कामदृष्टि से ही देखा था। इसीलिए प्रभु की परिणीता के रूप मे उसे देखने पर भी वे विवेक खोकर क्रोधाभिभूत हो उठे थे। राम और नारद के दृष्टिभेद को विवेकदृष्टि सम्पन्न मनीषी ने परखा और चट प्रभु की लीला का रहस्य हृदयंगम करके अपने मन को सचेत किया :—

---

१. 'मानस', बाल० २३४.७।

२. वही, अरण्य० ३२.२।

"दीपसिखा सम जुबति तनु मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सत संग[1]॥"

रे मन ! देख, नारी का सौन्दर्य क्या है। इसे दीपशिखा समझ। संतों का सत्संग सदैव करता रह, क्योंकि संतो ने इसके रहस्य को समझा है और उन्हें समझाया है स्वयं रामने, अपने चरित के द्वारा। अतः उनका सत्संग करने से समझ बनी रहेगी। रामभजन के फलस्वरूप काममद का त्याग होगा। तभी इस दीपशिखा से प्रकाश ग्रहण कर सकेगा। अन्यथा पतंगा बनना तो तेरा सहज स्वभाव है। नारी के लुभावने बाह्य रूप का पतंगा मत बन। उससे प्रकाश लेकर अन्धकार को दूर कर और अपनी ज्योति को परम ज्योति में मिला ले।

गोस्वामी जी की यह सौन्दर्य-दृष्टि हिन्दी साहित्य को उनकी बहुत बडी देन है। कृष्णभक्त कवियों ने शृंगार को राधाकृष्ण के प्रेम-सागर में निमज्जित करा के पावन कर दिया और राधा के सौन्दर्य का विस्तृत वर्णन कर नारी-सौन्दर्य का पवित्र रूप दर्शा दिया परन्तु उसका दूसरा पक्ष उनकी दृष्टि से ओझल रह गया। परिणामस्वरूप रीतिकाल के काव्य में नायिका का सामान्य नाम राधा हो गया और राधा के नाम से जो शृंगारिक कविता की गई उसका प्रभाव लोक-जीवन पर अहितकर ही पड़ा। भक्ति के क्षेत्र में वह शृंगार दिव्य रहा पर शृंगारी कविता के रूप में वह घोर अश्लीलता का पोषक बना। लोक-द्रष्टा तुलसीदास ने इसे अपनी दिव्य-दृष्टि से देखा। उन्होने 'माया रूपी नारि' का स्वरूप अपने काव्य में प्रत्यक्ष कर उसके दोनों रूपों को स्पष्ट करके यह दिखा दिया कि किसकी क्या शक्ति है, और यदि राम को पाना है तो किसका किस रूप मे अवलम्बन लेना चाहिए। इसीलिए उन्होंने शृंगाररस का अधिक विस्तार नहीं किया। 'श्रीकृष्णगीतावली' मे भी शृंगार-रस का वह स्वरूप नही जो कृष्ण-काव्य मे पाया जाता है। रामचरित में तो वह सर्वत्र ही गूढ, गम्भीर तथा मर्यादित है और बड़े से बड़े कामी को भी अपनी पावनता का दर्शन करा देता है। शृंगार-रस के सभी अंग वहाँ है। क्या अनुभाव, क्या विभाव, क्या संचारी, सभी अपने सरस रूप में वर्तमान है, पर है सर्वत्र मर्यादा के भीतर ही।

---

१ 'मानस' अरण्य० ४०।

तुलसीदास की दृष्टि शृंगारी कवियों से नितान्त भिन्न है। जहाँ अन्य कवियों की कविता में नारी का सौन्दर्य लौकिक जीवन तक ही सीमित रहा है—उसके निम्नतम से उच्चतम रूप तक ही सही—वही गोस्वामी जी के काव्य में वह लोक से ऊपर उठकर अलौकिक की ओर ले जाने वाला और परमार्थ का साधक सिद्ध हुआ है। यदि रीतिकाल के कवियों ने शृंगार को 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो' ही न बनाया होता और गोस्वामी तुलसीदास का अनुसरण किया होता तो पता नहीं उसका रूप क्या से क्या हो गया होता। जो हो, यह डंके की चोट कहा जा सकता है कि तुलसीदास की यह देन अद्वितीय है।

अध्याय ९

नारी-निन्दा

गोस्वामी तुलसीदास के काव्य के विवेचन के प्रसंग में नारी का प्रकरण आते ही उसके अन्य पक्षों को किनारे कर उनकी नारी-निन्दा का ही विचार होने लगता है। आलोचकों ने किसी न किसी रूप में नारी-निन्दा के आक्षेप उन पर बराबर किए है। सच पूछिए तो इसी प्रश्न में उलझे रहने के कारण नारी के अन्य पक्षों पर विचार करने का अवसर लोगों को नहीं मिला है। कुछ सज्जन निस्संकोच रूप से उन्हें नारी-निन्दक ठहराते हैं तो अन्य इसके लिए पर्याप्त तर्क एकत्र कर उक्त दोष के निवारण का प्रयत्न करते है। यहाँ किसी के विचारो का खंडन-मंडन न करके अपनी स्वतन्त्र दृष्टि से ही इस प्रश्न पर विचार करना समीचीन होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि 'राम-चरित-मानस' में कतिपय उक्तियाँ ऐसी प्राप्त होती है जिनमें नारी से बचने का उपदेश दिया गया है अथवा जहाँ नारी के कतिपय दोष दिखलाई पड़ते है। पहले कहा जा चुका है कि संत-साहित्य में नारी-निन्दा प्रचुर परिमाण मे पाई जाती है। वहाँ कंचन और कामिनी ही पुरुष के सबसे बड़े शत्रु ठहराए गए है और सर्वत्र उनसे बचने का उपदेश दिया गया है। गोस्वामी जी उस संत-परंपरा में नहीं आते, फिर भी उनके संत होने मे कोई सन्देह नही। उक्त संतों एवं तुलसीदास की भावना में कुछ मौलिक अंतर अवश्य है जिसे समझने की नितान्त आवश्यकता है।

सैद्धांतिक पक्ष है कि संतमत निर्गुण-भक्ति लेकर चला और तुलसीदास ने सगुण-भक्ति का प्रतिपादन किया। संतों ने अपने 'निर्गुन राम' को 'खलक'

में व्याप्त तो कहा पर खलक के किसी रूप में उसकी प्रतिमा मानकर उसकी पूजा करना उचित नहीं समझा और मूर्ति-पूजा का डट कर खंडन किया। निर्गुण मत 'निर्गुन राम' को परम प्रियतम मान उनके वियोग में तड़पता रहा और माया को 'महाठगिनि' कहकर उससे बचने का उपदेश देता रहा। इसके विपरीत तुलसीदास ने निर्गुण, सगुण और दाशरथि राम की एकता दिखाकर माया को उसकी अभिन्न शक्ति और भक्तों का भार हरण करने के लिए श्रीराम के साथ सीता-रूप में अवतरित भी माना। उन्होंने माया को केवल 'महाठगिनि' के रूप में हेय और त्याज्य नहीं ठहराया। वह आदि-शक्ति के रूप में वन्दनीय मानी गई एवं उसके दो रूपों की स्थापना की गई और एक को पहचान उसके कुप्रभाव से बचकर दूसरे की शरण लेकर राम की प्राप्ति का मार्ग प्रदर्शित किया गया। तुलसीदास का राम भी संतों के 'निर्गुन-राम' की भाँति घट-घट वासी था। अन्तर इतना ही था कि वह हर घट मे प्रत्यक्ष हो सकता था। उसे ढूँढने के लिए किसी गुप्त और दुष्प्राप्य 'शून्य-महल' में जाने की आवश्यकता नहीं थी। उनके यहाँ सगुण से आगे बढ़कर निर्गुण का बोध और फलस्वरूप सारे जगत् को 'सीय-राममय' प्रतीति भक्ति का चरम सोपान मानी गई और गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न' की स्थापना राम-चरित में की गई। अतः माया की सर्वथा अवहेलना करनेवाले और उसे पराजित कर राम को पाने वाले संतों के मार्ग से यह मार्ग भिन्न हुआ। यहाँ माया के वास्तविक स्वरूप को पहचान उसकी अभ्यर्थना कर, उसके कृपा रूप के सहारे, उसी से उत्पन्न चराचर मे प्रभु का साक्षात्कार करना ही सच्ची भक्ति कहलाया। इस प्रकार संतों की भाँति तुलसीदास ने माया को केवल निन्दनीय नहीं, वन्दनीय भी माना। उन्होंने माया, भक्ति, कृपा और नारी की अभिन्नता स्वीकार की। इस स्थिति मे नारी-निन्दा करने की इच्छा उनके मन मे क्योंकर जागरित हो सकती है? इसलिए उनकी नारी-निन्दापरक उक्तियों के मूल में पैठकर उनका रहस्य समझना उचित है।

विचारणीय है कि तुलसीदास ने नारी-पात्रों का स्वरूप उनके परम्परा प्राप्त रूप से अधिक उन्नत और उदात्त चित्रित किया है। फिर उनका नारीनिन्दक होना किस प्रकार सभव माना जाए? किसी की निन्दा करनेवाला व्यक्ति उसमें प्राप्त प्रशंसनीय गुणों की उपेक्षा करता है। यह मानव स्वभाव है। गोस्वामी जी के विचारों में अन्यत्र कहीं इस प्रकार का विरोध नहीं है फिर इसी क्षेत्र में हम उन्हें परस्पर विरोधी विचारों का समर्थक क्यों कहे? इसका

समाधान तभी हो सकता है जब हम उनकी तथाकथित नारी-निन्दा के प्रसंगों पर विवेकपूर्ण और निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने का प्रयत्न करें। प्रसंग, प्रकरण, पात्र तथा प्रयोजन सभी दृष्टियों से विचार करने पर यह उलझन स्वयमेव सुलझ जाएगी और ज्ञात होगा कि वे कहाँ तक नारी के निन्दक किंवा प्रशंसक है।

तुलसीदास लोकद्रष्टा, मनीषी, संतशिरोमणि, समाज-सुधारक एवं लोक-हितकारी 'राम-चरित-मानस' का गान करने वाले महाकवि के रूप में समादृत हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें समाज के प्रधान अंग ही नहीं, पुरुष की धात्री और जीवन-सहचरी नारी की डटकर निंदा करनेवाला मानना कहाँ तक बुद्धि-संगत होगा? ऐसी नारी को हेय ठहराकर समाज के हितैषी तुलसीदास पुरुष वर्ग के कल्याणार्थ प्रयत्नशील है, इसका समर्थन किस प्रकार किया जा सकता है? कुछ सज्जन उनके ऊपर लगाये गये इस लांछन के प्रक्षालन का प्रयत्न करते है। वे तरह-तरह से उनकी वकालत करते हैं कि सभी देशो में अनेक संतो द्वारा नारी-निन्दा की गई है; फिर संत और विरक्त होने के नाते यदि तुलसीदास ने नारी-निंदा कर दी तो उन्हें ही क्यों इसका दोषी ठहराया जाए? विरक्तों की दृष्टि में तो नारी हेय है और उसका परित्याग उचित ही है। गोस्वामी जी को इस दोष से मुक्ति दिलाने की धुन में वे यह भूल जाते है कि उन्होंने अपने काव्य की रचना केवल संतो के लिए नहीं, गृहस्थों के लिए, आबालवृद्ध, नर-नारी समाज के लिए की है और देश-काल की सीमा से मुक्त एक सार्वभौम काव्य के रूप मे की है। ऐसी रचना मे नारी-निन्दा करके नारी की तुच्छता और हेयता प्रमाणित करने की क्या आवश्यकता थी, इसका भी तो कुछ समाधान होना चाहिए। अन्य सज्जन विभिन्न देशों और विभिन्न भाषाओं के कवियों, साहित्यिकों एवं विचारको के तथा हमारे प्राचीन-साहित्य, नीति-ग्रंथ एव धर्म ग्रंथों से उदाहरण एकत्र कर उनकी तुलना में तुलसीदास की उक्तियों को कम कटु ठहराने का प्रयत्न करते है। इससे भी उलझन सुलझती नही दिखाई देती। अत: प्रस्तुत प्रबन्ध मे उनकी आध्यात्मिक दृष्टि एवं महाकाव्य में नारी-चित्रण की दृष्टि को ध्यान मे रखते हुए यथाशक्ति निष्पक्ष निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया गया है।

इस प्रयास मे स्थल-संकोच के कारण उनके सम्पूर्ण काव्य एवं तत्संबंधी प्रत्येक शब्द पर विचार करना न तो संभव और न आवश्यक ही है। यहाँ

'मानस' को उन कतिपय उक्तियों पर ही विचार करना उचित होगा जिन्हे नारी-निन्दा करने के लक्ष्य से ही प्रणीत माना जाता है।

'मानस' के प्रारंभ में भगवान् शंकर की अर्द्धांगिनी सती के प्रसंग में कुछ वाक्य ऐसे प्राप्त होते हैं जिनमे नारी-निन्दा देखी जाती है। सती के मन में राम-रूप मे संशय होने पर शंकर भगवान् ने उसे भाँप लिया और उन्हें सचेत किया[1] :—

"सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ[2] ॥"

परन्तु :—

"लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु।
बोले बिहंसि महेस हरि माया बलु जानि जिय॥
जौ तुम्हरे मन अति सदेहू। तौ किन जाइ परीक्षा लेहू[3] ॥"

सती ने सीता का वेश धारण कर परीक्षा लेनी चाही। उस अवसर का वर्णन करते हुए कवि कहता है :—

"सुमिरत जाहि मिटै अग्याना। सोइ सरबग्य रामु भगवाना॥
सती कीन्ह चह तहँहु दुराऊ। देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ[4] ॥"

परीक्षा ले ली गई। शंकर के पूछने पर सती भयवश झूठ बोलीं। शकर जान गए। प्रण किया। आकाश वाणी हुई। तब सती की समझ मे अपनी भयंकर भूलें आईं। वे मन ही मन विचार करने लगीं :—

"सतीं हृदय अनुमान किय सबु जानेउ सरबग्य।
कीन्ह कपटु मैं संभु सन नारि सहज जड़ अग्य[5] ॥"

यहाँ 'नारि सुभाव' के सबंध मे जो सकेत है वह लोगो को अनुचित जान पडता और 'नारि सहज जड अग्य' तो नारी की सहज जडता और मूर्खता का प्रमाण-पत्र ही मान लिया जाता है।

---

१. इस पर विचार करने के लिए सती के सम्पूर्ण प्रसग को ध्यानपूर्वक देखने की आवश्यकता है। देखिए 'मानस' बाल० ५२-६२।

२. वही, ५५·६।

३. वही, ५६, ५६·१।

४. वही, ५७·४-६।

५. वही, ६२।

संपूर्ण प्रसंग पर विचार करने से कहीं दोष नहीं दिखलाई पड़ता। पहली बात यह कि सती का आख्यान परंपरा-प्राप्त है, तुलसीदास की निजी कल्पना नहीं। अब यह देखना चाहिए कि इसका सदुपयोग वे कोरी नारी-निन्दा के लिए ही कर रहे हैं अथवा इसके द्वारा वे कुछ और प्रतिपादन करना चाहते तथा कोई विशेष संदेश देना चाहते हैं?

समाधान के लिए सती के मन में उठने वाले विचारों की प्रक्रिया ध्यान से देखनी चाहिए। वे सोच में पड़ी हैं कि :—

"संकर जगत बंद्य जगदीसा, सुर नर मुनि सब नावत सीसा[1]।"

और—

"संभु गिरा पुनि मृषा न होई[2]॥"

निश्चय है कि सर्वज्ञ शंकर की वाणी मिथ्या नहीं हो सकती। उधर विरहाकुल राम का रूप मनुष्य का ही दिखाई पड़ता है, ब्रह्म का नहीं। इस दुविधा में उनका संशय दूर नहीं होता। यही भाँप कर सर्वज्ञ शंकर कहते हैं कि तुम्हारी नारी-प्रकृति है। संशय त्याग दो, अन्यथा आगे संकट आने पर क्या करोगी? स्त्री सभी संकटों का सामना अपनी सहज भीरुता के कारण नहीं कर सकती। उनका संकेत यही है। 'हरि माया बल'[3] का अनुमान करके ही त्रिकालज्ञ शिव ऐसा कह रहे हैं। हुआ भी यही। नारिस्वभाव-सुलभ भीरुता के कारण सती राम का स्वरूप देखकर भयभीत हुईं और भयवश उन्होंने पति से दुराव किया। स्पष्ट है कि यह कपट उस भीरुता का परिणाम है, जो पुरुष की अपेक्षा स्त्री में अधिक होती है। शंकर जी को ज्ञात है कि राम के स्वरूप के दर्शन कर सती आतंकित हो भयभीत हो जाएँगी। इसी से उन्होंने 'नारि सुभाउ' का उल्लेख किया है। भयवश दुराव करना पुरुष के लिए भी संभव है। अतः यहाँ कवि द्वारा मानव-स्वभाव का चित्रण है न कि नारी-निन्दा का प्रयत्न। अब रही उसकी सहज जड़ता। परीक्षा हो जाने के पश्चात् शंभु के पूछने पर सती ने भयवश उनसे यह मिथ्या भाषण किया :—

"कछु न परीक्षा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं[4]॥"

---

१. 'मानस', बाल० ५४.६।
२. वही, ५५.३।
३. "बोले बिहँसि महेसु हरि माया बलु जानि जिय।"
—बाल० ५६।
४. वही, ६०.२।

शंकर ने सब कुछ समझ कर मन ही मन प्रण किया। देवताओ के प्रशंसा करने पर सती ने पूछा। शंकर मौन रहे। तब सती की समझ मे अपनी भयकर भूल आ गई। अब सिवा पश्चात्ताप और ग्लानि के क्या शेष रहा? भीषण आत्मग्लानिवश वे अपने दोषों पर मन ही मन पछताने लगीं :—

"सती हृदय अनुमान किय सबु जानेउ सरबग्य।
कीन्ह कपटु मै संभु सन नारि सहज जड़ अग्य[1]॥"

और कवि की उक्ति हुई :—

"जलु पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति की रीति भलि।
बिलग होइ रसु जाइ कपटु खटाई परत पुनि[2]॥"

सती को ग्लानि यही है कि मैने यह कपट क्यों किया? अब दूध-पानी की पुन. अभिन्नता असंभव हो गई। स्पष्ट है कि यदि सती स्वभावतः कपटी होतीं तो उन्हे पश्चात्ताप नहीं होता। शंकर की सर्वज्ञता का बोध होते हुए और राम के परम रूप का साक्षात्कार हो चुकने पर भी असत्य भाषण करना जडता अवश्य है। परन्तु सती की बुद्धि मायावश भ्रमित हो रही है। उसे न समझ सकने के कारण ही वे इस जड़ता को अपने स्वभाव का दोष समझ कर स्वय को ही धिक्कार रही है। जिस रूप में यह प्रसंग प्रस्तुत किया गया है उस पर विचार करने से सती का स्वरूप स्पष्ट हो जाता और इस जड़ता का रहस्योद्घाटन भी हो जाता है।

प्रसग के प्रारंभ मे ही कवि पाठक को सचेत करता है :—

"अति विचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान।
जे मतिमंद बिमोह बस हृदय धरहि कछु आन[3]॥"

परम सुजान ही राम का चरित समझ सकते है। सती की दशा विचित्र है। उनके स्वयं अनुमान लगाने की बात नही थी। परम सुजान भगवान् शंकर के बोध कराने पर भी उन्हे बोध न हुआ। इसे सती की त्रुटि कहे अथवा भगवान् शकर की, कि जगद्गुरु होकर अपनी पत्नी का ही समाधान न कर सके। शंकर जी की असमर्थता का कारण कवि ने प्रत्यक्ष कर दिया :—

"बोले बिहँसि महेसु हरि माया बलु जानि जिय[4]।"

---

१. 'मानस', बाल० ६२। २ वही।
३. वही, ५४।
४ वही, ५६।

सती का मोह देखकर वे विचार करते हैं :—

"मोरेहु कहें न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥
होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा[१]॥"

इसे राम-माया की लीला समझ कर ही वे सब कुछ राम की इच्छा पर छोड़ अपने इष्ट राम-नाम का आश्रय लेते हैं :—

"अस कहि लगे जपन हरि नामा[२]।"

उधर, सती का कपट वेश देख कर :—

"निज माया बलु हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदुबानी[३]॥"

इस अवसर पर मायापति राम अपनी माया के बल की स्वयं प्रशंसा करते हैं। क्योंकि आज राम-रहस्य के परम ज्ञाता भगवान् शंकर ही की अर्द्धांगिनी स्वयं उनके द्वारा बोध कराए जाने पर भी इस माया के पाश से नहीं बच सकीं। उसके एक सेनानी मोह ने ही यह करतब कर दिखाया। अंत में सती के मिथ्या भाषण करने पर राम-माया की प्रभुता को समझ कर भगवान् शंकर भी मन-ही-मन उसकी सराहना करते हैं :—

"बहुरि राम मायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा॥
हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय सराहत संभु सुजाना[४]॥"

इस प्रकार इस प्रसंग का अध्यात्मपक्ष प्रत्यक्ष हो गया। 'मानस' का प्रतिपाद्य है राम का स्वरूप-निरूपण। अतः राम की माया का स्वरूप-दर्शन भी आवश्यक है। ब्रह्म के राम रूप धारण करने पर ही आदिशक्ति सीता के रूप में अवतरित होती है। सृष्टि की लीला में आदि से अन्त तक माया ही विविध रूपों में क्रियाशील होती है। वह स्त्री-तत्त्व के रूप में सर्वत्र व्याप्त हो, विद्या रूप में राम के सम्मुख और अविद्या रूप में उनके विमुख किया करती है। शंकर भगवान् के विचार 'हरि इच्छा भावी बलवाना' का तात्पर्य यही है कि यह सब राम की इच्छा से ही हो रहा है। राम की इच्छा यही रहती है कि वे नर शरीर धारण कर अपनी लीला के विविध रूपों द्वारा अपने स्वरूप का बोध भक्तों को कराएँ और उन्हें भवसागर से पार होने

---

१. 'मानस', बाल० ५६. ६-७।
२. वही, ५६.८।
३. वही, ५७.६।
४ वही, ६० ५.६।

का साधन उपलब्ध करा दें। इसीलिए शाप देने पर जब नारद पश्चात्ताप करते है तो —

"मम इच्छा कह दीन दयाला[1]।"

इस प्रकार वे इसे स्पष्ट कर देते है। माया का रहस्य समझे बिना राम को समझना संभव नहीं है। शंकर भगवान् सर्वप्रथम पार्वती को ही रामरूप का बोध कराते हैं। जब तक सती के रूप मे माया का प्रत्यक्ष अनुभव उन्हें नहीं हो जाता तब तक शंकर-प्रतिपादित यह रामरूप भी उनकी समझ में नहीं आता। 'मानस' के अन्य श्रोताओं को भी रामरूप तब तक हृदयंगम नही हो सकता जब तक माया की भ्रम उत्पन्न करने वाली शक्ति का बोध उन्हे सती के क्रिया-कलाप द्वारा न करा दिया जाए। इससे प्रत्यक्ष हो जाता है कि राम के स्वरूप की विशेषता समझने के लिए माया के उस रूप से बचना चाहिए जो ऐसी जडता उत्पन्न कर देता है। अविद्या माया की सहज विभूतियो मे जडता भी एक है जिससे कोई बच नही सकता। यह भी 'माया रूपी नारि' का एक रूप है जिसका निरूपण सती के आख्यान में किया गया है। राम के स्वरूप-निरूपण को लेकर चलने वाली कथा के प्रारम्भ मे राम के स्वरूप-बोध में बाधक उस जडता का बोध करा देना उचित ही है, जो 'मानस' के प्रतिष्ठापक शंकर भगवान्-सा निरूपणकार होने पर भी बाधा डाल देती है। अतः श्रोता को इस जडता का ज्ञान प्रारम्भ में ही करा दिया जाता है कि कहीं ऐसा न हो कि 'मानस' तक पहुँच कर भी वह 'रघुपति महिमा अगुन अबाधा' रूपी 'बर-बारि' के अवगाहन से वंचित रह जाए। सती के हृदय में घर करने वाली जडता ही जब क्रियाशील होती है तभी 'मानस' के समीप पहुँचे हुए प्राणी की यह दशा हो जाती है—

"जडता जाड़ विषम उर लागा। गएहु न मज्जन पाव अभागा॥
करि न जाइ सर मज्जन पाना। फिरि आवै समेत अभिमाना॥
जौ बहोरि कोउ पूछन आवा। सर निन्दा कहि ताहि बुझावा[3]॥"

यह जड़ता इसीलिए अकल्याणकर है कि जो 'मानस' के समीप पहुँचने का प्रयत्न नही करते वे दूसरो से उसकी निन्दा भी नहीं करते। परन्तु जो उसके समीप तो पहुँच जाते हैं किन्तु जड़तावश उसका रहस्य समझने मे असमर्थ रहते है वे उल्टे मिथ्याभिमानवश उसकी निन्दा करने लगते है। मानस-

१. 'मानस', बाल॰ ६०.५-६।
२ वही ४३ २ ४

विरोधी प्रचार में लीन होने वाले ये लोग समाज के लिए अत्यन्त अकल्याणकर है। अत: इस आख्यान द्वारा मानस-अवगाहन के लिए प्रयत्नशील पथिको को यह परम हितकारी उपदेश दिया गया है।

इस प्रकार कवि स्पष्ट कर देता है कि यह राम की माया का प्रभाव है। यहाँ अविद्या माया की शक्ति का स्वरूप-बोध कराना ही उसे इष्ट है, कुछ यह सिद्ध करना नहीं कि प्रत्येक नारी कपट की पुतली होती है। अत: यह उक्ति नारी-स्वभाव के संबंध में कवि का अभिमत नही है। ऐसा होने पर वह इसे सती की पश्चात्तापपूर्ण उक्ति के रूप में न रखकर अपने सिद्धान्त-रूप मे प्रस्तुत करता कि 'हे मन! नारी सहज जड अज्ञ होती हैं। इससे सावधान रह।' इसके लिए गोस्वामी जी को नारी-निन्दक की उपाधि न देकर उनका अनुगृहीत होना ही उचित है। समझने की बात है कि यदि उन्हे पग-पग पर नारी-निन्दा का ढिढोरा ही पीटना था तो क्या नारी के दूषणों को चरितार्थ करने के लिए उनके इष्टदेव राम के आराध्य भगवान् शंकर की भार्या ही रह गई थीं? भूलना न चाहिए कि सती उन्ही पार्वती का पूर्वरूप है, जिनकी वन्दना में कहा जाता है :—

"भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यंति सिद्धाः स्वांत स्थमीश्वरम्[1]॥"

'मानस' की प्राप्ति के लिए अनिवार्य इसी श्रद्धा का स्वरूप और उसके साथ विश्वास का संबंध स्पष्ट करने के लिए ही सती के आख्यान का प्रयोग कवि ने किया है। द्वितीय अध्याय में उसका विवेचन हो चुका है। अत. इस प्रसग में इतना ही अलम् है।

अयोध्याकाड में एक और उक्ति है —

"कवने अवसर का भयेउ गएउँ नारि विस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अविद्या नास[2]॥"

महाराज दशरथ के इन वचनों का अभिप्राय यह मान लिया जाता है कि तुलसीदास को दृष्टि में नारी का कभी विश्वास नही करना चाहिए। यहाँ स्थिति यह है कि राजा ने पत्नी पर विश्वास किया। कामवश होने से उसके रोष को 'काम कौतुक' समझ पुत्र की शपथ लेकर वचन देने की भयंकर भूल

---

१ 'मानस' बाल० २

२ वही, अयो० २९।

कर बैठे। अतः उन्हें भीषण पश्चात्ताप है कि किस अवसर पर उनसे क्या हो गया जिसके फलस्वरूप राम-राज्याभिषेक के अवसर पर सारा सुख पत्नी के कपट-जाल से उसी प्रकार विनष्ट हो गया जैसे सिद्धि-प्राप्ति के अवसर पर अविद्या के प्रभाव से किसी यती का विनाश हो जाए[१]। यह उदाहरण देते हुए भी दशरथ नहीं पहचान पाए कि वे भी अविद्या द्वारा ही ठगे गए हैं। कवि को यहाँ अविद्या का रूप प्रत्यक्ष करना इष्ट है, यह सिद्ध करना नहीं कि प्रत्येक स्त्री अविश्वास की ही पात्र है। यह राम के अप्रतिम प्रेमी, नीति-निपुण, पुण्यश्लोक चक्रवर्ती के हृदय मे अपनी भयंकर भूल के कारण उत्पन्न आत्मग्लानि एव पश्चात्ताप की करुण अभिव्यक्ति है, किसी नारी-निन्दक का उद्घोष नहीं। नारी-निन्दा इष्ट होने पर इस प्रसंग में कवि अपने व्यापक अध्ययन के आधार पर शास्त्रों और नीति-ग्रथो से चुन-चुन कर नारी-निन्दा परक उक्तियों का ढेर लगा सकता था।

इस प्रसग मे अयोध्यावासियों द्वारा कही गई उक्तियों में भी नारी-निन्दा देखी जाती है। राम-वन-गमन के समाचार का प्रभाव यह होता है :—

"नगर फैल गई बात सुतीछी। छुअत चढी जनु सब तन बीछी॥
जो जहँ सुनइ धुनहि सिर सोई। बड़ विषादु नहिं धीरज होई॥
मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोकु न हृदय समाइ।
मनहु करुन रस कटकई उतरी अवध बजाइ[२]॥"

राम से प्रगाढ़ प्रेम करनेवाला प्रजावर्ग एकाएक उनके राज्याभिषेक के सुखद समारोह को शोक-समाज में परिवर्तित होते देख अर्धविक्षिप्त हो उठता है। इसी मनोदशा में नगर-निवासी महारानी कैकेयी के लिए कठोर अपशब्दों का प्रयोग कर बहुत कुछ कह जाते हैं[३]। अब तक राम से प्रेम करने वाली

---

१ यहाँ 'जतिहि' का अर्थ योगी अथवा सन्यासी किया जाता है। 'यती' का एक अर्थ 'ब्रह्मचारी' भी यहाँ द्रष्टव्य है।

२ 'मानस', अयो० ४५ ६, ४६।

३. वे यहाँ तक कह जाते हैं :—
"एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावकु धरेऊ॥
निज कर नयन काढ़ि चह दीखा। डारि सुधा बिषु चाहति चीखा॥
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस बेनु बन आगी॥
पालव बैठि पेड़ु एहिं काटा। सुख महुँ सोक ठाटु धरि ठाटा॥"
वही ४६ २-५।

कैकेयी ने आज यह भीषण रूप धारण किया है। उसके इस एकाएक परिवर्तित रूप को देख आश्चर्य-चकित और दुःखदग्ध प्रजाजन अंत में कह उठते है :—

"सदा रामु येहि प्रान समाना। कारन कवन कुटिल पनु ठाना॥
सत्य कहहि कवि नारि सुभाऊ। सब विधि अगहु अगाध दुराऊ॥
निज प्रतिबिम्ब बरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई॥
काह न पावकु जारि सक का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल केहि जग कालु न खाइ[1]॥"

प्रजाजन के ये वचन और कैकेयी के सबध मे कही हुई कटूक्तियाँ इस अवसर पर नितान्त स्वाभाविक है और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उपयुक्त भी। यदि वे सब ऐसा न कहते तो यह बड़े गर्व से कैसे कहा जा सकता कि गोस्वामीजी को मानव अन्त.करण की जैसी परख है वैसी हिन्दी के दूसरे कवि को नही। यहाँ प्रसग की भीषणता के मूल कारण-रूप एक नारी के होने से अनेक लोकोक्तियाँ उनके मुख से निकल कर हृदय के विषाद को हल्का कर रही है। अस्तु, यहाँ कवि को नारी-निन्दा मे लीन देखना न्याय नही है।

इस अवसर पर भरत ने कैकेयी से जो कुछ कहा है उसका विवेचन हो चुका है[2]। उन्होने भी 'तीय सुभाऊ' पर कुछ व्यग्य किया है —

"भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरन काल विधि मति हरि लीन्ही॥
विधिहु न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥
सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानइ तीय सुभाऊ॥[3]"

निस्संदेह राजा का कार्य किसी नीतिनिपुण चक्रवर्ती के अनुरूप नही था। किसी का अत्यधिक विश्वास कर बिना जाने शपथ खाकर वचन दे देना राजनीति के अनुकूल नही है। उन्होंने ऐसा स्त्री के साथ किया और उसे राजनीतिक चालो से बिलग समझा। यही वे चूक गए। इसका कारण उनकी सरलता और धर्मशीलता ही है जो कभी किसी का अविश्वास नही करने देती। यहाँ ध्यान देने की बात है कि भरत ने इससे भी अधिक कठोर वचन इस समय कैकेयी से कहे है, और उपर्युक्त वचनों के अनन्तर ही वह कहते है —

"अस को जीव जंतु जग माही। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाही॥
भे अति अहित राम तेउ तोही। को तू अहसि सत्य कहु मोही[4]॥"

---

१. 'मानस', अयो० ४६. ६-४७।   २. देखिए पीछे पृष्ठ २६ ३०।

३ वही, १६१ ३-५   ४ वही १६१ ५-७

अस्तु, प्रजा, राजा एवं भरत के वचनों को उनके रामप्रेम, मानव-स्वभाव तथा परिस्थितियों के मेल में न देखकर यह धारणा बना लेना उचित नहीं कि कवि नारी के प्रति अपनी विरक्ति और चिढ को अवसर पाकर उसकी निन्दा के रूप मे व्यक्त कर रहा है।

गोस्वामी जी को नारी निन्दक सिद्ध करनेवालों को इसका सबसे बडा प्रमाणपत्र अरण्यकाण्ड मे मिल जाता है। श्रीराम द्वारा नारद के प्रति कहे गए वचनों को तुलसीदास का निश्चित सिद्धान्त समझकर यह अर्थ लगाया जाता है कि वे घोर नारी-निन्दा करके समाज को उसके परित्याग का उपदेश दे रहे हैं। अत इस महत्त्वपूर्ण प्रसग के विस्तृत विश्लेषण की अपेक्षा है।

प्रसंग है सीता की खोज में घूमते और उनके लिए 'महा बिरही अतिकामी' की भाँति विलाप करते हुए राम और नारद की वार्ता का। नारी की घोर निन्दा करने वाले राम उसके पहले और पश्चात् भी नारी से विरत न होकर उसकी खोज मे घूमते रहे, यह विशेष बात है। सीता के अन्वेषण में तत्पर प्रभु पंपासरोवर पर पहुँचकर विश्राम-हेतु 'परम प्रसन्न' मुद्रा मे आसीन हो अनुज से रसाल कथा कहने-सुनने लगे। उन्हें देख नारद को स्मरण हुआ कि कभी मै भी नारी के लिए व्याकुल हुआ था। आज उन्हे अत्यन्त दु ख हुआ कि मेरी इस भयकर भूल के फलस्वरूप मुझे दण्डित न कर भक्तवत्सल उल्टे मेरा शाप स्वीकार कर स्वयं नाना दु.ख सहन कर रहे हैं। मेरे कल्याण के लिए मेरा अभिमान दूर करने की इच्छा के कारण ही प्रभु को यह महान् कष्ट उठाना पड रहा है। मुझे दण्डित कर समझा देते कि देखो यह तुम्हारे अभिमान का दुष्परिणाम है। परन्तु करुणानिधान ने मुझे परिताप से बचाने के लिए तब विवाह नहीं करने दिया और फलस्वरूप आज स्वय इस सताप में आ पड़े है। आज वरदान तो प्राप्त कर लूँ कि इसी अवतार का नाम सब नामो मे श्रेष्ठ हो और कम से कम, निवेदन तो कर दूँ कि हे प्रभु! मुझे हो क्यो न विवाह कर लेने दिया? मैं उसके फलस्वरूप दु.ख भोग लेता, आपको तो कष्ट न होता। निदान, नारद राम के समीप पहुँचे और अभीप्सित वरदान प्राप्त कर लेने के पश्चात् उनसे निवेदन किया —

"राम जबहि प्रेरेहु निज माया। मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया॥
तब विवाह मैं चाहौं कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा॥"[1]

---

१. 'मानस', अरण्य० ३६.२,३।
सम्पूर्ण वार्तालाप के लिए देखिए वही ४१ ५ ३८

अपने परम प्रिय भक्त को समीप देख भगवान् भी आज अत्यन्त प्रसन्न हैं। भक्तवत्सल आज उसकी ग्लानि को दूर कर उसके सम्मुख अपने उस स्वभाव का मर्म खोल देना चाहते हैं जिससे विवश होकर वे भक्तों के कल्याणार्थ उन्हें दण्ड न देकर स्वयं कष्ट उठाया करते हैं। कवि को भी नारद के व्याज से भक्तों को यह बतला देना है कि किस भाव से वे प्रभु के सर्वाधिक स्नेह के अधिकारी हो सकते हैं। अतः राम नारद के प्रश्न का उत्तर देते हैं :—

"सुनु मुनि तोहि कहौ सहरोसा। भजहि जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी[१]॥"

भगवान् भक्त को समझाते है कि भक्तों पर मेरा प्रेम मातृवत् होता है। ज्ञानी भक्त मेरे लिए 'प्रौढ़ तनय' के समान है, परन्तु सबका भरोसा छोड एकमात्र मेरी शरण गहने वाला मुझसे वही प्रेम प्राप्त करता है जो कोई शिशु अपनी जननी से। ऐसे भक्त की रक्षा में उसी माता की भाँति तत्परता से करता रहता हूँ जो शिशु की अबोधता के कारण उत्पन्न अनिष्ट और संकटों से सर्वत्र उसकी रक्षा मे सलग्न रहती और उसके कष्ट-शमन के लिए स्वयं अगणित कष्ट सहती हैं। उसी शिशु के प्रौढ हो जाने पर माता के प्रेम का वह रूप नही रह जाता, क्योकि अब वह अपनी रक्षा मे स्वयं समर्थ होने के कारण उस पर निर्भर नहीं रहता। ज्ञानी और प्रपन्न दोनों के ही प्रबल शत्रु हैं काम और क्रोध। उनसे रक्षा के लिए ज्ञानी को अपने और भक्त को मेरे बल का सहारा रहता है। ऐसा समझ कर ही पंडित जन ज्ञान-प्राप्ति होने पर भी मेरा भजन करते है। स्पष्ट हो गया कि प्रपन्न भक्त की काम-क्रोध से रक्षा प्रभु का मातृवत् सहज स्वभाव है। अब उन्हे यह समझाना शेष रहा कि विवाह क्यो नही करने दिया।

कुछ काल पूर्व राम लक्ष्मण को समझा चुके है कि दुर्धर्ष काम के प्रभाव से बचने की क्षमता बिरलो में होती है और नारी ही उसका परम बल है :—

"लछिमन देखत काम अनीका। रहहि धीर तिन्ह कै जग लीका॥
एहि के एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी॥
तात नीति अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि विज्ञान धाम मन करहि निमिष महुँ छोभ॥
लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष वचन बल मुनिवर कहहिं बिचारि[२]॥"

१ 'मानस, अरण्य० ४६ ४,५ २ वही, ३१ ११, १२, ३२

माया ब्रह्म की कामना का मूल है। इसीलिए वह विश्व में नारी-रूप मे सभी कामनाओ का मूल रूप हो प्रकट हो रही है। अत: नारद के प्रश्न करने पर कि जब आपने अपनी माया की प्रेरणा की तब मुझे विवाह क्यों नही करने दिया, उन्हे माया के इस स्वरूप का बोध कराया गया। राम ने उनसे जो कहा उसका तात्पर्य यही है कि जब तुम्हारे ऊपर माया व्यापी तो उसने अपने प्रबल सेनानी काम से काम लिया, और स्वयं नारी के रूप में तुम्हारे सामने आ विराजी। परिणाम वही हुआ जो होना था। कामदृष्टि से देखे जाने पर वह मातृ-शक्ति के रूप मे नहीं दिखी। अत: दु:खदायिनी सिद्ध हुई। मोहान्ध होने से उसका दिव्य रूप दृष्टि से ओझल रहा, और अस्थि-चर्ममय रूप की चकाचौंध से पराजित होने के कारण ही तुम्हारी दुर्दशा हुई[1]। भगवान् को आज नारद के बहाने संतों और भक्तो को समझा देना है कि विरक्त संत को नारी में माया के दिव्य रूप के ही दर्शन करना चाहिए और यह न कर उसके अस्थि-चर्ममय सौन्दर्य को काम-दृष्टि से देखने का दुष्परिणाम क्या होता है। इसीलिए नारद मुनि से राम का उपदेश होता है '—

"सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता॥
जप तप नेम जलाशय झारी। होइ ग्रीषम सोखै सब नारी॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इनहिं हरष प्रद बरषा एका॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहिं दहै सुखमन्दा॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसर रितु पाई॥
पाप उलूक निकट सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना॥

"अवगुन मूल सूल प्रद प्रमदा सब दुख खानि।
तातें कीन्ह निवारन मुनि मैं येह जिय जानि[2]॥"

इसमे शंका नही कि नारद की जो दशा हुई थी वही उक्त रूपक में स्पष्ट

---

१. विश्वमोहिनी को देख :—

'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥"
की दशा को प्राप्त करने के परिणाम स्वरूप कपट, लोभ क्रोधादि के वशीभूत हो नारद जिस परिहासास्पद स्थिति को प्राप्त हुए वह सर्वविदित है। 'मानस' बालकांड में इसका विस्तृत वर्णन है।

२ 'मानस', अरण्य० ३७। ८, ३८

की गई है। उनका मोह बढ़ा और आजीवन किया हुआ जप-तप, समस्त धर्म एवं बुद्धिबल, ज्ञान एवं भक्ति सभी काफ़ूर हो गए। अतः उन्हे बतलाया गया है कि इस दृष्टि का परिणाम बहुत कुछ उसी प्रकार होता है जैसा प्रकृति मे विविध ऋतुओं का कार्य देखा जाता है। इस समय राम प्रकृति के खुले प्रागण मे पम्पासरोवर पर विराज रहे है, राजमहलों में नही। इस प्रसंग में प्रकृति के रूपो और व्यापारो का अप्रस्तुत रूप मे आ जाना सर्वथा स्वाभाविक तथा अवसरानुकूल हुआ है। नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत प्रकृति की लुभावनी सुषमा के आधार पर ही यह भली भाँति स्पष्ट कर दिया जाता है कि पुरुष जब नारी को अपनी समस्त कामनाओं एवं स्थूल वासनाओं का केन्द्र बना लेता है तब प्रकृति का यह रूप उसके जीवन मे चरितार्थ होने लगता है। यह नारी की करतूत नही पुरुष की काम-दृष्टि का दुष्परिणाम है। नारद एवं शूर्पणखा दोनो के प्रसगो मे ही कामभावना का यह रूप प्रत्यक्ष किया गया है। नारद की काम-भावना के लिए विश्वमोहिनी लांछन की अधिकारिणी नही। उसी प्रकार शूर्पणखा को भावना के लिए राम दोषी नही। अत कवि की धारणा एकदम स्पष्ट है कि काम-दृष्टि से मुग्ध होने वाला दोषी है न कि वह व्यक्ति जो उस आकर्षण का केन्द्र है, वह चाहे नर हो अथवा नारी। नारद का इतिहास यही कह रहा है और इसीलिए कहा जा रहा है यह नारद से ही कि नारी को कामदृष्टि से देखने पर पुरुष का काम ही उसके 'मोहविपिन' का वर्धक बनता और नारी उसके नेत्रों को बसंत सी जान पडती है। नारी के प्रति उसकी कामाग्नि उसके समस्त संयम-नियम रूपी जलाशयो को सुखा देती है। उसी के चिन्तन मे वह जपतपादि सब भूल जाता है। वर्षा को देख जैसे मेढक हर्षित होते हैं, उसी प्रकार नारी को देख मोहान्ध नर के हृदय की इच्छाएँ और विकार प्रसन्न होते है। शरद्-ऋतु मे जिस प्रकार कुमुद खिलते है वैसे ही नारी के प्रति आकर्षित मोहान्ध पुरुष की दुर्वासनाएँ विकसित हो मनमोहक रूप धारण करती है। नारी को प्राप्त कर उसका महत्त्व बढ जाता है और सबके परिणाम-स्वरूप मोहान्धकार मे पडे मनुष्य के पापों की वृद्धि होती है। बसी के चारे का लोभ जैसे मछलियो के प्राणान्त का कारण बनता है, ऐसे ही नारी से काम-सुख की लालसा पुरुष के सर्वनाश का कारण हो जाती है इस प्रकार प्रमदा सब प्रकार से शूलप्रद और अवगुणों को उत्पन्न करने वाली है

वासनापूर्ति को एकमात्र लक्ष्य बनाने से नारी प्रमदा[1] रूप मे ही दृष्टिगोचर होगी और पुरुष की यह प्रवृत्ति उसके नाश का कारण बनेगी, यही यहाँ प्रत्यक्ष किया गया है। यहाँ नारी की निन्दा नही अपितु नारी के प्रति पुरुष की काम-भावना का दुष्परिणाम दिखाना इष्ट है। यह नारद और राम की स्थिति से स्पष्ट है। विश्वमोहिनी की आसक्ति नारद की दुर्दशा का कारण बनी। उसने स्वेच्छा से राम का वरण किया फिर भी नारद उसके खोने से विक्षिप्त से हो गए और उसे भगवान् की पत्नी—जगज्जननी के रूप में देखकर भी क्रोधाभिभूत हो प्रभु को शाप दे बैठे। जगदम्बा में मातृ-शक्ति का दर्शन न करने से जो कुछ हुआ, उसमे नारद की दृष्टि का दोष था अथवा विश्वमोहिनी ही प्रमदा थी ? स्मरण रखना चाहिए कि विश्वमोहिनी के प्रति नारद की भावना के कारण ही उन्हे आज यह उपदेश मिल रहा है। विचारणीय है कि यदि पुरुष नही, नारी ही इसका कारण है तो जिस विश्वमोहिनी को खोकर नारद विवेकहीन हो गए, उसे ही खोकर आज प्रभु इतने प्रसन्नचित्त ही नही, अपितु उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील भी क्यो है ? कारण स्पष्ट है। राम नारी को काम-दृष्टि मात्र से नही देखते, उसे अपनी जीवन-लीला की अभिन्न शक्ति के रूप मे देखते हैं। प्रत्यक्ष है कि यहाँ नारी-निन्दा करना कवि का लक्ष्य नही है। उसे श्रोता समाज को यह समझाना है कि यदि पुरुष नारी को निर्मल दृष्टि से न देख मलिन दृष्टि से देखेगा तो उसके सच्चे स्वरूप को न पहचानने के कारण मोह-पाश में बद्ध हो दुखी होगा। निष्कलुष दृष्टि रखनेवाले व्यक्ति को ही नारी के सच्चे स्वरूप का बोध हो सकता है। इसीसे यहाँ कवि अपने मन को नारी-रूपी दीपशिखा का पतंगा न बनने का आदेश देता है[2]। इस प्रसग का निचोड़ यही है कि भगवान् भक्त के कल्याणार्थ अवतरित होते तथा उसकी रक्षा सदैव करते है। भक्त के जीवन की सबसे बड़ी हानि उस काम-दृष्टि से होती है जो वह अज्ञानवश नारी पर डालता और काम-पूर्ति ही जीवन का लक्ष्य मान लेता है। प्रभु को अपना सर्वस्व माननेवाले संतों को यहाँ बोध कराया गया है कि किस प्रकार उन्हें अपने समस्त विकारों पर नियन्त्रण कर नारी के वास्तविक रूप को पहचानने की आवश्यकता है।

गोस्वामी जी यह बतलाना चाहते है कि मातृशक्ति के रूप में ही प्रभु का सर्वाधिक स्नेह भक्त को प्राप्त है और वे भक्त की रक्षा सदा करते हैं।

---

१. 'प्रमदा' का विवेचन अन्यत्र हो चुका है, देखिए पीछे पृ० ३१-४७।

२. इसकी व्याख्या पीछे हो चुकी है

राम ने नारद से यह स्पष्ट किया है कि मोह अपने सेनानी काम, क्रोध, लोभादि सहित आक्रमण कर अन्धकार का ऐसा आवरण डालता है कि प्रकाश के अभाव में अपने स्वरूप को समझना जीव के लिए असंभव हो जाता है। काम समस्त कामनाओं को नारी में केन्द्रित कर देता है। उसी से सर्वाधिक दारुण दुःख प्राप्त होते हैं। राम की कृपा से यह दृष्टिदोष दूर होता है और वही मातृ-शक्ति सब में प्रकट हो प्रकाश-प्रदायिनी हो जाती है। माया की यही लीला यहाँ प्रत्यक्ष करना कवि का लक्ष्य है, कुछ राम के द्वारा नारी-निन्दा का झंडा फहराना नहीं। इसे समझना हर भक्त का कर्त्तव्य है, और इसीसे यह समझाया गया है उसे जो समस्त लोकों मे नित्य विचरण करता और नारदीय भक्ति का प्रचार और प्रसार करते हुए नित्य लोक-कल्याण मे निरत रहता है। अतः इस प्रसंग का महत्त्व न समझते हुए इसे कोरी नारी-निन्दा के रूपमें ग्रहण करना कदापि उचित नहीं।

इसी प्रसंग के पूर्व नारी-निन्दा का एक और प्रसंग है। वन की शोभा देखते हुए विरही राम का लक्ष्मण से कथन है :—

"लछिमन देखु बिपिन कइ सोभा। देखत केहि कर मनु नहिं छोभा॥
नारि सहित सब खग मृग बृन्दा। मानहुँ मोरि करत हहिं निन्दा॥
हमहि देखि मृग निकर पराही। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाही॥
तुम्ह आनन्द करहु मृग जाए। कञ्चन मृग खोजन ए आए॥
संग लाइ करिनी करि लेही। मानहुँ मोहि सिखावनु देही॥
सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ॥
राखिअ नारि जदपि उर माहीं। जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं[1]॥"

यहाँ कतिपय विचारकों को यही खटकता है कि तुलसीदास ने नारी को इतनी बेवफा बना दिया कि उसे चाहे हृदय में ही क्यों न रखो वश में नहीं रह सकती, मौका पाकर पुरुष को त्याग चाहे जहाँ चल देती है। उन लोगों की तर्कपद्धति की प्रशंसा अपेक्षित नहीं जो इस विलक्षण व्याख्या द्वारा यह सिद्ध करते है कि तुलसीदास को नारी के लिए ऐसी भद्दी बात ही कहने को रह गई थी। सो भी यह उक्ति चरितार्थ करने के लिए जगज्जननी के प्रसंग में उसे प्रभु के श्रीमुख से ही कहलाना उन्हें इष्ट हो सकता था। कहना न होगा कि राम का यह कथन महाकवि की भावुकता का अन्यतम उदाहरण और

---

१. 'मानस', अरण्य० ३०.३-६।

उसकी मनोवैज्ञानिक भावव्यंजना की दक्षता का प्रमाण है। अपनी असावधानी के कारण पत्नी का हरण हो जाने पर राम के अन्तरतम की ग्लानि जिस स्वाभाविक रूप से आत्मनिन्दा के रूप में यहाँ बोल उठी है, वह देखते ही बनता है। इसमें तुलसीदास का कविकर्म न देख उनकी नारी-निन्दा देखना सहृदयता नहीं और चाहे जो हो।

"तुम्ह आनन्द करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ए आए[1]॥"

में हृदय की जो वेदना है उसका जोड़ शायद ही कहीं मिले। उसके बाद ही दिखाई पड़ते हैं सरोवरों में विहार करते हुए करि-करिनी के जोड़े। राम के मन में भावना उठ रही है कि आह! आज यह पशु भी मुझसे अधिक भाग्यशाली और चतुर है। ये अपनी प्रिया को अरक्षित नहीं छोडते, साथ ही रहते हैं। कैसी सीख मुझे दे रहे हैं! क्या तुम नीतिशास्त्र भूल गये? वहाँ कहा गया है कि शास्त्र को बार-बार दोहराते रहना चाहिए, राजा की कितनी भी सेवा करो, वह किसी के वश में नहीं होता, निरकुंश ही रहता है और नारी-रत्न एक ऐसी वस्तु है जिसे चाहे हृदय में ही छिपाकर क्यों न रखो, कभी सुरक्षित नहीं समझना चाहिए। उस पर सभी की दृष्टि रहती है। असावधानी होने से छिन जाने का भय रहता है। हुआ भी यही था। अतः यह उक्ति सीता की रक्षा में असावधानी के कारण पश्चात्ताप और ग्लानि की अनुभूति करने वाले वियोगी राम की है—तुलसीदास द्वारा नारी-निन्दा का गान नहीं।

किष्किन्धाकांड में श्रीराम सुग्रीव से कहते हैं :—

"सेवक सठ, नृप कृपिन कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी[2]॥"

इसमें कुनारी को शूल समान समझने में नारी-निन्दा नहीं, नीति की बात है। मूर्ख सेवक, कजूंस राजा, कपटी मित्र और कुनारी, चारों ही काँटे के समान कष्टकारक होते हैं। मित्र के गुण-दोष समझाते हुए, सुग्रीव के प्रति राम का यह नीति-वचन है। इसके कुछ काल बाद ही राम बालि की ताड़ना करते हैं :—

"मूढ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावनु करेसि न काना[3]॥"

अतः 'सुनारी' और 'कुनारी' का भेद यहाँ ज्ञात हो जाता है। कौन कहेगा कि कुनारी दुखदायक नहीं सुखदायक होती हैं? 'मानस' में ताड़का,

---

१ मानस अरण्य० ३० ६। २ वही किष्किन्धा० ६,६।
३ वही ८६

शूर्पणखा आदि कुनारियाँ हैं। विधाता की गुण-दोषमय सृष्टि में ऐसा नहीं है कि सारा दोष पुरुष के हिस्से में पड़ा और स्त्री सभी गुणों को ले भागी हो। गुण-दोष दूध-पानी की तरह समस्त सृष्टि में व्याप्त हैं। संत का गुण यही है कि नारी के दोष अपनी दृष्टि से दूर रख कर वह उसके गुणों में मातृ-शक्ति के गुणों की छाया देखता और उसके प्रति माता की पूज्य बुद्धि ही रखता है। इसकी पराकाष्ठा परमहंसदेव के जीवन में देखी जाती है, जिन्होंने पत्नी को भी मातृदृष्टि से देखा और एक वेश्या में भी माँ काली के दर्शन किए। अतः ऐसी उक्तियों में नारी-निन्दा देखना ठीक नहीं।

ऋष्यमूक पर विराजमान, वर्षा के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए भगवान् राम एक और बात भी कह देते हैं, जो नारी-निन्दकों के बड़े काम आती है :—

"महावृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि सुतंत्र भये बिगरहिं नारी[1]॥"

महावृष्टि होने से क्यारियाँ फूट गई, और जल मर्यादा तोड़कर प्रवाहित होने लगा है, जिस प्रकार स्वतंत्र होने पर स्त्री बिगड़ जाती है। मर्यादा उल्लंघन कर देना ही स्त्री का बिगड़ जाना है, अतः अप्रस्तुत नितांत उपयुक्त और सटीक है। प्रसिद्ध आर्षवचन 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति[2]' के अनुसार नारी अपनी मर्यादा में स्थित रहते हुए भी स्वतन्त्रता की अधिकारिणी नहीं मानी गई। तुलसीदास द्वारा यहाँ इस वचन का परिष्कार किया गया है। ऋषि-मुनियों का खण्डन उनकी संत-प्रकृति के विरुद्ध था। अतः यहाँ उक्ति का परिमार्जन कर यह दिखा दिया गया कि कैसी और कितनी स्वतन्त्रता नारी के लिए हितकर अथवा अहितकर है। किसी भी क्यारी का जल वर्षा अधिक होने से उसकी मेंड या सीमा तोड़कर बाहर निकलता है। यदि वह दूसरी क्यारी में जाता है तो यही दशा वहाँ भी होती है और पौधों को हानि होती है। यह दशा सामान्य-वृष्टि में नहीं, महावृष्टि में ही होती है। इसी भाँति स्वतन्त्रता नारी के लिए हानिकारक नहीं। हाँ, ऐसी स्वतंत्रता जो मर्यादा का अतिक्रमण करे अवश्य ही हानिकर है। यहाँ प्रकृति के एक सामान्य व्यापार को लक्ष्य करके उचित सीख दे दी गयी है। मर्यादा के बाहर स्वतन्त्रता किसी भी प्राणी के लिए उचित नहीं है। अतः नारी की मर्यादातिक्रमण वाली स्वतंत्रता यदि अनुचित कही जाती है तो इसमें नारी-निन्दा क्यों देखी

---

१. 'मानस', किष्किन्धा० १४.७।

२. 'मनुस्मृति' अध्याय ९ ३।

जाए ? नर और नारी का शारीरिक विकास और प्रकृति तथा उनके सामाजिक क्षेत्र में भिन्न कर्तव्य ही यह स्पष्ट करते हैं कि नारी की सीमा के बाहर स्वतंत्रता स्वयं उसके एवं समाज के लिए जितनी हानिप्रद है, उतनी पुरुष की स्वतंत्रता नहीं। पुरुष पर नियंत्रण रखनेवाली नारी के अपनी मर्यादा के बाहर स्वतंत्र हो जाने पर पुरुष की जो स्थिति होगी उसकी कल्पना की जा सकती है। नारी का मर्यादापूर्ण जीवन समाज के लिए कितना आवश्यक है यह एक छोटे से उदाहरण के द्वारा किस खूबी से दिखाया गया है। इस समय मर्यादा की स्थापना के हेतु अवतरित मर्यादापुरुषोत्तम के समक्ष 'हरि लीन्हेसि सर्बस अरु नारी' की समस्या उपस्थित है, जो एक भाई को दूसरे भाई के प्राणों का ग्राहक बना रही है। ऐसे अवसर पर पुरुष की इस मर्यादाहीनता का दुष्परिणाम देख यदि नारी की मर्यादा पर उनकी दृष्टि जाती है तो यह नितान्त स्वाभाविक है। यह समाज मे नारी के महत्त्व का संकेत है, न कि उसकी बुराइयों का विश्लेषण।

अब आता है सुन्दरकाण्ड का वह प्रसग जहाँ का निम्नाकित कथन सर्वाधिक लोकप्रिय है :—

"ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी[1]॥"

प्रसग है समुद्र पार करने का। विभीषण का परामर्श मानकर राम तीन दिन तक सागर-तट पर बैठकर समुद्र से विनय करते हैं। अन्ततः, कोई परिणाम न देख उसके शोषण के लिए बाण-सन्धान करते हैं। उस समय समुद्र में भीषण ज्वाला उठती है। सारे जलचरो को त्रस्त देख समुद्र ब्राह्मण-रूप धारण कर अनेक रत्नो की भेंट ले प्रभु के सम्मुख उपस्थित हो उनसे निवेदन करता है :—

"सभय सिन्धु गहि पद प्रभु केरे। छमहु नाथ सब अवगुन मेरे॥
गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥
तव प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रन्थनि गाए॥

---

१. 'मानस', सुन्दर० ५८.६।

इस प्रसंग का विस्तृत विवेचन 'सरस्वती' (सितम्बर १९५८) में किया जा चुका है। उसे अविकल रूप से यहाँ उतार देना ग्रंथ की कलेवर-वृद्धि करेगा। अतः संक्षेप में तत्सम्बन्धी कुछ विचार यहाँ व्यक्त किये जाते हैं

प्रभु आयसु जेहि कहँ जसि अहई । सो तेहि भाँति रहे सुख लहई ॥
प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही । मरजादा पुनि तुम्हरिअ कीन्ही ॥
ढोल गँवार सूद्र पसु नारी । सकल ताड़ना के अधिकारी ॥
प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई । उतरिहि कटकु न मोरि बड़ाई ॥
प्रभु अग्याँ अपेल श्रुति गाई । करउ सो बेगि जो तुम्हहि सोहाई" ॥[1]

समुद्र की इस विनय में 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी । सकल ताड़ना के अधिकारी ॥' का मर्म पानेके लिए सम्पूर्ण कथन की व्याख्या आवश्यक है । इसके लिए ध्यान रखना चाहिए कि इसके पूर्व राम ने समुद्र से क्या कहा था और उत्तर सुनने के अनन्तर उन्होंने क्या कहा ॥ पहले स्थिति यह थी :—

"बिनय न मानत जलधि जड गए तीनि दिन बीति ।
बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति ॥
लछिमन बात सरासन आनू । सोखौं बारिधि बिसिख कृसानू[2] ॥"

ऐसा कह कर भगवान् ने चाप चढ़ाया । यह मत लक्ष्मण को भा गया । राम ने पहले विभीषण के परामर्श के अनुसार विनय की फिर लक्ष्मण के मतानुसार बाण उठाया । परिणाम दोनो का निष्फल रहा । समुद्र ने न तब सूख कर मार्ग प्रस्तुत किया और न अब । अथाह भरा था, भरा रहा । राम के सम्मुख उपस्थित होने का साहस किसे है ? पर आज राम की विनय और बाण दोनों की अवज्ञा कर समुद्र उनके सम्मुख उपस्थित है, और उनसे ऐसी विनय करता है कि 'सठ सन विनय' आदि नीति वाक्यों की घोषणा करने वाले चराचरनायक उसे सूखने की आज्ञा न देकर उल्टे उसे तात ! संबोधित कर उससे परामर्श करने लगते हैं । यह आश्चर्यजनक परिवर्तन दर्शनीय है :—

"सुनत बिनीत बचन अति कह कृपाल मुसुकाइ ।
जेहि बिधि उतरइ कपि कटकु तात सो कहहु उपाइ[3] ॥"

यहाँ राम उसी 'सठ' के वचन सुनकर कृपालु हो रहे हैं जिसे काकभुशुंडि 'नीच' तक की उपाधि दे देते हैं[4] । अतः देखना चाहिए कि समुद्र ने दुष्ट-

१. 'मानस', सुन्दर ० ५८.१ ८ ।

२. वही, ५७. १ । ३. वही, ५९ ।

४. समुद्र के व्यवहार पर काकभुशुंडि का गरुड़ से कथन है :—
'काटेहिं पइ कदरी फरै कोटि जतन कोउ सींच ।
बिनय न मान खगेस सुनु डाटेहिं पै नव नीच ॥' वही ५८

दलनकारी के कोप को कृपा में परिणत करने वाली ऐसी कौन सी विनय उनसे की है। उसका निवेदन है :—

'हे प्रभु ! मेरे अवगुण क्षमा करो। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इनकी करनी सहज जड़ है। अर्थात् यह जड तत्त्व है और आपकी माया द्वारा निर्मित प्रकृति के मूल ये पंच महाभूत समस्त सृष्टि के कारण है। संकेत यह कि मर्यादा-उल्लंघन से सारी सृष्टि में व्यतिक्रम निश्चित है। आप के द्वारा निर्धारित मर्यादा में स्थित आप की आज्ञा का पालन करते हुए ये पंच-महाभूत अपना-अपना कार्य करते हुए सुखी रहते हैं। आप ताड़ना द्वारा शिक्षा देने प्रस्तुत हुए, यह भला किया। क्योंकि जब केवल ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और नारी ही नहीं, सृष्टि के सकल पदार्थ ही ताड़ना के अधिकारी हैं और मैं भी सृष्टि का ही एक अंग हूँ, तब यह कैसे कहूँ कि मैं ताडना का अधिकारी नहीं ?

समुद्र का संकेत यहाँ स्पष्ट है कि मर्यादा-उल्लंघन करने पर उक्त पाँच वस्तुएँ ही नही, प्रत्येक जड़-चेतन ताड़ना का पात्र हो सकता है। वह आगे कहता है कि अब आपकी आज्ञा से मैं सूखने के लिए प्रस्तुत हूँ। सेना पार उतर जाएगी, पर यह मेरा बड़प्पन नहीं, आपका प्रताप होगा। कारण, मर्यादा-उल्लंघन बड़प्पन नहीं, दण्डनीय है। मैं समुद्र हूँ। आप के द्वारा निर्धारित मेरी मर्यादा है—अगाध जल से पूर्ण रहना। पर यदि आप स्वयं अपनी पूर्व निर्धारित मर्यादा के उल्लंघन की आज्ञा देते हैं तो सूखना ही कर्तव्य है। आप की आज्ञा अपेल है, यह श्रुति विदित सिद्धान्त है। अतः शीघ्र ही आज्ञा दें।

विचित्रता यह है कि जिस समुद्र को सुखाने के लिए भगवान् राम ने तीन दिन उपवास किया और फिर बाण-संधान किया, उसके इस निवेदन को सुन, वे उसे सूखने की आज्ञा नही दे रहे है। बात यह है कि आज कुलगुरु समुद्र ने मर्यादा पुरुषोत्तम को निरुत्तर कर दिया है। वे यह बताएं कि सृष्टि की मर्यादा स्वयं निर्धारित कर और उसका ह्रास होने पर उसकी पुनः स्थापन के हेतु वे अवतरित हुए है, फिर आज वे मर्यादा-पालन करनेवाले समुद्र को प्रताड़ित करने के लिए उद्यत हो किस नई मर्यादा की स्थापना कर रहे हैं तथा उसे दण्डित कर किस दण्ड-नीति का विधान कर रहे हैं जो लंकेश विभीषण के लिए आदर्श रूप हो सके।

तात्पर्य यह कि समुद्र ने परम्परा-प्राप्त[1] उक्ति को परिष्कृत रूप में रखा है कि 'ढोल, गँवार, सूद्र, पसु, नारी' ही नहीं, सृष्टि के सकल पदार्थ, चेतन तथा जड़, ताड़ना के अधिकारी हैं, परन्तु उसी दशा में जब वे अखिल ब्रह्माण्ड व्यापी द्वारा स्थापित मर्यादा का अतिक्रमण करें। साथ ही यहाँ दण्डनीति का विधान भी इंगित किया गया है कि जब मर्यादा-भंग करने पर जड़ पदार्थ भी विनष्ट किए जा सकते हैं तो चेतन को छूट कहाँ ? सृष्टि के विधान की स्थिति और क्रम के हेतु जड़-चेतन का मर्यादित होना अनिवार्य है। स्पष्ट हो गया कि 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताडना के अधिकारी', की व्याप्ति कहाँ तक है। समुद्र कुलगुरु कहा गया है और ब्राह्मण-वेश में आया है, अतः वह न ढोल है, न गँवार और न पशु, शूद्र अथवा नारी में ही उसकी गणना हो सकती है। वह तो 'सकल' के अन्तर्गत ही आता है। यहाँ श्लेष के आधार पर 'सकल' का अर्थ 'कला सहित' भी किया जा सकता है, और तब प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका विशिष्ट रूप तथा ऐसा रूप भी ग्रहण हो सकता है कि 'साँप मरे न लाठी टूटे' वाले ढंग की ताड़ना हो। राम ने यह भी दिखाया कि जहाँ जडता हो और विनय से कार्य न निकले वहाँ झूठा क्रोध दिखा, भयभीत कर कार्य लेना ही उत्तम नीति है। मर्यादा के भीतर दण्डनीति का यह विधान कैसा है, इसका विचार राजनीतिज्ञ कर सकते हैं। हमारा प्रयोजन इतना ही है कि यह प्रसंग नारी-निंदा के लिए नहीं चुना गया है। कवि को यदि इस उक्ति का यही अर्थ ग्राह्य होता कि नारी ताड़ना की अधिकारिणी है तो 'मानस' में अनेक अन्य अवसर इसके लिए उपयुक्त थे।

नारी निन्दा परक एक उक्ति और है जो 'शुक्रनीति' के एक श्लोक का रूपान्तर है[2] और सम्भवतः इसीलिए प्रस्तुत हुई है, असुराधिप रावण की वाणी के रूप में ही। सुबेल पर्वत पर आसीन राम के अलक्षित बाण द्वारा पति के मुकुट और अपना श्रवण-ताटंक गिरते देख मन्दोदरी अनिष्ट की आशंका से

---

१. 'भर्ग संहिता' में कहा गया है :—

"दुर्जनाः शिल्पिनो दासाः दुष्टाश्च पटहाः स्त्रियः।
ताडिता मार्दवं यान्ति न ते सत्कारभाजनम्॥"

२. "अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता।
अशौचं निर्दया दर्पः स्त्रीणामष्टौ स्वदुर्गुणाः॥"
'शुक्रनीति सार' : अध्याय ३.१६४।

भयभीत हो गई । उसने राम का विश्वरूप समझाते हुए रावण से प्रार्थना की :—

"अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान ।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान[१] ॥"

रावण ने राम का रूप समझकर भी न समझना चाहा और :—

"बिहँसा नारि बचन सुनि काना । अहो मोह महिमा बलवाना ॥
नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं । अवगुन आठ सदा उर रहहीं[२] ॥"

यहाँ रावण द्वारा परिहास में कहे हुए 'अवगुन आठ सदा उर रहहीं' आदि वचन कवि द्वारा नारी-निन्दा के रूप में ग्रहण किए जाते हैं। यदि रावण सत्य ही मन्दोदरी को आठ अवगुणों से युक्त समझता तो उसे बराबर सम्मान प्रदान न करता। द्रष्टव्य है कि इसके पूर्व लंकादहन के भयंकर काड के पश्चात् भी मन्दोदरी के समझाने पर रावण ने उसकी बातों को परिहास मे टाल दिया था। आगे चलकर अंगद-रावण-संवाद के अनन्तर मन्दोदरी ने राम से उसके बल की तुलना कर अत्यन्त चुभते हुए शब्दों में उसकी हीनता सिद्ध की है। उस लम्बी वार्ता में वह यहाँ तक कह जाती है :—

"रामानुज लघु रेख खँचाई । सोउ नहि लाँघेहु असि मनुसाई ॥
× × ×
जारि सकल पुर किन्हेसि छारा । कहाँ रहा बल गर्व तुम्हारा ॥
× × ×
बान प्रताप जान मारीचा । तासु कहा नहिं मानेहि नीचा ॥
× × ×
सूपनखा कै गति तुम्ह देखी । तदपि हृदय नहिं लाज बिसेखी[३] ॥
× × ×
कारुनीक दिनकर कुल केतू । दूत पठाएउ तव हित हेतू ॥
सभा माँझ जेहि तव बल मथा । करि बरूथ महुँ मृग पति जथा[४] ॥"

परिणाम यह होता है :—

"नारि बचन सुनि बिसिख समाना । सभा गएउ उठि होत बिहाना[५] ॥"

विचारणीय है कि पत्नी की सभी भर्त्सनाओं को पीकर रावण उसका पूर्ववत् ही स्नेह करता है। इसीसे स्पष्ट है कि वह कहाँ तक वास्तव में उसे आठ

१ 'मानस', लंका० १५ । २ वही, १५.१-३ । ३. वही, ३५-३६ ।
४ वही, ३६. २,३ । ५ ३७.१ ।

अवगुणों की खानि समझता है। रावण के इस परिहास को भ्रमवश कवि का निश्चित मत न मान लिया जाए इसीलिए तुलसीदास तत्क्षण स्पष्ट कर देते हैं कि उनकी दृष्टि में मंदोदरी क्या है। उसकी श्रेष्ठता और रावण की हीनता को दृष्टिगत रखकर ही वे यहाँ कहते हैं :—

"फूलै फरै न बेत जदपि सुधा बरषहि जलद।
मूरख हृदय न चेत जौं गुरु मिलहिं बिरंचि सिव[1]॥"

अस्तु, न तो यहाँ रावण द्वारा मन्दोदरी की निन्दा है और न कवि ही नारी-निन्दा का सुअवसर हाथ लगा देख आज जी खोल कर नारी में वह आठो अवगुण चरितार्थ करना चाहता है जो असुरगुरु 'शुक्राचार्य' ने अपनी नीति में बतलाए हैं। रावण का मन्तव्य स्पष्ट है। वह पत्नी से परिहास करके अपनी कमजोरी छिपा रहा है। उसका मन्दोदरी से कहना है कि पति को छोड़ अन्य पुरुष का गुणगान तुम्हारा अविवेक है। तुम्हें मुझ जैसे बलशाली की पत्नी होकर भयभीत होना उचित नहीं। मेरे समक्ष राम के गुणगान करने का साहस भी तुममें हो गया? क्या वह तापस मुझसे अधिक बलशाली है? उसको मुझसे अधिक बलशाली कहना असत्य भाषण करना है। देखो, ठीक ही कहा गया है कि स्त्री में आठ अवगुण सदा रहते हैं :—

"साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया[2]॥"

पुनः कहता है :—

"जानउँ प्रिया तोरि चतुराई। एहि विधि कहेउ मोरि प्रभुताई[3]॥"

सिद्ध हो गया कि रावण के विचार से मंदोदरी मे 'भय' और 'अविवेक' नहीं। वह तो उसकी वाणी को चातुर्यपूर्ण और 'भय मोचनी[4]' तक कह रहा है। कवि ने मन्दोदरी को यहाँ जिस रूप में प्रस्तुत किया है तथा उसकी जो टिप्पणी अन्त में है उससे स्पष्ट है कि यह नारी-निन्दा का प्रवचन नहीं, परिहास, और 'मतिभ्रम[5]' के कारण गलत परिहास का उदाहरण है। 'शुक्रनीति' में घोर नारीनिन्दा है। तुलसीदास ने उसकी एक प्रसिद्ध उक्ति को इस

१. 'मानस', लंका १६। २. वही, १५. ३।

३. वही, १५. ६।

४. "तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भयमोचनि॥" वही, १५.७।

५. [illegible]ी, १५.८।

अवसर पर विशेष रूप में प्रस्तुत कर दिखा दिया है कि इस प्रकार की उक्तियों को रावण ऐसे आसुरी प्रवृत्ति के लोग भी प्रत्यक्ष जीवन में सत्य नहीं मानते, फिर सामान्य रूप से नारी-जाति पर इसे किस प्रकार चरितार्थ किया जा सकता है? तुलसीदास जिन सिद्धान्तों से सहमत नहीं, उनका खंडन भी प्रायः कटुता-पूर्वक न कर, उन्होंने शिष्टता के साथ प्रसगवश गौण रूप से उन्हे निरर्थक ठहरा-कर किया है। यही उनकी शैली है और उनकी महानता भी। यह प्रसग भी उसी ढग का है।

उत्तरकाण्ड के कलियुग-वर्णन में कुछ उक्तियाँ नारी-निन्दा परक हैं। नर-नारी समाज किस प्रकार मर्यादा तोड अधर्मरत हो रहा है यह दिखाना वहाँ इष्ट था। अत नर के साथ नारी का दोष-दर्शन वहाँ उचित ही है। उसमें यहाँ तक कह दिया गया है :—

"पूरब कलप एक प्रभु जुग कलिजुग मल मूल।
नर अरु नारि अधर्मरत सकल निगम प्रतिकूल[1]॥

× × ×

नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मरकट की नाईं॥"

यह समस्त वर्णन पौराणिक कलियुग-वर्णन के मेल में है। साथ ही इस प्रकरण में तत्कालीन समाज के पतन का प्रतिबिम्ब भी वर्तमान है। काम के प्रभाव से नर-नारी दोनों की समान रूप से जो दुर्दशा हो रही है, यहाँ उसका दिग्दर्शन है। आज के यथार्थवादी युग में समाज के जो चित्रण किए जाते हैं, उन्हे देखते हुए तो यह अत्यन्त सयत है, फिर उसे नारी-निन्दा कहना कहाँ तक उचित है? आज के किसी यथार्थवादी लेखक को हम नारी-निन्दक, पुरुष-निन्दक अथवा समाज-निन्दक नहीं कहते तो बेचारे तुलसीदास जी को ही यह उपाधि क्यों दी जाए?

कामवासना के निकृष्ट रूप के प्रदर्शन का एक प्रसंग और भी है। माया-पति राम के रूप पर आसक्त हो शूर्पणखा ने उनसे जो कुछ कहा और उस पर कवि ने जो टिप्पणी की वह भी नारी जाति की भीषण निन्दा का प्रमाण मानी जाती है पचवटी की घटना है

"सूपनखा रावन क बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जसि अहिनी॥
पञ्चवटी सो गइ एक बारा। देखि बिकल भइ जुगल कुमारा॥
भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ बिकल सकि मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी[1]॥"

राम-लक्ष्मण को देख शूर्पणखा कामासक्त हो गई और अपने जन्मजात संस्कारों के कारण उसने अपनी सहजवृत्ति को लज्जारहित हो सीधे शब्दों में व्यक्त कर दिया। स्वच्छन्द प्रकृति की उच्छृंखल राक्षसी सुन्दरी बनकर केवल राजकुमारों को ठगने गई थी। उसे मायापति के परमरूप का बोध नहीं था। अतः उसका प्रस्ताव हमारी सामाजिक और नैतिक व्यवस्था के प्रतिकूल और अवश्य ही निन्दनीय है, परन्तु उसकी परिस्थिति और प्रकृति के अनुरूप है। इस प्रसंग में काम का स्थूल ऐन्द्रिक एवं अमर्यादित रूप प्रत्यक्ष किया गया है। स्त्री-पुरुष के शारीरिक आकर्षण का मूल, लौकिक जीवन में, काम ही है। विभिन्न समाजों में इसके नैतिक स्तर भी भिन्न क्या, एक दूसरे से सर्वथा प्रतिकूल होते हैं। उत्तरप्रदेश के निवासियों में मामा और भाजी का सम्बन्ध अत्यन्त पवित्र माना जाता है, परन्तु तमिलनाड के ब्राह्मणों तक में मामा से भाजी का विवाह अत्यन्त प्रचलित था, और अभी भी अमान्य नहीं। मामा के पुत्र और बुआ की पुत्री में विवाह सम्बन्ध चलता ही नहीं, अत्यन्त पवित्र भी माना जाता है। इसके मूल में धारणा यह है कि यह सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का होता और सौभाग्यवश ही मिलता है। यह है हिन्दू-समाज की स्थिति। मुसलमानों में तो इसमें और भी शिथिलता है। तात्पर्य यह कि इस सम्बन्ध का औचित्य अथवा अनौचित्य समाज विशेष के परम्पराप्राप्त संस्कारों पर निर्भर रहता है। व्यवस्था-विशेष के अनुरूप जन्म से संस्कार बने रहने के कारण किसी समाज की बालिका किसी विशेष सम्बन्धी के प्रति पति का भाव रखने में अमर्यादा अथवा संकोच का अनुभव नहीं करती। दूसरे समाज की बालिका उसे ही घोर लज्जाजनक तथा पापपूर्ण समझती है। अतः समाज के परम्परागत नैतिक बन्धनों से परे शुद्ध काम भाव का नग्न रूप किसी भी पुरुष मात्र के प्रति स्त्री का आकर्षक है[2]। वही यहाँ प्रत्यक्ष हुआ है। इसके द्वारा उस अव्यवस्था को

---

१. 'मानस', अरण्य० १०.३-६।

२. 'मोह न नारि नारि के रूपा' में भी गौण रूप से इसी का प्रतिपादन है। तात्पर्य यह कि काम-भाव का सहज आकर्षण परस्पर स्त्री-पुरुष में ही एक दूसरे के प्रति होता है।

समझाया गया है जो इस वृत्ति के कारण कलि के समाज मे उत्पन्न हो गई है और जिसका उल्लेख उत्तरकांड के कलियुग-वर्णन में किया गया है। कहा जा सकता है कि इसे नारी ही मे क्यो चरितार्थ किया गया, पुरुष में क्यो नही? ऐसा नही है। कवि ने पुरुष-स्वभाव की यह निकृष्टता अनेक स्थलों पर स्पष्ट की है। 'मानस' के—

"सरिस स्वान मघवान जुवानू[1]।"

और—

"कलिकाल बिहाल किए मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा[2]॥"

मे भी इसी प्रवृत्ति का दिग्दर्शन है। व्यक्ति विशेष में काम-प्रवृत्ति का स्वरूप-दर्शन नारद मुनि के चरित्र में होता है।

विचारणीय है कि नारद की वह कौन-सी वृत्ति है जो राजकन्या को पुत्री के रूप मे न देख, 'बिरति बिसार', मुग्ध हो, उसे एकटक देखते रहने और पत्नी-रूप मे प्राप्त करने की कामना से उन्हे बावला बना देती है? अन्तर इतना है कि उनके संस्कारों के अनुरूप उसकी अभिव्यक्ति उतने भद्दे ढंग से नहीं होती जितनी शूर्पणखा में। दोनों के व्यक्तित्व में आकाश-पाताल का अन्तर है। पर दोनों के हृदय की वासना मूल रूप मे निस्सदेह एक ही है। नारद के समस्त आख्यान मे उनकी स्थिति कम हास्यास्पद नही है। नारद जैसे मुनि की राजकन्या की रूपासक्ति मे पुरुष मात्र की निन्दा नही देखी जाती तो सुषमा-सागर और शोभा-आगर राम के प्रति शूर्पणखा की रूपासक्ति में नारी मात्र की निन्दा क्यों देखी जाए? शूर्पणखा नारी समाज की प्रतिनिधि नहीं है। वह एक उच्छृंखल राक्षसी है, जो विचरती हुई अपनी सहज वासनाओं की तृप्ति कर जीवन व्यतीत कर रही है। वह उस समाज की है जहाँ रावण द्वारा त्रिलोक की सुन्दरियो का अपहरण कर महलो में रखना निन्दनीय नहीं माना गया। उसने आसक्ति की शिक्षा पाई है, विरक्ति की नहीं। नारद भक्तों के अग्रणी विरक्त संत है। वे मोहग्रस्त है तो शूर्पणखा भी मोह पर विजयी घोषित नही की गई है। विचारणीय है कि श्रृंगार रस को मर्यादित अभिव्यक्ति में पटु तुलसीदास यदि [illegible] के रूप को मर्यादित न रखकर उसके द्वारा कामवृत्ति के [illegible] को स्पष्ट करते हैं तो इसका अवश्य ही कोई

प्रयोजन होगा। उसकी ओर से आँखें फेर उनके उक्त कथन को कोरी नारी-निन्दा समझ लेना उचित नहीं[1]।

लोकद्रष्टा महाकवि अपने विचारों को रामचरित के अतिरिक्त अन्य किसी सूत्र में पिरोना कवित्व शक्ति का दुरुपयोग और शारदा के लिए क्लेशकारी मानते थे[2]। फलतः व्यापक मानव-जीवन की अधिकांश समस्याओं को रामचरित के अन्तर्गत समेटने का सफल प्रयास उन्होंने किया है। काम-प्रवृत्ति समाज के अकल्याण के मूल कारणों में है। अतः इसकी मर्यादा-भंग के दुष्परिणाम का रूप स्त्री एवं पुरुष दोनों में दिखाना उन्हें इष्ट था। रामकथा में जिन पात्रों का उपयोग इसके लिए हो सकता था, उन्होंने किया। नारदमोह कथा राम-जन्म के कारण-रूप में प्रसिद्ध थी और शूर्पणखा की लीला राम-कथा का प्रधान अंग थी। कथा के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध को जोड़ने और कथा के मोड़ने का कार्य इसी आख्यान द्वारा होता है। इस प्रकार उक्त समस्या के लिए उपयुक्त दो पात्र कथा में मिल गए और इन दोनों के द्वारा जहाँ उन्होंने 'कथा-प्रबन्ध' सँवारा वहीं मोहग्रस्त पुरुष और स्त्री की कामान्धता का रूप प्रत्यक्ष कर जन साधारण को यह शिक्षा दी कि उच्चातिउच्च पुरुष और निम्नातिनिम्न नारी में इस वासना का सहज रूप क्या हो सकता है और क्यों इसका नियंत्रण कर संयमपूर्ण धर्माचरणयुक्त जीवन अपनाने की आवश्यकता है।

'मानस' की नारी-निन्दा परक लगभग सभी विवेचनीय उक्तियों पर विचार हो चुका है। तुलसीदास महान् संत थे। उन्होंने 'रामचरितमानस' के द्वारा जीवन के उच्चतम आदर्शों की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया है। लोक-जीवन के उत्कर्ष-हेतु उचित मार्गदर्शन उनका लक्ष्य है। प्रारम्भ में ही उनका कथन है :—

"जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार[3]॥"

जनसाधारण के मार्गदर्शन-हित इन्हीं गुण-दोषों को विलग करके दिखाने की आवश्यकता है जिससे गुण-संग्रह और अवगुण-त्याग हो सके। इसी दृष्टि से

---

१. इस संबंध में 'प्रमदा' के प्रसंग में भी कुछ कहा जा चुका है। उसे यहाँ दोहराना आवश्यक नहीं है। देखिए पीछे पृष्ठ ४३-४४।

२ 'मानस', बाल०, १५ १६।

३ वही, ११।

उन्होने प्रारम्भ में सज्जन-असज्जन का भेद बतलाने के लिए संतो के गुणगान के साथ ही खलो की वन्दना भी की है, जिसमे बड़ी नम्रता से पुरुषों का गुण-दोष-दर्शन है। वहीं इसका कारण भी स्पष्ट कर दिया है :—

"खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥
तेहि ते कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहचाने[1]॥"

वास्तव मे तुलसीदास ने इसी संग्रह-त्याग की दृष्टि से सर्वत्र पुरुष और स्त्री का गुण-दोष-विवेचन किया है। पुरुष विशेष के चरित्र-दर्शन में अथवा प्रसंगानुरूप कवि के कथनों में स्त्री-निन्दा की भाँति पुरुष-निन्दा भी ढूँढी जा सकती है। वास्तव मे न तुलसीदास नारी-निन्दक थे न पुरुष-निन्दक। वे भक्त-शिरोमणि संत थे। उनका लक्ष्य था रामचरित-गान, किसी की निन्दा नही। उनकी कामना यही थी :—

"कबहुँक हौं यह रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु-कृपा ते संत सुभाव गहौंगो।
× × ×
बिगत मान सम सीतल मन पर गुन नहि दोष कहौंगो[2]॥"

यदि यहाँ तुलसीदास राम के समक्ष असत्य भाषण नही कर रहे है, तो निश्चय ही किसी की निन्दा करना उनका लक्ष्य हो नहीं सकता। दोष-दर्शन भी उचित न समझने वाला संत किसी की निन्दा किस प्रकार कर सकता है? लोग तुलसीदास की नारी-निन्दा की चर्चा इस उत्साह से करते हैं और उनके आलोचक उनकी नारी-भावना का प्रश्न आते ही नारी-निन्दा के प्रसंग में ही लीन हो जाते हैं, मानों तुलसीदास ने नारी-निन्दा का झंडा उठाने का व्रत ले रखा हो।

हमारे स्मृतिग्रंथों तथा नीतिग्रंथों में क्या पुरुषों का दोष-दर्शन अथवा निन्दा नही है? परन्तु, पुरुष समाज की प्रधानता और नारी-समाज के अशिक्षित और पिछड़े होने के कारण पुरुष-निन्दा का प्रचार न हो सका। प्रतीत होता है, उक्त प्राचीन ग्रंथों की कुछ उक्तियों का प्रचलन उस समय लोकप्रिय था। तुलसीदास ने उनका परिष्कार और परिहार करने के लिए उन्हें विभिन्न अव-

---

१. 'मानस' बाल०, १०.१-२।

२. 'विनय' पद १७२।

सरों पर इस ढंग से रखा कि उनकी अनुपयुक्तता सिद्ध हो और कुछ शिक्षा भी दी जा सके। बात यह है कि तुलसीदास एक विरक्त संत थे और प्रसिद्ध है कि पत्नी की भर्त्सना के कारण ही उन्हें विराग हुआ था। इसी के आधार पर उनकी इन उक्तियों को नारी के प्रति उनकी द्वेष दृष्टि का परिणाम मान, उन्हें नारी-निन्दक ठहरा दिया गया। जो चल पड़ा सो चल पड़ा। उसकी छान-बीन की अधिक आवश्यकता नहीं समझी गई। तुलसीदास के नारी-निन्दक समझे जाने का यही रहस्य है। अन्यथा हमारे विचार से तो नारी-जाति को जितने ऊँचे आसन पर उन्होंने प्रतिष्ठित किया और उसे पूज्य दृष्टि से देखने की शिक्षा समाज को दी, हिन्दी के अन्य किसी कवि ने नहीं। इसके लिए पुरुष नहीं, तो नारी-समाज को अवश्य ही उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

■

अध्याय ६

कवि के व्यक्तिगत जीवन की छाया

गोस्वामी जी के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों से लेकर हिन्दी के प्रमुख शोधकर्ताओं तक ने बहुत कुछ लिखा है। इस दिशा में अन्तिम शोधकार्य आचार्य चन्द्रबली जी पाडे का है। उन्होंने पहले 'तुलसीदास' में, तत्पश्चात् 'तुलसी की जीवन-भूमि' में इसका विस्तृत विवेचन किया है। उनकी पाडित्यपूर्ण विवेचना में तुलसीदास के जीवनवृत्त का सर्वाधिक प्रामाणिक रूप प्रस्तुत करने का प्रयास है। पाडे जी की स्थापनाओ मे गोस्वामी जी की माता और उनकी पत्नी के सम्बन्ध मे भी कुछ नूतन विचार हैं। अनेक विद्वानों ने अंतःसाक्ष्य के आधार पर तुलसीदास के व्यक्तिगत जीवन का स्वरूप प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। परन्तु उनकी पत्नी का जो स्वरूप था और उसका जो प्रभाव उनपर पड़ा तथा उनका माता एवं अन्य स्त्रियों से जो कुछ सम्पर्क रहा, वह किस रूप में उनके काव्य मे प्रतिबिम्बित हुआ है, इसका सूक्ष्म निरीक्षण एवं विश्लेषण किसी ने नहीं किया। इस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न यहाँ किया जाता है।

तुलसीदास की माता का क्या नाम था, उनका पर्यवसान बालक के जन्म-काल मे ही हुआ अथवा कुछ काल पश्चात्, इसमें आलोचको में मतभेद अवश्य है। परन्तु, यह प्रायः सभी मानते है कि वे मातृविहीन थे। पिता से भी उन्हें बाल्यावस्था में ही वियुक्त होना पड़ा। यह भी प्रायः सभी ने स्वीकार किया है कि पत्नी की भर्त्सना से ही विरक्त होकर तुलसीदास राम-भक्ति की ओर उन्मुख हुए। अनेक विचारकों को उनके जीवन की इस अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण घटना का प्रतिबिम्ब उनकी तथाकथित नारी-निन्दा में दिखाई पड़ा है।

हमें यह देखना है कि उनके व्यक्तित्व पर नारी का जो प्रभाव पड़ा, उसकी छाया किस प्रकार उनके काव्य में प्रतिबिम्बित हो उसकी शोभा का कारण बनी। सर्वप्रथम माता पर विचार करना उचित होगा।

इसमें संदेह नहीं कि गोस्वामी जी बाल्यावस्था से ही माता के सहज स्नेह एवं वात्सल्य से वंचित रहे। जिज्ञासा होती है कि इस स्थिति में उनके काव्य में उसका जो स्वाभाविक और मार्मिक रूप चित्रित हुआ है क्या वह उनकी कल्पना मात्र का प्रसाद और व्यक्तिगत अनुभूति से एकदम अछूता है ? यदि यह सम्भव नहीं तो क्या कवि ने सौभाग्यवश किसी माता के पुनीत स्नेह की अनुभूति प्राप्त कर ली थी, जिससे वह उसका स्वाभाविक एवं उदात्त रूप अपने काव्य में अंकित कर सका ?

तुलसीदास अपने काव्य में कहीं सीता से 'मातु', 'अंब', तो कहीं राम से 'बाप', 'माय-बाप' या 'माय' कहकर विविध प्रकार से निवेदन करते हैं। अतः पहले यह देख लेना ठीक होगा कि सीता तथा राम के माता एवं पिता-रूप की उनकी भावना क्या है। सीता के वात्सल्य की किंचित् झलक 'गीतावली' में लव-कुश के प्रसंग में मिलती है। हाँ, जगज्जननी के नाते हनुमान अथवा भरत को आशीर्वाद देते हुए उनके मातृहृदय का परिचय अवश्य मिलता है। भरत के प्रति उनका प्रेमातिरेक मौन द्वारा व्यक्त होता है और 'मगन सनेह देह सुधि नाही'[१] की अवस्था हो जाती है। हनुमान के प्रति उनके वात्सल्य के दर्शन अशोकवाटिका में होते हैं[२]।

भक्तों पर राम की कृपा के स्वरूप का गुणगान सर्वत्र है तथा उनके चरित में बराबर इसके दर्शन होते हैं। जिस भाव से द्रवीभूत हो वे भक्तों से प्रेम और उनपर कृपा करते हैं, उसे भी तुलसीदास ने स्पष्ट कर दिया है। अपने परम प्रिय काकभुशुंडि एवं नारद से राम ने अपनी भक्तवत्सलता का जो रहस्य प्रकट किया है, वह बड़े महत्त्व का है। प्रस्तुत विषय से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। काकभुशुंडि के मोहग्रस्त होने पर उन्हें 'रघुपति प्रेरित' माया व्याप गई[३]। फलत. उन्हें प्रभु के परम रूप का बोध हुआ और 'अविरल विशुद्ध भक्ति'[४] का वरदान देते हुए भगवान् ने उनसे कहा :—

---

१. 'मानस', अयो०, २४१.१६। २. वही, सुन्दर०, १६.२-४।

३ वही. उत्तर०, ७७.१।

४ वही, ८४।

"माया संभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि[1] ।।"

तथा उन्हे आदेश दिया :—

"मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि सुनु काग ।
काय बचन मन मम पद करेसि अचल अनुराग[2] ।।"

उन्होंने अपनी भक्त-वत्सलता का सिद्धान्त विस्तार से समझाते हुए कहा.—

"निज सिद्धान्त सुनावौ तोही । सुनि मन धरु सब तजि भजु मोहीं[3] ।।"

तदनन्तर उन्हे समझाया कि मेरी माया-सभव सृष्टि में मुझे मनुष्य सर्वाधिक भाते है । उनमे द्विज, द्विजों मे 'श्रुतिधारी' उनमे 'निगम धर्म अनुसारी' उनमे विरक्त और ज्ञानी, और ज्ञानी से भी अधिक मुझे विज्ञानी प्रिय है[4] । परन्तु :—

"तिन्ह तें पुनि मोहि प्रिय निज दासा । जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ।।
पुनि पुनि सत्य कहौं तोहि पाही । मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाही ।।
भगति हीन बिरञ्चि किन होई । सब जीवहु मम प्रिय मोहि सोई ।।
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी । मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी[5] ।।"

भक्तवत्सल की इस वाणी का प्रत्येक शब्द गम्भीरतापूर्वक मनन करने योग्य है । उन्होंने इतनी दृढतापूर्वक अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन शायद ही कही किया हो । वे काक को सावधान कर पुनः कहते है .—

"सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहु न लाग ।
श्रुति पुरान कह नीति अस सावधान सुनु काग ॥
एक पिता के बिपुल कुमारा । होहिं पृथक गुन सील अगारा ।।
कोउ पंडित कोउ तापस ज्ञाता । कोउ धनवन्त सूर कोउ दाता ।।
कोउ सर्वज्ञ धर्मरत कोई । सब पर पितहि प्रीति सम होई ।।
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा । सपनेहु जान न दूसर धर्मा ।।
सो सुत पितु प्रिय प्रान समाना । जद्यपि सो सब भाँति अयाना[6] ।।"

प्रमाणित हो गया कि सब भाँति अयाने, परन्तु मन-वचन-कर्म से शरणागत भक्त से भगवान् पितातुल्य प्रेम करते है । इतना ही नहीं, वह पिता के प्रगाढ-

---

१. 'मानस', उत्तर० ८५ । २. वही, ८५ ।
३. वही, ८५.२ । ४ वही, ८५,३-६ ।
५ वही, ८५.७-१०
६ वही ८६, ८६.४

तम वात्सल्य का भी अधिकारी हो सकता है। इससे अंत में काक को यह आदेश मिलता है :—

"सत्य कहौ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब[1] ॥"

इसमें संदेह के लिए अवकाश नहीं रहा कि सभी सेवकों पर प्रेम होते हुए भी उन्हें वही सेवक पुत्र-तुल्य प्राणप्रिय होता है जो सबका भरोसा छोडकर एकमात्र उन्ही को शरण गहता है। ऐसे पुत्र-प्रेमी कृपानिधान जब उसकी हित-चिंता में लीन होते है, तब माया-कटक के प्रबल सेनानियों से उसकी रक्षा क ने के लिए वे शक्तिरूपिणी माता का भाव धारण करते है। उनके इस भाव का स्पष्टीकरण काकभुशुंडि ने गरुड से किया है :—

"सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥
संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना ॥
ताते करहि कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी ॥
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाई। मातु चिराव कठिन की नाई ॥
जदपि प्रथम दुख पावै रोवै बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनत न सो सिसु पीर ॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि[2] ॥"

अंतिम पक्ति में तुलसीदास का श्रोता के प्रति आदेश स्मरणीय है। 'ऐसे प्रभुहि' का सकेत—'जो प्रभु मातृस्नेह प्रदान करते है'—स्पष्ट है।

स्वयं भगवान् ने अपने इस प्रबल प्रेम का रहस्य अपने परम प्रिय भक्त नारद मुनि के समक्ष भी खोला है :—

"सुनि मुनि तोहि कहौ सह रोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥
करौ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी ॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तह राखै जननी अरगाई ॥
प्रौढ भये तेहि सुत पर माता। प्रीति करै नहि पाछिलि बाता ॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी ॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहुँ काम क्रोध रिपु आही[3] ॥"

---

१. 'मानस' उत्तर० ८७।
२ वही, ४ ७,७४।
३ वही अरण्य० १६ ४ ६

यहाँ भी 'भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा' वाले भक्तों के प्रति ही प्रभु के मातृस्नेह की अभिव्यक्ति है। शिशु की रक्षा में तत्पर माता की भाँति ममता करनेवाले भगवान् के इस प्रेम के लिए कौन भक्त लालायित न हो उठेगा ? जन्म से ही माता के मधुर वात्सल्य और बालकाल से ही माता-पिता दोनो की वात्सल्यपूर्ण छाया से वंचित तुलसीदास के इस भाव के भूखे हृदय ने निश्चय ही इसी प्रेम की प्राप्ति में अपने जीवन के इस अभाव की पूर्ति एवं संतोष की अनुभूति की होगी। उनका-सा सेवक भक्त भगवान् की इन घोषणाओं और उनके प्रेम के इस रूप की उपेक्षा करे, यह असम्भव है। निदान, उनके हृदय में यही कामना बनी रही कि मुझ 'सिसु' को भी भक्तवत्सल इसी भाव से अपना लें। उनकी दीनता, निराश्रयता, निरवलंबता, प्रेमातुरता और राम-प्रेम की प्राप्ति की आकुलता के दर्शन उनकी रचनाओं में सर्वत्र होते हैं। 'कवितावली' के उत्तरकाण्ड और 'विनय पत्रिका' में तो उन्होंने अपना हृदय विशेष रूप से खोलकर रख दिया है। उनका इष्ट यही है कि प्रभु के वचनानुसार समस्त संसार का भरोसा और आशा त्याग कर एकमात्र उन्हीं के शरणागत अनन्य सेवक बनें जिससे उन्हें ही माता-पिता के रूप में प्राप्त कर उनके स्नेहभाजन बन सकें। राम के प्रति उनके अनन्य प्रेम की भावना पग-पग पर व्यक्त हुई है। एक उदाहरण है :—

"एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास[1]॥"

अन्यत्र और भी स्पष्ट कर देते हैं :—

"भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
× ×
प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय बाप दोउ आखर हौं सिसु-अरनि अर्यो[2]॥"

इस प्रकार तुलसीदास ने बार-बार स्पष्ट कर दिया है कि उन्होंने भी 'परिहरि आस भरोस सब' 'सिसु' की भावना से भगवान् की शरण गही है। इसी प्रीति के कारण उन्हें प्रतीति भी हो सकी है कि प्रभु के वचनानुसार वे उनके 'बालक सुत' होने के अधिकारी हैं। इसी भावावेश में वे राम को 'बाप', 'माय' 'माय-बाप' तथा सीता को 'मातु' और 'अंब' कहकर पुकार उठते हैं।

---

१. दो० २७७ २. 'विनय', पद २२६।

राजा राम के दरबार मे प्रस्तुत 'विनय-पत्रिका' में बारम्बार प्रभु और स्वामी की पुकार है, परन्तु उसे पेश करते हुए अन्त में बालक की ही भावना सजग होकर बोल उठी है :—

"विनयपत्रिका दीन की बापु ! आपही बाँचो[1] ।"

अन्यत्र भी 'बाप' का सबोधन है। कलि की कुचाल से रक्षा की प्रार्थना करते हुए निवेदन होता है :—

"नाम के प्रताप, बाप ! आज लौं निबाही नीके
आगे को गोसाईं स्वामी सबल सुजान है।
× × ×
तुलसी की, बलि बार बार ही सँभार कीबी।
जद्यपि कृपानिधान सदा सावधानु है[2] ॥"

यद्यपि यहाँ 'कृपानिधान' को 'बाप' के साथ 'स्वामी' भी कहा गया है, तथापि 'सदा सावधानु' के विशेपण और 'बार बार ही सँभार कीबी' के आग्रह मे बाप का नाता प्रत्यक्ष झलक रहा है।

भक्त की भावना है कि सेवको के लिए उनके सर्वस्व राम 'माय बाप' तुल्य सदा सुगम है। इसी से अपने मन से उसका आग्रह है :—

"ऐसेउ साहब की सेवा सों होत चोर रे ?
अपनी न बूझि, ना कहे को राढ़रोर रे !
मुनि-मन-अगम, सुगम, माइ बाप सो
कृपासिन्धु, सहज सखा, सनेही आप सो[3] ॥"

तुलसीदास ने सीता को माता के रूप में ही देखा है। उन्हे 'स्वामिनी' और 'साहिबिनी' भी कहा है, किन्तु उनसे व्यक्तिगत रूप में जहाँ विशेष याचना करनी है वहाँ यही कहते है :—

"कबहुँक अम्ब अवसर पाइ[4] ।"

अथवा—

"कबहुँ समय सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी[5] ।"

---

१. 'विनय०', पद २७७। २. 'कविता०', उत्तर० ८०।
३ 'विनय०', पद ७१ ४ वही, पद ४१
५. वही, पद ४२।

इसके साथ यह भावना भी अत्यन्त स्वाभाविक है कि 'माय-बाप' भी मुझे अपना लें। मैं तो बार-बार कहता हूँ—'मैं तुम्हारा ही हूँ।' पर, वे भी तो एक बार कह दें—'तू मेरा है।' यही आतुरता इस निवेदन मे प्रत्यक्ष है :—

"वेष विराग को, राग भरो मनु, माय ! कहौ सतिभाव हौं तोसों।
तेरे ही नाथ को नाम लै बेचि, हौ पातकी पामर प्राननि पोसों।
एते बड़े अपराधी-अघी कहँ, तैं कहु अंब को मेरो तु मोसों।।
स्वारथ को परमारथ को, परिपूरन भो फिरि घाटि न हो सों[१]।।"
बस, माँ ! एक बार कह दे 'तू मेरा है।'

यही आर्त विनय राम से भी है :—

"तू गरीब को निवाज, हौ गरीब तेरो।
बारक कहिए कृपालु ! तुलसिदास मेरो[२]।।"

भक्त के सर्वस्व भगवान् भले ही स्वामी, सखा, गुरु अथवा बन्धु के रूप में किसी के सहायक हों, तुलसीदास पिता से आगे बढकर उनका मातृसुलभ वात्सल्य प्राप्त करने के अभिलाषी है। अत: निवेदन करते है :—

"करिय सँभार कोसलराय।
और ठौर न और गति, अवलम्ब नाम बिहाय।
बूझि अपनी, आपनौ हित आप बाप न माय।
राम राउर नाम गुरु सुर स्वामि सखा सहाय[३]।"

कलियुग का प्रहार हो रहा है। रक्षा के लिए पुकार है। भक्त का निवेदन है कि हे राम ! आपका नाम भक्तों का सर्वस्व है। उनका गुरु, स्वामी, सखा, सहायक सभी कुछ वही है। मुझे भी आपका नाम छोड़ न और कही ठौर है न और कही मेरी गति ही है। मेरी समझ मे तो यही आता है कि मेरे हित के लिए आप 'बाप' ही नहीं, 'माय' भी है[४]। अत: सब प्रकार से मेरी रक्षा का

---

१. 'कविता०', उत्तर० १३७।

२. 'विनय', पद ७८।

३. वही, २२०।

४. इसका अर्थ यह भी लगाया जा सकता है कि हे राम ! आपका नाम गुरु, स्वामी सखा, सहायक सभी कुछ है। पर, आप स्वयं मेरे लिए बाप नहीं माँ ही हैं।

भार आप ही पर है। यह 'बालक सुत सम दास अमानी' का आग्रह है। उस कलियुग की शिकायत हो रही है जो राम-राज्य में कुछ न बिगाड़ सका और अब जगत्पति के सेवकों से बदला चुका रहा है। विनय बाल-स्वभाव के अनुरूप ही है कि यदि आप इसे मना नहीं करते तो हनुमान जी से ही कहिए, वही इसे डराएँ। उनको देखते ही यह घबराकर भाग जाएगा :—

"निकट बोलि न बरजिए बलि जाऊँ हनिय न हाथ।
देखिहै हनुमान गोमुख नाहरिनि के न्याय के न्याय॥
अरुन मुख भ्रू बिकट, पिंगल नयन रोष कषाय।
बीर सुमिरि समीर को घटिहै चपल चित चाय[1]॥"

विनय का प्रभाव अनुकूल होता है। प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं :—

"विनय सुनि बिहँसे अनुज सों बचन के कहि भाय।
× × × ×
भली कही कह्यौ लखन हूँ हँसि बने सकल बनाय।
दई दीनहि दादि सो सुनि सुजन-सदन अघाय।
मिटे संकट सोच पोच प्रपंच पाप-निकाय।
पेखि प्रीति प्रतीति जन पर अगुन अनघ अमाय।
दास तुलसी कहत मुनिगन, जयति जय उरगाय[2]॥"

वे लक्ष्मण को तुलसी के वचनों के भाव समझाकर हँसते हैं। यहाँ कौन सा विशेष भाव है, जिसे समझाने की आवश्यकता है? कलियुग का अत्याचार तो लक्ष्मण भी समझ ही रहे हैं। तुलसीदास की भाषा में कोई ऐसी क्लिष्टता भी नहीं कि उसके भाव लक्ष्मण से समझा कर कहना पड़े। कवि के निवेदन में कहा गया कि आप माता हैं और इसी से गूढ़ संकेत किया गया कि फिर अपने मातृ-तुल्य स्नेह की जो विशेषता नारद से समझा चुके हैं वह कहाँ गई? बालक की रक्षा अग्नि और सर्पादि से करने की आपकी स्वभाव-गत वह आतुरता इस समय कहाँ है, जबकि भक्तों पर कलियुग का प्रहार हो रहा है? यही 'बचन के भाय' हैं जिन्हें समझ कर जगत्पिता बिहँस पड़े, और लक्ष्मण को भी समझाया कि देखो यह व्यंग्य है तुलसीदास का! लक्ष्मण भी हँस कर कहने लगे—'ठीक ही तो कहा'। बस, तुलसीदास की बन गई। दीनबन्धु ने दीन

---

१. विनय पद—२२०

२. वही

की दाद क्या दी, संत-समाज मे बधाइयाँ बजने लगीं। सारे संकट और सोच समाप्त हो गए। भक्त पर भगवान् की ऐसी पवित्र और निष्कपट प्रीति एवं प्रतीति देखकर मुनिगण भी भगवान् का जय-जयकार करने लगे।

तुलसीदास ने यहाँ संदेह के लिए स्थान नहीं रहने दिया कि उनकी यह भावना भगवान् को प्रिय हुई। जब प्रभु ने भक्त को 'बालक मुत' के रूप में अंगीकार कर लिया तो भय ही क्या? उसने डंके की चोट घोषित किया कि उसे किसी नर की चिन्ता नहीं, क्योंकि जगत्पति तक उसकी गति हो गई है :—

"जग में गति जाहि जगत्पति की परवाह है ताहि कहा नर की।"[1]
ऐसे अनेक स्थल है जहाँ उन्होंने राम के बल पर अपनी पूर्ण निश्चिन्तता प्रकट की है। वे राम से उनकी सौगन्ध खाकर कहते है कि मुझे अपनी नही, तुम्हारी चिन्ता है। तुम्हारी प्रतिज्ञा बनी रहे और विरद में कलंक न लगे इसीलिए मैंने तुमसे कलियुग से रक्षा करने की पुकार की है। तुम 'मायबाप' होकर भी रक्षा न कर सके तो? निवेदन है :—

"सखा न, सुसेवक न, सुतिय न, प्रभु आप
माय बाप तुही साँचो तुलसी कहत
मेरी तो थोरी ही है सुधरैगी बिगरियौ
बलि राम रावरी सौ रही रावरी चहत[2]॥"

"मेरी प्रतिष्ठा थोड़ी ही है, बिगड़ेगी भी तो कभी सुधरेगी ही। पर, तुम्हारी प्रतिष्ठा बनी रहे, यही चाहता हूँ। सच कहता हूँ, इस चिन्ता का कारण यही है कि तुम्हीं मेरे माँ-बाप हो।" भक्त का निवेदन स्वाभाविक है। माता-पिता की प्रतिष्ठा की चिन्ता किस सुपुत्र को न होगी?

सौन्दर्य तथा प्रेम दोनो की शोभा नित्य नूतन रहने में है। अतः सेवक का यह प्रेम भी नित्य नवीन भाव-तरंगो में तरंगित होता रहता, और नए-नए रूप धारण करता है। माता के दुलार का अभ्यस्त बालक बात-बात में उससे झगड़ता है, रोता है, हठ करता है और जो चाहता लेकर ही रहता है। तुलसीदास की भी कभी-कभी वही स्थिति हो जाती है। सुग्रीव और विभीषण की 'कुचाल' और 'करतूत'[3] को तरह देने वाले 'बाप' से तुलसी क्यों न झगड़े?

---

१. 'कविता०', उत्तर० २७। २. 'विनय', पद २५६।

३ स्मरणीय है कि राजसभा में भरत से भेंट करते समय सम्मान करने वाले प्रभु का गुणगान है देखिए 'मानस बाल० १३ ६ ८

उन दोनों ने तो 'बालक सुत' के समान समर्पण नही किया, फिर भी उनके साथ यह पक्षपात क्यो ? किस निर्भीकता से अपनी खीझ व्यक्त की जा रही है :—

"बानर बिभीषन की ओर के कनावड़े है,
सो प्रसंग सुने अंग जरै अनुचर को।
राखे रीति आपनी जो होइ सोइ कीजै, बलि,
तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को[1]॥"

भले ही 'घर जायउ' अथवा 'घर जायो' की व्याख्या पर विद्वान् झगड़ते रहे, हमे उससे प्रयोजन नहीं। हमे तो देखना है उस खीझ को जो और भी तीखे रूप मे प्रकट हो, ढिठाई का रूप धारण कर रही है :—

"परम पुनीत सत कोमलचित्त तिनहिं तुमहि बनि आई।
तौ कत बिप्र व्याध गनिकहि तारेहु ? कछु रही सगाई[2]"

निश्चय ही यहाँ भरत-चरित में कठोर सेवकधर्म की व्याख्या करने वाले 'गुलाम' तुलसीदास के सेवकधर्म का निर्वाह नहीं, 'माय बाप' कहने वाले तुलसीदास (राम बोला) का बाल-हठ है कि "मुझे भी तारना ही होगा, नही तो अजामिल, व्याध और गणिका को क्यों तारा ? क्या उनसे तुम्हारा कुछ सगापन था ?" आज अपने अधिकार का दावा करने वाला 'बालक सुत' किसी प्रकार का पक्षपात सहन नही कर सकता।

प्रत्यक्ष है कि माता-पिता के ममत्व के भूखे भावुक भक्त को जब राम-कृपा का सहारा मिला और संसार त्याग एकमात्र उन्हीं का भरोसा किया तब उसने उन्ही में अपने इस अभाव की पूर्ति देखी और उन्ही के कृपा-पूर्ण स्नेह में माता-पिता का प्रेम चरितार्थ होते पाया। माता के इस दिव्य रूप की अनुभूति के परिणामस्वरूप माता का दिव्य आदर्श 'मानस' में प्रतिष्ठित हुआ।

तुलसीदास के जीवन में माता-पिता की जो स्थिति रही उसका पर्याप्त विवेचन हो चुका। अब अन्य संबधो पर भी विचार कर लेना है। उनकी बहन के सम्बंध में कही कुछ पता नही चलता। राम कथा में बहन का कोई ऐसा स्वरूप नहीं जिसके आधार पर तुलसीदास के कोई बहन होने की सम्भावना पर विचार किया जा सके।

---

१. कविता०, उत्तर० १२२। 'घर जायउ' का पाठ 'घर जायो' भी माना जाता है।

२. विनय०', ११२

पुरुष के जीवन में पत्नी का योग सर्वाधिक होता है। माता जन्मदात्री ही नही, पुत्र की चरित्र-निर्मात्री भी होती है तो पत्नी पति की अभिन्न सहचरी होकर जीवन-निर्वाह करती हुई इहलोक के साथ उसके परलोक-साधन में भी योग देती है। गोस्वामी जी के जीवनवृत्त के विचारकों एवं शोधकर्त्ताओं में प्राय. सभी इससे सहमत है कि वे विवाहित थे, पत्नी पर अत्यन्त आसक्त थे और उसकी भर्त्सना से ही विरक्त होकर राम-भक्ति में लीन हुए। उनका विवाह राजापुर मे अथवा उसके आस-पास कही हुआ था यह भी सर्वमान्य है। यहाँ प्रयोजन इतना ही है कि तुलसीदास को विवाहित जीवन और तत्सम्बन्धी ससुराल के अन्य सबंधियों के कुछ अनुभव अवश्य ही रहे होगे। माता-पुत्री के स्नेह तथा पुत्री की बिदाई के दृश्य का अनुभव, किसी भी विवाहित पुरुष के लिए स्वाभाविक है, और है स्वाभाविक सास के प्रति उस विनयपूर्ण व्यवहार का अनुभव भी जो बिदा के समय किसी कोमलचित्त नवयुवक का उसके प्रति होता है। ऐसे प्रसगो के वर्णन व्यक्तिगत अनुभव के कारण ही इतने मार्मिक और स्वाभाविक बन पडे है, यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा।

एक और भी मधुर प्रसंग है सखियो का। 'रामचरितमानस', 'कवितावली' और 'गीतावली' मे विशेष रूप से सखियो की चहल-पहल, उनकी चुहल, छेड-छाड, मधुर हास-परिहास और विनोद, शृंगार के प्रसग में खूब खुले और खिले है। प्रतीत होता है अपनी ससुराल में इसके लिए कवि को पर्याप्त सामग्री अवश्य मिली थी। उनका ससुराल में रहना प्रसिद्ध भी है।

तुलसीदास के काव्य में शृंगार रस के प्रसगों में अनेक मनोहारी चित्र, हृदयहारी मनोदशाएँ तथा अनूठी झाँकियाँ है। उदाहरण के लिए एक झलक यहाँ है :—

"राम को रूप निहारति जानकी ककन के नग की परछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं[1]॥"

शृगार रस के अन्तर्गत आने वाले रमणीय रूप-विधान मर्यादाबद्ध होने के कारण भले ही सबको एक-सा आकर्षित न करें पर उनका निरीक्षण और मनन करने पर किसी भी सहृदय पाठक का इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि उनके मूल में व्यक्तिगत अनुभूति की गहराई अंतर्हित है, असगत नही कहा जा सकता। राम ने सीता के पास हनुमान के द्वारा जो प्रेम-संदेश भेजा है, उसकी कल्पना

---

१ कवित्ता० बाल० १७

जितनी किसी भुक्तभोगी के द्वारा संभव है उतनी किसी अविवाहित ब्रह्मचारी के द्वारा नही। निश्चय ही कवि के अल्पकालीन प्रेममय दाम्पत्य जीवन की छाया उनके शृंगाररस परक काव्य को कान्तिमान कर रही है।

महाकवि के आलोचकों द्वारा ग्रामवधुओं की चर्चा बराबर होती रहती है। यह प्रसंग भी कवि के मनभाये प्रसंगों मे से है। इसका चित्रण उन्हे इतना प्रिय है कि कही भी उन्होने इसे चलता नही किया, बल्कि विशेष विस्तार कर इसे अत्यन्त सरस रूप देने का प्रयत्न किया है। इसीसे जान पड़ता है कि उनकी वृत्ति इसमें विशेष रूप से रमी है। ग्राम-नारियो मे सरसता, सात्विक स्नेहार्द्रता, सहानुभूति और नारी-सुलभ कोमलता के साथ-साथ सरल विनोद की जो प्रवृत्ति देखी जाती है और उसका चित्रण जिस स्वाभाविकता तथा जिस रुचि से किया गया है उससे परिलक्षित होता है कि अपने जीवन मे कवि ने इनका साक्षात्कार अवश्य किया है। तुलसीदास की कोटि के महाकवि के व्यापक अनुभव मे किसी प्रकार की शंका उचित नही, तथापि ससुराल के जीवन में ग्रामीण स्त्रियों के स्वभाव और व्यवहार का उनका अनुभव इस सफलता का एक कारण मान लेना अनुचित नहीं जान पड़ता।

अब तुलसीदास की पत्नी के स्वरूप तथा उनसे संबंधित अन्य बातों पर विचार कर यह देखना है कि उनकी छाप महाकवि के काव्य में कहाँ और किस रूप में देखी जा सकती है। उन्होंने अपनी पत्नी के संबंध में खुलकर कहीं कुछ नहीं लिखा, परन्तु लौकिक समृद्धियो में सुन्दरी पत्नी की भी गणना की है[1], और भगवान् शिव द्वारा प्रदत्त वरदानों मे उसे प्रथम स्थान दिया है[2]। प्रसिद्ध है कि गोस्वामी जी अपनी रूपवती पत्नी से अत्यधिक प्रेम करते थे[3]। उनका

---

१. 'कवित्ता०', उत्तर० ४४, ४५।

२. 'रति सी रवनि सिंधु-मेखला-अवनि पति,
अवनिप अनेक ठाढ़े हाथ जोरि हारि कै।

× × ×

आक के पतौआ चारि, फूल द्वै धतूरे के,
दीन्हे ह्वै हैं बारक पुरारि पर डारि कै।
'कवित्ता०', उत्तर० १६४।

३ इस प्रसंग में 'विनय-पत्रिका' में लिपिबद्ध एक पंक्ति की ओर ध्यान जाता है
'कबहुँ देख बम बनमव रिपुमय कबहुँ नारिमय मासै' पद ८१

नारी-सौन्दर्य-निरीक्षण भी इसे पुष्ट करता है। उनकी लावण्यमयी पत्नी ने ही उन्हें राम से मिला दिया। फिर कोई कारण नही कि नारी के दिव्य रूप का बोध हो जाने पर भी वे उसके रूप-सौन्दर्य को हेय समझें और उसे अपने काव्य में स्थान न दें। राम के प्रेमाश्रुओ से प्रक्षालित निर्मल दृष्टि ने नारी के सौन्दर्य को पवित्र भाव से देखा और उसी भाव से अन्यो को उसका साक्षात्कार कराने के लिए उनकी लेखनी ने उसे अंकित किया। नारी के रूप को छबि काव्य मे किस प्रकार उतारी गई है, इसका विवेचन किया जा चुका है। यहाँ उसके मनोवैज्ञानिक आधार पर भी कुछ विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

आज मनोविज्ञान की धूम है। उसी के आधार पर मानसिक एवं अनेक शारीरिक रोगो का निदान और उपचार भी किया जाता है। मानसकार ने भी मानस-रोगो का विवरण दिया है। अन्तर यही है कि उन्होंने सभी की एक ही रामबाण ओषधि—रामप्रेम—खोज निकाली है। यह स्वानुभूति की कसौटी पर कसकर खरी प्रमाणित की गई है और 'परहित निरत' संत-स्वभाव के अनुसार इसका वितरण 'मानस' द्वारा सुलभ कर दिया गया है।

यहाँ फ्रायड अथवा एडलर के सिद्धान्तों का विवेचन अपेक्षित नहीं है। मनोविज्ञान की यह मान्यता निर्विवाद स्वीकृत हो चुकी है कि चेतन मन में अरुचिकर लगने वाली वस्तु अथवा भाव अन्तश्चेतन मे घर कर लेता और अवसर पाकर विविध रूपो में व्यक्त होता है। वह स्वप्न में कभी निकृष्ट तो कभी उदात्त रूप मे प्रकट होता तथा कभी मानसिक ग्रंथियों का रूप धारण कर किसी के स्वभाव एवं व्यक्तित्व में विकृतियाँ उत्पन्न कर जीवन में उलझनें उत्पन्न किया करता है। मनोवैज्ञानिक विविध उपचारो द्वारा उस भाव का पता लगाया करते हैं जो कभी अरुचिकर होने से दबा दिया गया और अब उभड़कर उत्पात मचा रहा है। गोस्वामी जी के जीवन मे उसका यह रूप नही है। यह दशा उस मस्तिष्क की होती है जिसका चेतन मन किसी विशेष बात का चिन्तन करना चाहता है परन्तु परिस्थितिवश उसे दवाना पडता है। बरबस दबाई हुई यह भावना मौका पाकर दूनी शक्ति से उभरती और अवांछित होने से विकृत रूप धारण करती है। तुलसीदास की मनोदशा इससे भिन्न है। नारी-सौन्दर्य की चाह को दबाया नही गया, उसके स्वरूप मे ही परिवर्तन हो गया। उस भौतिक रूप में ही दिव्य रूप का साक्षात्कार हो गया। दोनों मे कोई विरोध उत्पन्न नही हुआ। विरोध होने पर ही विकृति और उत्पात का अवसर आता इस प्रकार जब कामदृष्टि रामदृष्टि म परिवर्तित हुई तथा

अलौकिक राम का चरित लौकिक रूप मे लिपिबद्ध हुआ और काव्य एवं अध्यात्म के अनुरोध से नारी की छवि अंकित करने का समय आया, तब वही स्थूल सौन्दर्य उदात्त रूप धारण कर काव्य मे नारी-सौन्दर्य-चित्रण के रूप मे प्रकट हो गया। काम की दृष्टि से देखा गया वह रूप मन मे बस गया था। जब नारी-प्रेम का स्थान राम-प्रेम ने लिया और जगत् प्रभुमय प्रतिभासित होने लगा तो वही रूप पवित्र भावनाओं का उद्बोधक हुआ। वह दूषित दृष्टि अब नहीं रही जो सौन्दर्य का अस्थिचर्ममय पक्ष ही देखने के कारण कभी भर्त्सना की पात्र बनी थी। सीधे शब्दों में इसका साराश यह है कि प्रियतमा की जो सुषमा तुलसीदास के मानस-पटल पर कभी अंकित हो चुकी थी वह वही बनी रही और उनके नारी-सौन्दर्य-चित्रण में वही श्रद्धा एवं पूज्य भाव की अधिकारिणी सिद्ध हुई, कुछ काम-भाव की उत्तेजक नही[१]।

यही कारण है कि पूर्ण भक्ति-भाव से जगदम्बा के अंग-प्रत्यंग की छवि के वर्णन की क्षमता होते हुए भी ऐसा नही हुआ और यत्र तत्र सभवत. वे ही रूप सम्मुख आए जो कभी हृदय को प्रभावित कर चुके थे। कहीं चिबुक का तिल, कर्णाभूषण, तिरछी चितवन, 'ककन किंकिन नूपुर ध्वनि' तो कही नारी की शृंगार-सुसज्जित शोभा प्रसंगवश सम्मुख आती रही। इस प्रकार नारी-सौन्दर्य-वर्णन मे कवि के व्यक्तिगत जीवन की छाया आलोकित हो उठी है।

तुलसीदास की पत्नी का नाम कुछ लोग रत्नावली मानते है। अन्यों का मत हुलसी के पक्ष मे है[२]। जो हो, यह सर्वमान्य है कि उसकी भर्त्सना ने हो

---

१. प्रत्येक असामान्य (एब्नार्मल) प्रवृत्ति के मूल में काम (सेक्स) को मानने वाले पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक प्रबल भक्ति-भाव को भी असामान्य अतः कामवृत्ति का मार्गान्तरण (सब्लीमेशन) मानते हैं। अस्तु, जिन लोगों के मतानुसार भक्ति-भावना मनुष्य के लिए स्वाभाविक न होकर दबी हुई कामवृत्ति का ही उदात्त रूप है, उनकी कसौटी पर यहाँ की संस्कारगत स्वाभाविक भक्ति-भावना को कसना उचित नही। अच्छा हो यदि भारतीय मनोवैज्ञानिक इस सम्बन्ध में अनुसधान करें।

२. रामनरेश त्रिपाठी ने इस ओर संकेत किया है तथा आचार्य चन्द्रबली जी पाडे ने इसे प्रमाणित करने के प्रयत्न में जो तर्क दिए है उनका खंडन अबतक नहीं किया गया है।

देखिए 'तुलसी की जीवन भूमि' पृ० १८४-८८।

तुलसीदास की जीवन-दृष्टि में परिवर्तन उपस्थित कर दिया। विवाह के संबंध में आचार्य चन्द्रबली जी पाडे का झुकाव तुलसीदास के प्रेम-विवाह के पक्ष में है। उनका यह अनुमान है कि 'तुलसी गोसाईं भयो' के बाद ही उन्होंने विवाह किया था[1]। पत्नी की फटकार ने ही उसकी रूपासक्ति से विरत किया और उनकी रामभक्ति पुन: जागरित हो उठी। इस सम्बन्ध में पांडे जी के अभिमत का कुछ अंश यहाँ उद्धृत करना उपयुक्त होगा। वे कहते हैं :—

"इतिहास संभवत: यह है :—

'करुनाकर की करुना भई।

× × ×

राम-भजन-महिमा हुलसी हिय तुलसी हू की बनि गई॥'

(गीतावली, सुन्दर० ३७)

अंतिम पंक्ति की पुकार पर ध्यान तो दीजिए। यदि 'हुलसी' व्यक्ति है तो उसकी संगति ? कहते हैं :—

'राम-भजन-महिमा हुलसी-हिय।'

जिससे

'तुलसी हू कि बनि गई।'

भाव यह कि 'हुलसी' के हृदय में राम-भजन का भाव क्या जगा, उसकी फटकार ही तुलसी की दीक्षा बन गई। तो फिर 'हुलसी' तिया क्यों नही ? कहना प्रियादास का है न :—

"तिया सों सनेह, बिनु पूछे पिता गेह गई,
भूली सुधि देह, भजे वाही ठौर आए हैं।
बधू अति लाज भई, रिसि सो निकसी गई,
प्रीति राम नई, तन हाड़ चाम छाए है।
सुनी जब बात मानो होइ गयौ प्रात, वह,
पीछे पछितात, तजि, काशीपुरी धाए हैं।
कियो तहाँ वास प्रभु सेवा लै प्रकास कीनौ,
लीनौ दृढ़ भाव नैन रूप के तिसाए है॥[2] ३०८॥"

(भक्तमाल, पृ० ७५९)

---

१. 'तुलसी की जीवन-भूमि' पृ० १६३, १६८।

२ वही पृ० १८८, १८६

माना भी यही जाता है कि उसने उनसे कहा था :—

"लाज न लागत आपको दौरे आएउ साथ।
धिक-धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौ मैं नाथ।
अस्थिचर्ममय देह मम, तामे जैसी प्रीति!
तैसी जो श्रीराम महँ होति न तौ भव भीति॥"

यही दोहे अथवा यही शब्द उसके मुख से भले ही न निकले हों पर तात्पर्य इतना ही है कि उसने तुलसीदास के उस प्रेम को धिक्कारा जो उन्हें उसके अस्थिचर्ममय शरीर से था, और यह शिक्षा दी कि यदि ऐसा प्रेम श्रीराम से होता तो भव-बन्धन से छूट जाते। समझ में आया कि जो सहज प्रेम नारी से है वही यदि राम से होता तो अनन्त काल तक इस बन्धन का भय न रहता। इस सम्बन्ध में प्रियादास के शब्द —

"सुनी जब बात मानो होइ गयो प्रात"

विचारणीय है। सीख मार्मिक थी और हृदय में चुभी ही नहीं, घर कर गई। तुलसीदास ने अनुभव कर लिया कि ऐसा प्रेम स्वभावजन्य होने के कारण राम की शक्ति द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है। फिर यदि यह सहज प्रेम राम में हो जाए, और राम उसे स्वीकार कर लें तो उसे हटाने की सामर्थ्य ब्रह्माण्ड में अन्य किसी की नहीं हो सकती। बस, ऐसा ही आत्म-विस्मृत कर देने वाला सहज प्रेम राम से जोड़ने की कामना जगी और 'मानस' के अन्त में 'पायो परम विश्राम' की घोषणा कर देने के पश्चात् भी निरन्तर इसी प्रेम को बनाए रखने के अभिलाष से यह याचना की गई :—

"कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम[1]॥"

निस्सन्देह यह कामना पत्नी की शिक्षा के मेल में है और महाकवि की जीवनधारा मोड़ने वाली महत्वपूर्ण घटना का आभास दे रही है।

अस्तु, तुलसीदास युवती के जिस दीपशिखा सदृश तन को सर्वस्व मान उसका पतंगा बन रहे थे उसी अस्थिचर्ममय देह से उन्हें वह आलोक मिला जिसमें काम और राम का भेद दृष्टिगत हो गया। काम-दृष्टि राम-दृष्टि में परिवर्तित हो गई। यह कोरा वाणी-विलास नहीं है। नारी का दिव्य रूप न समझने वाला, उसमें क्या देखता है और राम उसमें क्या देखते हैं, इसे

---

१. 'मानस', उत्तर० १३०

समझने के लिए नारद-राम-वार्ता को समझना और इसे परखने के लिए नारद और राम का भेद परखने की आवश्यकता है। तभी यह भी खुल जाएगा कि काम के प्रसाद से भी कभी राम की यह दृष्टि प्राप्त हो जाती है। यदि नारद काम के फेर मे न पड़े होते तो उन्हे राम की दृष्टि का बोध भी न होता।

नारद ने विश्वमोहिनी की अस्थिचर्ममय देह को ही अपना प्राप्य बनाया। फल हुआ मतिभ्रम, मोह, क्रोध और अविवेक। राम ने उसे ही प्राप्त किया और पूर्ववत् निर्विकार बने रहे। उन्हें नारद पर रंचमात्र भी क्रोध नहीं आया। उनका शाप अंगीकार करने पर उसी शक्ति के सहयोग से उन्होंने अपनी लीला का संचालन किया। इसीसे नारद जब प्रश्न करने आये तो उन्हें यही समझाया गया कि दीपशिखा क्या है और उसके अविद्या रूप में आसक्त होने से उनकी क्या दुर्गति हो सकती थी। केवल काम-पूर्ति के साधन-रूप मे गृहीत नारी से पुरुष की क्या हानि हो सकती है, यही नारद को उस उपदेश द्वारा समझाया गया जिसमे नारी-निन्दा देखी जाती है। उन्हें प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ा कि राम नारी की अस्थिचर्ममय देह खोकर भी परम प्रसन्न हैं और जगत् को शिक्षा देने के लिए ही विरह की लीला कर रहे है। कवि ने इसे स्पष्ट कर दिया है :—

"कामिन्ह कै दीनता देखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई[1]॥"

काम-दृष्टि से देखने पर नारी वासनापूर्ति का साधन मात्र और राम-दृष्टि से देखने पर शक्ति-स्वरूपा ज्ञात होती है। लौकिक-जीवन-लीला की सार्थकता एवं सफलता मे उसका पूर्ण योग रहता है। इसीलिए उससे एकान्त में प्रार्थना की जाती है :—

"सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मै कछु करबि ललित नर लीला॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करौं निसाचर नासा[2]॥"

उस शक्ति के स्थूल रूप के बिना निशाचर-नाश सम्भव होता तो उसका संपूर्ण रूप ही पावक में लीन कर दिया जाता। पर बिना बाह्य रूप के निशाचरी-वृत्ति का नाश सम्भव नहीं था। आदिशक्ति के इसी स्थूल अस्थि-चर्ममय प्रतिबिम्ब के प्रति आसक्ति का दुष्परिणाम दिखाना इष्ट था और वह रावण के जीवन में चरितार्थ हो गया। रावण का तेज अन्त में राम में लीन

---

१. 'मानस', अरण्य० ३२.२।

२ वही, १० १ २

हो गया। इसका तात्पर्य यही है कि उसके अन्तस् में भी घट-घट वासी कूटस्थ था। इसीसे उसके अन्तर ने शक्ति को पहचाना और 'मन महुँ चरन बंदि सुख माना' सभव हो सका। पर, लंकापति बना रहा अस्थिचर्ममय प्रतिबिम्ब का कामी ही। उस दीपशिखा का पतंगा बना और उसकी प्राप्ति के प्रयत्न में ही भस्म हो गया। राम ने उसका आन्तरिक रूप पहचाना। अपने इष्ट-साधन के लिए उसे पावक में लीन किया और उसी से प्रकट भी कर लिया[१]। 'अग्नि मीळे पुरोहितं' कहकर जिसे अग्निरूप में सर्वव्यापी माना जाता है[२] उसकी शक्ति का अग्नि में समाना ही उपयुक्त था। रामचरित के इस प्रसंग में लौकिक और आध्यात्मिक पक्ष का विलक्षण समन्वय है। लौकिक काम के निकृष्टतम रूप से अध्यात्म के चरम शिखर तक पहुँचने की सारी गाथा नारद-राम प्रसग मे छिपी हुई प्रकट हो रही है और प्रकट कर रही है महाकवि के उस अन्तर को जो कभी काम का चेरा था पर अब राममय हो चुका है। इसीलिए जिस मन में यह सब घटित हुआ है, अन्त मे उसे दीपशिखा के स्वरूप का बोध कराया गया है कि हे मन! यह कभी मत भुलाना कि नारी ही वह दीपशिखा है जो अपने बाह्य और अन्तर दोनो में ही प्रकाश लिए हुए विद्या और अविद्या का अभिन्न योग लेकर 'नारि विस्व माया प्रकट' को चरितार्थ कर रही है। स्थूल काम-दृष्टि से उसका बाह्य रूप देखने पर अविद्या की प्राप्ति होती और अन्तर की दिव्य राम-दृष्टि से उसमें अन्तर्हित विद्या की ज्योति के दर्शन होते हैं। नारद ऐसे संत को नारी का रूप समझाने का प्रयोजन यही है कि उनके जैसे 'बालक सुत सम' अन्य भक्त भी इसे भली-भाँति हृदयगम कर लें। यदि वे कभी काम के चक्कर में पड़ें भी तो नारद का स्मरण कर, उसे भी प्रभु-कृपा का प्रसार समझ, उनके उदाहरण से उचित शिक्षा ग्रहण करते हुए अपना जीवन भक्ति-पथ पर अग्रसर करने में समर्थ हों।

साराश यह कि इस प्रसंग में गोस्वामी जी के जीवन-परिवर्तन का रहस्य सन्निहित है। उनकी नारी-भावना समझने के लिए यह एक प्रसग पर्याप्त है। उनकी तथाकथित नारी-निन्दा का रहस्योद्घाटन भी तभी हो सकता है जब हम उनके जीवन और काव्य दोनो को एक साथ रखकर उसके प्रकाश मे यह समझने का प्रयत्न करें कि किसी कवि की कविता में उसके व्यक्तित्व की

---

१. "सीता प्रथम अनल महुँ राखी। प्रकट कीन्हि चह अन्तरराखी॥"
'मानस' लंका० १०७ १४।

२ देखिए वेद व्याख्या ग्रंथ', प्रथम पुष्प आचार्य विश्वानन्द विदेह, पृ० २।

अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में होती है। अतः कवि का जीवन बिना समझे और उसकी छाप उसके कृतित्व में बिना देखे उसकी कृतियों को समझने-समझाने का दावा करना ठीक नहीं।

तुलसीदास के विवाह तथा उनकी पत्नी के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जाता है। आचार्य चन्द्रबली जी पाडे ने अपनी पुस्तक 'तुलसी की जीवन-भूमि' में विद्वानों की अबतक की धारणाओं तथा अन्तःसाक्ष्य के आधार पर तुलसीदास के जीवन-वृत्त के अन्तर्गत उनके विवाह तथा पत्नी के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया है[1]। उनका मत है कि तुलसीदास की पत्नी चित्रकूट के आस-पास के प्रदेश की, संभवत महेबा की थी। यहाँ देखना यह है कि क्या तुलसीदास के काव्य में कहीं उनकी पत्नी का व्यक्तित्व भी प्रतिबिम्बित है? 'एक तापस' और 'एक सखी' दो ऐसे पात्र हैं जिनकी आवश्यकता राम-कथा में नहीं है परन्तु जो राम के पास पहुँच जाते है और पहुँचते ही नहीं, उनकी कृपा एवं उनका स्नेह प्राप्त कर आत्म-विस्मृत हो वहीं अटके-से रह जाते है। ऐसा प्रतीत होता है कि अब ये सदा राम के ही साथ है। 'तापस' के सम्बन्ध में यह धारणा अधिकाश आलोचकों की है[2]। 'एक तापस' से मिलता-जुलता 'एक सखी' का प्रसंग भी है जिसकी ओर अभी तक किसी ने ध्यान नहीं दिया है। महाकवि ने 'गीतावली' में पथिक राम की वनयात्रा के अवसर पर 'एक सखी' का विधान विशेष रूप में किया है। 'मानस' की पुष्पवाटिका में अवश्य

---

१. पाडे जी का विस्तृत विवेचन यहाँ अवतरित करना स्थान संकोच के कारण सम्भव नहीं है। उन्होंने अपनी स्थापनाओं को प्रधानतया अन्तःसाक्ष्य पर ही आधारित किया है। उनकी सम्पूर्ण विवेचना महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है।

२. इस प्रसंग को कुछ लोग क्षेपक मानते रहे है। 'मानस' की सभी प्राचीन प्रतियों में प्राप्त होने के कारण 'मानस' के अंतिम प्रामाणिक संस्करण (काशिराज संस्करण) में भी इसे स्थान मिला है। जो हो 'मानस' का 'लघुवयस तापस' स्वयं मानसकार ही है, इसमें संदेह नहीं। यह दूसरी बात है कि कुछ लोगों के अनुसार उसने स्वय इस रूप में अपने को वहाँ नहीं पहुँचाया, उसके भक्तों ने पहुँचाया है। पर तापस है तुलसीदास ही। हमने पहले भी 'एक सखी' के विशेष चित्रण के आधार पर यही प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है।
देखिए 'श्रीरामचरितमानस का तापस प्रसंग' 'कल्याण' वर्ष २१ अंक ३।

सीता की एक विशेष सखी है जो सब सखियों का साथ छोड़, चिर-परिचित पुष्पवाटिका में अकारण ही अकेले पर्यटन करने चल देती है। उसमें जो प्रेम-विवशता और हर्षातिरेक है वह अन्य सखियों में नहीं[1]। वही सीता को पुष्प-चयन करते हुए राम का पता देती और उनके समीप ले जाती है। 'कवितावली' में भी एक विशेष सखी अन्य सखियों से साँवरे-गोरे किशोरों के दर्शन करने का अनुरोध करती हुई प्रेम-विभोर दिखाई पड़ती है।

'गीतावली' में इस सखी का रूप खुल जाता है। ग्रामवधुओं का प्रसंग है। 'एक सखी' किसी दूसरी से कह रही है :—

"तू देखि देखि री ! पथिक परम सुन्दर दोऊ।

× × ×

तापस बर बेष किए सोभा सब लूट लिए,
चित के चोर बय किसोर, लोचन भरि जोऊ[2] ॥"

उसके अनुरोध का परिणाम यह होता है :—

"दिनकर कुलमनि निहारि प्रेम-मगन ग्राम-नारि,
परसपर कहैं, सखि ! अनुराग ताग पोऊ[3] ॥"

इस दृश्य में कुछ विलक्षणता अवश्य है। इस पर कवि का मन मुग्ध हो गया है और उन्होंने इसका जो मूल्यांकन किया है वह मनन करने योग्य है। सखियों की प्रेम-विभोर अवस्था का अवलोकन कर भक्त अपने मन से आग्रह करता है :—

"तुलसी यह ध्यान सुधन जानि मानि लाभ सघन।
कृपन ज्यों सनेह सों हिये सुगेह गोऊ[4] ॥"

इस दृश्य की शोभा को ध्यानरूपी धन के रूप में ग्रहण करना विशेष महत्त्वपूर्ण है। कृपण अथवा लोभी के द्रव्य-प्रेम के अप्रस्तुत का तुलसीदास

---

१. 'मानस', बाल० २३२.७—२३३.२।

२. 'गीता०', अयो० १६।

३. वही, १६।

४ वही।

के काव्य में विशेष स्थान है[1]। इसे आगे के लिए छोड इस 'एक सखी' की दूसरी झाँकी का अवलोकन करना चाहिए। यहाँ भी राम की शोभा का वर्णन वह अन्य किसी सखी से इस प्रकार प्रारम्भ करती है '—

"कुँवर साँवरो री सखि सुन्दर सब अंग[2]।"

वर्णन करते हुए उसकी दशा और श्रवण करती हुई सखियों की अवस्था दोनों ही दर्शनीय है '—

"यों कहि भई मगन बाल, बिथकीं सुनि जुवति-जाल
चितवत चले जात संग मधुप मृग बिहंग।
बरनौ किमि तिनकी दसहि निगम-अगम प्रेम-रसहि
तुलसी मन-बसन रंगे रुचिर रूप रग[3]॥"

अन्य सखियों को इस प्रकार अपने प्रेम से प्रभावित करती हुई यह सखी सीता-राम के इतने निकट पहुँच जाती है कि उसकी वाणी उन्हे कर्णगोचर होने लगती है। वह सखियों से कह रही है :—

"माई री मन के मोहन जोहन जोग जोही[4]।"

मनमोहन के रूप-रस-पान के आग्रह में सौन्दर्य-वर्णन करती हुई कहती है :—

"राजत रुचिर तनु सुन्दर स्रम के कन,
चाहे चकाचौधी लागै कहौ का तोही[5]॥"

---

१. तुलसीदास की कामना है कि प्रभु हमें ऐसे ही प्रिय हों—
"लोभिहि प्रिय जिमि दाम।"
'मानस', उत्तर० १३०।

राम का प्रेम भी अपने अनन्य भक्त के प्रति ऐसा ही रहता है। उनके वचन हैं—
"अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे॥"
वही, सुन्दर० ४७७।

रामप्रेम में प्रकट अश्रु सीता को भी ऐसे ही प्रिय हैं :—
"लोचन नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरन्तर लोचन-कोन।"
गीता०, सुन्दर० २०।

२. 'वही०' अयो० १७।
३. वही, १७।
४ वही, २०
५ वही

वाणी कर्णगोचर होते ही सीता की प्रेमदृष्टि उस पर पड़ती है :—

"सनेह सिथिल सुनि बचन सकल सिया
चितई अधिक हित सहित ओही[1]।"

सीता ने उसकी ओर अन्य नारियों की अपेक्षा अधिक स्नेह से क्या देखा मानो भगवान् की कृपा ने उस पर दृष्टि डाल दी —

"तुलसी मनहुँ प्रभु कृपा की मूरति फिरि
हेरि कै हरषि हिए लियो है पोही[2]।।"

बस, उन कृपामूर्ति के दर्शन कर उसने उन्हें अपने चित्त में 'पोह' लिया। सीता रूपी कृपा की दृष्टि हो गई तब राम की प्रेम-दृष्टि की प्राप्ति में विलम्ब क्या ? वह भी उसे प्राप्त होती है। वह सखियों से पुनः राम के रूप-रस-पान करने का आग्रह करती हुई उनके समीप पहुँचती है :—

"देखु कोऊ परम सुन्दर सखि! बटोही।
चलत महि मृदु चरन अरुन-बारिज-बरन
भूप सुत, रूपनिधि निरखि हौं मोही[3]।।"

अन्त में नेत्र और चितवन का प्रभाव वर्णन करते हुए कहती है :—

"अबुजायत नयन, बदन छबि बहु मयन,
चारु चितवनि चतुर लेत चित्त पोही[4]।।"

रूप-रस-मग्न सखियों ने उसकी बातें सुनी या नहीं, पता नहीं, परन्तु राम ने सुन लिया, और उस चितवन-विमुग्ध को उनकी प्रेमपूर्ण चितवन प्राप्त हो गई :—

"बचन प्रिय सुनि स्रवन राम करुना-भवन।
चितए सब अधिक हित सहित कछु ओही[5]।।"

जिसे यह 'सब अधिक हित सहित' दृष्टि प्राप्त हो उसे अपनी सुध कहाँ ? निदान :—

"दास तुलसी नेह बिबस बिसरी देह
जान नहिं आप तिहि काल धौं को ही[6]।।"

---

१. 'गीता०', अयो० २०। २. वही।
३. वही, १८।
४ ५, ६ वही

ऐसी भाग्यशालिनी का परिचय पाने के लिए सभी उत्सुक होंगे यह समझकर कवि उसके परिचय का संकेत कर देता है। वह अपनी किसी सखी से कह रही है कि तुमसे बार-बार कहती हूँ, मेरी तरह लोचन-लाभ ले लो।—

"सखि ! नीके कै निरखि कोउ सुठि सुन्दर बटोही।

× × ×

साँवरे गोरे किसोर, सुर मुनि चित-चोर
उभय-अंतर एक नारि सोही॥

× × ×

को जाने कौने सुकृत लह्यो है लोचन-लाहु,
ताहि ते बारहि बार कहत तोही।
सखिहि सुसिख दई, प्रेम-मगन भई,
सुरति बिसरि गई आपनी ओही।
तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी सी काढी,
न जाने कहाँ ते आई कौन की को ही[1]॥"

इस प्रकार सीता-राम की प्रेमपूर्ण कृपादृष्टि प्राप्त कर उनके रूप-रस-पान मे मग्न यह सखी 'पाहन गढी सी ठाढी' रह जाती है। इसका परिचय देते हुए कवि कहता है—पता नही कौन है, किससे क्या नाता है और कहाँ से आई है। इस परिचय-विहीनता मे ही उसका परिचय मिल जाता और मानस-प्रेमी समझ जाते है कि पता नही कौन, कहाँ से आए हुए, राम-प्रेमी तापस की समकक्ष यह सखी भी है। वह 'अलखित गति', 'वेष बिरागी', 'लघु बयस' तापस राम का प्रेमालिंगन और सीता का आशीर्वाद प्राप्त कर 'पियत नयन पुट रूप पियूषा' की दशा में वही खडा रह गया था[2]। बहुत कुछ उसी स्थिति मे यह सखी भी उसी प्रकार खड़ी रह जाती है।

इस प्रसंग मे कुछ बाते ध्यान देने योग्य है। प्रथम यह कि ग्रामवधुओ के प्रसंग में राम का रूप-सौन्दर्य-वर्णन प्रधान है और उसके रस पान में तापस और सखी दोनों आत्मविस्मृत हो जाते है। उधर सखी—

साँवरे-गोरे किसोर, सुर मुनि चित चोर,
उभय अतर एक नारि सोही[3]।'

---

१. 'गीता०', अयो० १६। २. 'मानस०', अयो० ११०'६।

३ 'गीता०', अयो० १६।

को देखकर अन्यों से लोचन-लाभ लेने का बार-बार आग्रह करती है। इधर, कवि इस अवसर की शोभा का ध्यान 'सुधन' रूप में 'कृपन ज्यों' हृदय रूपी घर में छिपाकर रखने का आग्रह करता है। इनके प्रकाश में—

"राम बाम दिसि जानकी लषन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानकर सुरतरु तुलसी तोर[१]॥"

को देखने पर इनकी महत्ता कुछ और ही रूप में दृष्टिगोचर होती है।

दूसरी बात यह कि वन-यात्रा का यह दृश्य चित्रकूट और राजापुर के आस-पास के प्रदेश का जान पड़ता है। वहीं कहीं यमुना-तट के समीपवर्ती प्रदेश मे 'तापस' राम के चरणो मे पहुँचाया गया है। इसी प्रदेश में ग्राम-नारियो की मंडली के मध्य एक सखी भी प्रकट होती और राम की कृपापात्र बन जाती है। राजापुर को तुलसीदास की जन्मभूमि न मानने वाले भी उसे अथवा उसके निकटवर्ती प्रदेश को उनको विवाह-भूमि मानते है। आचार्य चन्द्रबली पांडे जी तो तुलसीदास के विवाह को प्रेम-विवाह तक मानने के पक्ष मे है[२], जो उनके मत से सम्पन्न हुआ था इसी प्रदेश में ही[३]। 'तुलसी घर बन बीच ही रामप्रेमपुर छाइ[४]' में जो 'रामप्रेमपुर' है उसका संकेत उन्होंने चित्रकूट माना है[५]। जो हो, इतना तो प्रत्यक्ष है कि इस प्रदेश से लेकर पंपा-सरोवर पर्यन्त सर्वत्र रामप्रेम छा रहा है। केवट-प्रसंग से प्रारम्भ होकर, बाल्मीकि-राम-वार्ता, भरत-मिलन, शबरी-उद्धार, सुतीक्ष्ण, शरभंग एवं जटायु तथा अन्य भक्तों के प्रसंग लेते हुए 'नारद-राम-वार्ता' तक सर्वत्र रामप्रेम की महिमा और रामप्रेम का प्रवाह है। आश्चर्य नही कि यही कवि की प्रेमभूमि भी हो।

अब तक इस सम्बन्ध मे जो कुछ कहा गया है उसके प्रकाश मे यही परि-लक्षित होता है कि इसी प्रदेश मे तुलसीदास ने रामप्रेम लेकर पदार्पण किया। पत्नीप्रेम के जगने पर वह सुप्त हो गया। परन्तु आगे चलकर पत्नीप्रेम ही रामप्रेम के पुनर्जागरण का कारण बना। इसीसे जहाँ उन्होंने स्वयं को इस

---

१. 'दोहा०' १।

२. 'तुलसी की जीवन-भूमि' पृ० १९२, १९८।

३. वही, पृ० २०४।

४. 'दोहा०' २५६।

५. 'तुलसी की जीवन-भूमि', पृ० २०४

प्रदेश में तापसरूप मे राम के चरणो में पहुँचाया वही अपनी अर्द्धांगिनी को भी 'एक सखी' के रूप में उनके निकट पहुँचा दिया[1]। कोई आश्चर्य नही कि राम के प्रेम से इतना घनिष्ट संबंध होने के नाते चित्रकूट तुलसीदास को अत्यधिक भाता है और यही अवस्थित पथिक राम का रूप उनके ध्यान का इष्ट रूप बना है[2]। ग्रामवधुओं के प्रसंग में भी राम के रूप-सौन्दर्य की प्रधानता है। सभवत. इन्ही सब कारणों से वह प्रसग भी तुलसीदास को अधिक प्रिय है।

एक और बात बारीकी से देखने की है। राम के रूप-रस-पान में लीन है 'तापस' और है 'एक सखी' भी। साथ ही, तुलसीदास को रूपासक्ति के कारण पत्नी द्वारा जो फटकार पडी वह भी सर्वविदित है। उसने जो कुछ कहा उसका तात्पर्य यही था कि जिन राम के रूप का ध्यान-पूजन तुम नित्य किया करते हो उनसे इतना प्रेम क्यो नही करते जितना मेरे शरीर से करते हो? यदि ऐसा करते तो भवसागर से पार हो जाते। कोई भक्ति-विहीन प्राणी रामप्रेम का यह मूल्य नही आँक सकता। यदि पत्नी मे किञ्चित् भी रामभक्ति न होती तो वह इतनी दृढता से यह नही कह सकती। सामान्य गृहस्थ जिस प्रकार भक्तिभाव से पूजा-अर्चना करते है कम से कम उतना होने पर ही इस प्रकार की भावना का उदय सभव और स्वाभाविक है। उधर, तुलसीदास के संस्कार भी बाल्यावस्था से ही सत्संग के फलस्वरूप इसी प्रकार के अवश्य थे। इसीलिए पत्नी की एक ही फटकार इतनी सरलता से हृदय में सुप्त रामप्रेम को पुन. जागरित कर सकी। अन्यथा कामी पुरुष ऐसी न जाने कितनी भर्त्सनाएँ और इससे बढकर ताड़नाएँ पाकर भी अपनी बान नही छोडता। लोकानुभव और मनोविज्ञान साक्षी है।

अबतक जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर यही धारणा बनती है कि तुलसीदास के विराग और भक्ति के सस्कार पहले ही पड़ चुके थे। विवाह-

---

१. आचार्य चन्द्रबली पांडे ने 'रामप्रेमपुर' का अर्थ चित्रकूट ही ग्रहण करना उचित समझा है। इस प्रसंग में वे यह भी कहते हैं:—

'भावी पत्नी का स्वरूप यहीं खिला हो तो विस्मय की बात नहीं। वह 'महेवा' की रही हो तो कोई बात नहीं।'

— 'तुलसी की जीवन-भूमि' पृ० २०४।

२. 'ध्यान सुमन' की चर्चा हो चुकी है देखिए पृ० २८२।

बंधन में बँध जाने पर वे शिथिल पड़ गए[1]। विरागी की दशा नहीं रही। परन्तु भक्ति का सर्वथा परित्याग भी नहीं हुआ। भक्ति केवल वैरागियों की थाती नहीं, गृहस्थों का भी सहारा है। भव-सागर में पड़ी जीवन-नौका पार लगाने के लिए भक्ति सभी परिस्थितियों में सहायक होती है। यदि गृहस्थी का सर्वथा त्याग किए बिना भक्ति असम्भव होती तो भरत और लक्ष्मण से लेकर निषाद, सुग्रीव और विभीषण तक कोई भी उसके अधिकारी नहीं हो सकते। तुलसीदास ने सामान्य गृहस्थों के लिए संतों द्वारा अनुमोदित भक्ति के अति सुगम रूप का भी विधान कर दिया है :—

> "प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
> तुलसी संतन्ह के मते इहै भगति की रीति[2]॥"

दम्पती के गृहस्थ-जीवन की नौका जब कामतरंगों के मर्यादातिक्रमण से डाँवाडोल होने लगी तो उसे बचाने के लिए गृहिणी ने राम का सहारा लिया। डूबते को बचा लिया, परन्तु कुछ चूक हो गई। नीति से काम नहीं लिया। संतुलन बिगड़ गया। फटकार के तीव्र झटके ने पति को अति के एक छोर से एकदम दूसरे छोर पर पहुँचा दिया। प्रत्यावर्तन कठिन था। कारण, वह छोर अनजाना नहीं था। अतः उधर का पल्ला भारी पड़ा। 'राग रिस' का संतुलन बिगड़ने से बात बिगड़ गई। साथ छूट गया। इधर से नाता टूटा तो उधर जुड़ा और तुलसीदास ने पुनः रामरत्न पा लिया। आँख खुली तो प्रण हुआ :—

> "अब लौं नसानी, अब न नसैहौं।
> राम कृपा भव निसा सिरानी जागे पुनि न डसैहौं।
> पायो नाम चारु चिंतामनि, उर कर ते न खसैहौं।
> स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहि कसैहौं।
> परबस जानि हंस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
> मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं॥[3]"

जो हो, उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर निस्संकोच कहा जा सकता है कि 'एक सखी' के रूप में तुलसीदास की पत्नी की छाया प्रतिबिम्बित हो रही है।

१- इसके विस्तृत विवेचन के लिए देखिए 'तुलसी की जीवन भूमि' पृ० ११० ११२।
२ दोहा० ८१। ३ विनय पद १०५

अब स्वयंप्रभा के स्वरूप पर भी विचार कर लेना चाहिए। वह 'मानस' की एक ऐसी नारी है जिसके बिना कथावस्तु की प्रगति में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती। विचारणीय है कि जिस महाकाव्य में कथा के प्रमुख पात्र भरत और लक्ष्मण की तप और त्यागमयी सहधर्मिणी, माडवी तथा उर्मिला-जैसी महादेवियों की चर्चा कथा के अनावश्यक विस्तार-भय से नही की जा सकी, उसी मे एक ऐसी नारी का विशेष रूपमे चित्रण हुआ है जिसके बिना कथा में किसी प्रकार की महत्त्वपूर्ण कमी आने की सभावना नही थी। स्वयप्रभा के पूर्वरूपो की अपेक्षा 'मानस' मे उसमे यह विशेष तप-बल दिखाया गया है कि उसने एक क्षण मे उस बानर समूह को अपनी गुहा से सिंधु-तट पर पहुँचा दिया जिसके नेता 'अतुलितबल धामं' पवनसुत थे। दूसरी ओर ऐसी विलक्षण नारी का परिचय देने मे कवि हिचक-सा गया है। 'एक सखी' की भाँति इसका परिचय भी गुप्त है। वह कहाँ से आकर इस एकान्त स्थान मे तपस्या कर रही है, उस तप का प्रयोजन क्या है, वह किसकी कौन है—किसकी पत्नी, बहन, सखी अथवा माता है—इनमें से किसी प्रश्न का समाधान नही किया गया। उसका वृत्तान्त संक्षिप्त पर अत्यन्त सारगर्भ है। उसका विस्तृत उल्लेख कर भक्ति की दृष्टि से उसकी महत्ता पर विचार हो चुका है[1]। यहाँ अन्यान्य विशेषताओं का विश्लेषण अपेक्षित है।

स्वयंप्रभा को प्राप्त होने वाली अनपायिनी भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। वह कामारि भगवान् शंकर[2] अथवा 'ज्ञानिनामग्रगण्यं' हनुमान को[3] प्राप्त हुई है।[4] महावीर के द्वारा जिस अवसर पर उसकी याचना की गई उसका विशेष महत्त्व है। लंका-दहन का समाचार सुनकर जब राम ने उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञता प्रकट की तब वे 'त्राहि-त्राहि' कर प्रभु के चरणों मे गिर पड़े। तदनन्तर राम ने विस्मय सहित पूछा कि अति दुर्गम लंका दुर्ग के दहन का प्रबल पराक्रमपूर्ण कार्य तुमने किस प्रकार संपन्न किया? उत्तर देते हुए हनुमान यह न भूले कि भक्ति का सबसे बड़ा शत्रु अभिमान है। वह काम-क्रोधादि से भी अधिक भयावह

---

१ 'बाल्मीकि-रामायण' तथा 'अध्यात्म रामायण' में समाविष्ट इस आख्यान के विवरणों पर पिछले विचार हो चुका है। इसके लिए देखिए पीछे पृष्ठ ११५–१२४।

२ 'मानस', उत्तर० १४।

३ वही, सुन्दर० ३३·१।

४ सर्वदा 'ब्रह्मानन्द लयलीन' सनकादि महर्षियों ने भी भगवान् से याचना कर इसे वरदान रूप में प्राप्त किया है। देखिए 'मानस', उत्तर० ३१– ५।

और छिपकर वार करने वाला है। नारद ऐसे काम-विजेता को भी उसने पराजित कर दिया। अतः उससे बचना सर्वाधिक आवश्यक है। यह विचार, अपने मन मे उसके प्रवेश के लिए रंचमात्र भी अवकाश न देते हुए, उन्होंने इस प्रकार निवेदन किया :—

"प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना। बोला बचन बिगत अभिमाना॥
साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा तें साखा पर जाई॥
नाँघि सिन्धु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा॥
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥
ता कहुँ प्रभु कछु अगम नहिं जा पर तुम अनुकूल।
तव प्रभाव बड़वानलहि जारि सकै खलु तूल॥
नाथ भगति अति सुखदायिनी। देहु कृपा करि अनपायनी[1]॥"

हनुमान भगवान् शंकर के अवतार हैं। नारद मुनि कामविजयी होने पर अभिमानग्रस्त हो गये थे, शंकर भगवान् नहीं। उन्होंने नारद को भगवान् विष्णु के सम्मुख अपनी प्रशंसा न करने की सम्मति भी दी थी। अभिमानग्रस्त नारद पर उसका प्रभाव नही हुआ, फलतः उन्हें दुष्परिणाम भोगना पड़ा। हनुमान आज उसी अभिमान से बचने के लिए 'त्राहि-त्राहि' कहकर अनपायिनी भक्ति माँग रहे है। इससे यह संकेत ग्रहण करने में कोई क्षति नही दिखाई देती कि काम और अभिमान के विजयी को ही यह दुर्लभ अनपायिनी भक्ति हरि-कृपा से सुलभ होती है। क्या स्वयंप्रभा को भी कभी अपने काम-विजयी होने अथवा अन्य किसी कारणवश अभिमान का दुष्परिणाम भोगना पड़ा था? स्वयंप्रभा के पूर्व-जीवन का तो पता नही! हाँ, जिसकी छाया उसमे प्रतिभासित हो रही है उसके जीवन मे ऐसा अवसर अवश्य आया था। अभिमान प्रकट नही, तो प्रच्छन्न रूप मे ही पति की भर्त्सना का प्रेरक बना होगा, इसमे संदेह नहीं।

जो हो, हनुमान और स्वयंप्रभा दोनों ने अनपायिनी भक्ति प्राप्ति की। परन्तु उसके फलस्वरूप अन्त मे हनुमान को सदैव राम के समीप रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और स्वयंप्रभा को राम ने और अधिक दूरस्थ बदरीबन जाकर तपोमग्न होने की आज्ञा दी। इस अवसर पर वह अपने हृदय मे उनके चरण धारण करके गई। वाल्मीकि-राम-वार्ता मे अथवा सुतीक्ष्ण, शरभंग

---

१ मानस सुन्दर० १२ १ १२

आदि भक्तों की याचना में सर्वत्र 'जानकी सहित प्रभु' अथवा 'अनुज जानकी-सहित प्रभु' के भक्त-हृदय में बसने का उल्लेख प्राप्त होता है। 'राम-चरण' हृदय में धारण करने का उल्लेख सीता के अग्नि में समाविष्ट होने के अवसर पर किया गया है[१]।

प्रभु के चरणों की प्राप्ति का भी कुछ रहस्य अवश्य है। किसी के चरण उसकी गति के साधन होते हैं। अतः भगवान् के चरणों की प्राप्ति करना उनकी 'गति' की प्राप्ति करना है। उनकी 'गति' का संकेत उनका 'रहस्य' भी होता है यथा 'अविगत गति कछु कहत न आवै।' अत भगवान् के चरणों की प्राप्ति करना उनके रहस्य को जान लेना है। वह यही कि मनुष्य देहधारी दशरथसुत ही निर्गुण, निर्विकार, अखंड, अनादि और सृष्टि का संचालक भी हैं। इस सम्बन्ध में एक और बात पर भी ध्यान जाता है। जहाँ अंगदादि भक्त प्रभु के वस्त्राभूषण ही प्राप्त कर सके वहीं चरण-पादुकाओं के अधिकारी केवल भरत ही हुए। राम और भरत के प्रेम का रहस्य सिवा उनके अन्य कोई नहीं जानता। जीवन्मुक्त परमज्ञानी विदेह का कथन है —

"देवि परंतु भरत रघुवर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी'॥"

प्रश्न उठता है कि स्वयंप्रभा की अन्य सगुण भक्तों से भिन्न यह मनःस्थिति क्यों और अनपायिनी भक्ति की प्राप्ति के पश्चात् भी और अधिक तपस्या के हेतु उसे बदरीवन जाने की आज्ञा किसलिए ?

भक्ति की दृष्टि से इन प्रश्नों पर विचार हो चुका है। यहाँ देखना है कि इस आख्यान में कवि के व्यक्तिगत जीवन की छाया किस रूप में प्रतिभासित हो रही है। प्रतीत यही होता है कि पत्नी ने रूपासक्ति को कामुकता का रूप धारण करते देख खीझकर पति की भर्त्सना की। पूर्व संस्कार जग उठे और कातासम्मत उपदेश के गुरु की फटकार का रूप धारण करने पर सहधर्मिणी ही सत्य का दर्शन कराने वाले सद्गुरु का प्रतीक बनकर प्रत्यक्ष हो गई। आज तक जिसे कामपूर्ति का साधन समझा उसी ने वह प्रकाश प्रदान किया जिसमें काम और राम का भेद खुल गया तथा 'राम भजिय सब काम बिहाई' की सच्ची सीख मिली। काम से विरति और राम से रति हुई। मोहान्धकार दूर हुआ। मोहपाश में बद्ध करने वाली ही मुक्तिदायिनी सिद्ध हुई। उसी ने बोध कराया कि 'कीर मरकट की नाई" स्वयं अपनी वासना से बँधे हो। किसी ने तुम्हें

१. 'मानस', अरण्य० १७.३।
२ वही, अयो० २८८. ५

नहीं बाँधा। जब चाहो मुक्त हो सकते हो। दीपशिखा के दोनों पक्ष प्रत्यक्ष हो गए और प्रकट हो गया 'नारि बिस्व माया प्रगट' का विद्या तथा अविद्या रूप भी। विद्या की प्रेरणा से जब रामरूप का बोध हुआ और 'सीय राम मय सब जग' की प्रतीति हुई तो तुलसीदास के हृदय में प्राणिमात्र के कल्याण की कामना जगी और उन्होंने लोक-कल्याण का व्रत ले लिया। फिर, जो कभी जीवन में आमूलचूल परिवर्तन का कारण बनी थी उसके कल्याण की कामना क्यों न जगती? उसकी दशा का भी कभी ध्यान आना स्वाभाविक था।

उधर, पति द्वारा परित्यक्त होने पर तुलसीदास की पत्नी का जीवन कैसे व्यतीत हुआ, पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इसका पता नहीं चलता। पर इतना तो अनुमान किया जा सकता है कि जिसने रामभक्ति का कुछ आस्वाद पा लिया हो और जिसकी शिक्षा से ही उसका पति रामभक्त बना हो उस पतिपरायणा ने राम की आराधना के अतिरिक्त किसी अन्य पथ का अवलम्ब नहीं लिया होगा। वे कहाँ रहीं और किस प्रकार उनके जीवन का शेष भाग समाप्त हुआ इसकी छान-बीन अभी तक नहीं की जा सकी है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनका जीवन किसी साधारण परित्यक्ता पत्नी का-सा नहीं रहा होगा। कर्मवश पति से विलग होकर जीवन-यापन के लिए विवश हुई किसी कुलीन, साधु, पतिपरायणा ही नहीं, पति की प्रिया पत्नी के यातनापूर्ण जीवन और हृदय के भीषण दाह की कल्पना में समर्थ कोई संवेदनशील हृदय ही यह अनुमान कर सकता है कि तुलसीदास की पत्नी का जीवन कैसे व्यतीत हुआ। अन्यत्र तो इसके दर्शन नहीं हुए, हाँ महाकवि के भावुक हृदय ने अवश्य ही इसकी कल्पना कर अपने अप्रतिम मार्दव का परिचय दिया है। इसके संबंध में पहले कुछ निवेदन हो चुका है[1]। अत. यहाँ अधिक न कहकर कवि की उक्ति मात्र अवतरित करना पर्याप्त होगा :—

"जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पति देवता करम मन बानी॥
रहै करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तस दारुन दाहू[2]॥"

---

१. देखिए पीछे पृष्ठ १६३।

२ 'मानस', अयो० १८७ १, १,२

इस वेदना में कवि की पत्नी की मूक वेदना अवश्य ही मौन रूप से व्यक्त हो रही है। अनन्त दुःख-सागर में निमग्नोन्मग्न ऐसी पत्नी को किसका सहारा हो सकता है ? क्या कोई पतिपरायणा साध्वी अपनी व्यथा [illegible] कहने के लिए अपने पति की कामुकता और अपने जीवन की दुर्दशा की कथा लेकर किसी के सामने रोने जाएगी ? 'कुलीन' और स्वभाव से सकोची नारी किस प्रकार यह कह सकेगी कि उसने क्या, कब और क्यों कहा जिससे उसका पति उससे विरक्त हो, उसे त्यागकर चला गया ? पतिव्रता अपनी निन्दा भले ही सह ले पर पति-निन्दा उसे सह्य नहीं हो सकती। इन परिस्थितियों में सिवा इसके और क्या संभव है कि वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ समाज के मनमानी टीका-टिप्पणी करने पर वह अपने हृदय के करुण चीत्कार को दबा कर सब कुछ सहन करती हुई तपती रहे। अतः उक्त अप्रस्तुत में जिस नारी की विषम व्यथा की अनुभूति कवि ने व्यक्त की है उसमें उनकी पत्नी की वेदनापूर्ण छाया देखना असंगत नहीं।

पति के रामभक्त हो जाने पर पत्नी के लिए भी उसी पथ का अनुसरण स्वाभाविक है। उसने क्या चाहा और क्या किया, इतिहास इसका पता नहीं देता। हाँ, 'परहित निरत' लोकोपकारी पति ने ऐसी पतिप्रिया पत्नी की परम गति की क्या चिन्ता की, उसके लिए कौन-सा पथ निर्दिष्ट किया तथा उसके तपस्यापूर्ण जीवन के अन्त में उसे किस पद की अधिकारिणी समझा, इसका अनुमान किया जा सकता है[1]। स्वयंप्रभा के चित्रण की अनेक विशेषताओं के आधार पर ऐसा अनुमान होता है कि तुलसीदास की दृष्टि में उनकी पत्नी जिस पद की अधिकारिणी थी वही उसे दिया गया है। उनकी पत्नी की भाँति उसकी साधना भी गुप्त है। राम के अनन्य भक्त को पराभक्ति स्वरूपा जानकी की ओर जाने वाले मार्ग पर एक क्षण में पहुँचाने के पूर्व स्वयंप्रभा की तपस्या गुप्त थी तथा उसके पश्चात् और भी गुप्त हो गई। उधर, एक विशेष क्षण में ही तुलसीदास को भी उसकी पत्नी ने राम-भक्ति-पथ की ओर प्रेरित कर दिया और उनका जीवन भी समाज की दृष्टि से ओझल ही रहा। विचारणीय यह भी है कि 'परहित निरत' संत ने अनपायिनी भक्ति प्राप्त करने वाले महावीर

की पूजा को सर्वत्र प्रोत्साहन दिया[1] । राम-कथा के समय जनसाधारण के मध्य उनकी स्थिति भक्त-मंडल मे सर्वमान्य हो गई और उनका 'संकट-मोचन' नाम यथार्थ सिद्ध हो गया । उसी सन्त ने अनपायिनी भक्ति की दूसरी अधिकारिणी स्वयंप्रभा को जन-समाज से अत्यन्त दूर स्थापित कर दिया और यह तक बतलाने की आवश्यकता नही समझी कि फिर उसका क्या हुआ । इस प्रकार स्वयंप्रभा की साधना मे उनकी पत्नी की साधना का गुप्त संकेत स्पष्ट है । उन्हें 'एक सखी' के रूप मे पहले ही सीता-राम की कृपा मिल चुकी है और तुलसीदास की इच्छा स्पष्ट है कि भवताप मे तपते हुए ऐसी ऐकांतिक साधना के फलस्वरूप वे राम को इस रूप मे प्राप्त करें कि इस संताप मे दग्ध होने के लिए उनका पुनरागमन न हो । जब 'सीयराममय सब जग' की अनुभूति करने-वाले भक्त ने उनमें मातृशक्ति माया का रूप देखा तो फिर उन्हें उस पद से नीचे उतारकर न देखने की कामना स्वाभाविक ही है । अतः पत्नी के सतीत्व, तप और त्यागके कारण उनकी सद्गति की जो कामना गोस्वामी जी के सत्-हृदय मे थी वह स्वयंप्रभा के अख्यान मे प्रतिबिम्बित हो उठी और इस रूप मे कि उस प्रतिबिम्ब को सरलता से पकड़ा न जा सके; क्योंकि उसका प्रचार उन्हे इष्ट न था ।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि 'एक सखी' एवं 'स्वयंप्रभा' के चित्रो में आभासित कवि के व्यक्तिगत जीवन की यह छाया मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक है, जो यह बताती है कि राम का भक्त कभी कृतघ्न नही होता । स्वयं को सदैव सेवको का उपकृत ही नहीं, प्रत्युपकार करने में असमर्थ मानने वाले प्रभु के अनन्य सेवक का इतना कृतघ्न होना नितान्त अस्वाभाविक है कि उनसे बरबस मिलाने वाले को ही बिसार बैठे और उसका प्रत्युपकार करने की कभी न सोचे । अस्तु, तुलसीदास ने मोहान्धकार दूरकर सत्य के प्रकाश का दर्शन कराने वाली पत्नी के सच्चे स्वरूप को पहचाना और उसे अपनी ही प्रभा से देदीप्यमान नारीशक्ति स्वयंप्रभा के रूप में अपने 'मानस' मे प्रतिष्ठित कर दिया । उनकी दृष्टि मे पत्नी पति की अभिन्न शक्ति है । वे दोनो 'गिरा अरथ' और 'जल बीचि' के समान दो होते हुए भी एक रहते है । शक्ति-स्वरूपा पत्नी इस लोक में अपना सहयोग प्रदान कर लोक-जीवन सफल बनाती

---

१ 'हिन्दी साहित्य का अतीत', ले० आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृष्ठ १४६ ।

है और आत्मिक एकता स्थापित कर आध्यात्मिक जीवन में भी साहचर्य निभाती है। अतः जिस पत्नी ने लौकिक जीवन-यात्रा के मध्य ही जड-चेतन की ग्रन्थि के मिथ्यात्व का बोध करा दिया उसे उन्होने 'एक सखी' के रूप मे लोकहितकारी वनयात्री सीता-राम के समीप अंकित कर दिया। वहाँ वह 'कवि अलखित गति' तापस के समकक्ष रही। जब राम का अखिल लोक-कल्याणकारी चरित 'मानस' के रूप में प्रकट हुआ तब वहाँ उसकी दिव्यता स्वयंप्रभा के चित्रण मे प्रतिभासित हो उठी। वह कैवल्यपद की अधिकारिणी भी सिद्ध हुई और इस पद मे लीन हो जाने पर मातृशक्ति के रूप मे 'मानस' मे आदि से अन्त तक व्याप्त हो गई।

यों तो किसी कवि का समस्त काव्य ही उसके जीवन का प्रतिबिम्ब होता है और उसके व्यक्तित्व की छाप उसके काव्य मे सर्वत्र परिलक्षित हो सकती है तथापि उसके कुछ स्थल अवश्य ही कवि के जीवन की विशेष बातों को प्रतिबिम्बित करने वाले होते हैं। यहाँ कतिपय ऐसे प्रसंगो पर विचार करने का प्रयत्न हुआ है। फलस्वरूप जो प्रश्न उठे उनका यथासम्भव उचित समाधान भी किया गया है।

महाकवि महात्मा तुलसीदास का व्यक्तित्व अप्रतिम है। शाश्वत जीवन के अनन्त शांतिमय पथ की खोज सदा से महात्माओ का कार्य रहा है। मानव-समाज में रावणत्व का अन्त कर रामत्व की प्रतिष्ठा करना उनका लक्ष्य होता है। यह कार्य उपदेशो के द्वारा उतना सरल नही होता जितना काव्य के सहारे। काव्य के कलापूर्ण साँचे में ढलकर रूक्ष विचार-धारा सरस भाव-धारा का रूप धारण करती और अपने आकर्षक एवं रमणीय प्रवाह में व्यक्ति को ही नहीं, समाज को भी बहा ले जाती तथा उसकी जीवन-धारा मे परिवर्तन उपस्थित कर देती है। ऐसी भाव-धारा के प्रवर्तक ही युग-प्रवर्तक के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। गोस्वामी जी निश्चय ही ऐसे युगप्रवर्तक संत कवि थे। 'रामचरितमानस' के अवगाहन से उत्पन्न उनकी अन्तश्चेतना की अनुभूति ही 'कविता-सरिता' के रूप मे 'जन-जीवन' के क्षेत्र मे प्रवाहित हो उठी थी। वह इसलिए कि उसमे मन का कल्मष धुले और मानसिक विकारों के प्रक्षालन से अबतक उनके मलिन आवरण मे प्रच्छन्न आत्मा की ज्योति जगमगा उठे, जिससे जीवन की जडता दूर होने पर चेतनता का अभ्युदय हो। ऐसे अभ्युदय के पश्चात् ही मलिन सस्कारो से आवृत होने के कारण मलिन प्रतीत होने

वाला नारी का उज्ज्वल रूप भी प्रकट हो सकेगा। 'चरित-सिंधु' राम के अनन्य भक्त गोस्वामी तुलसीदास को गुरु मानने वाला अवश्य ही उनके पद-रज-अंजन' से दिव्य दृष्टि उपलब्ध कर सकेगा। तब 'रामचरितमानस' में अंतर्हित मणि-माणिक्य के साथ केवल नारीरत्न ही नहीं उसका मूल्य प्रकट करने का वह 'जतन' भी उसके हाथ लगेगा जिससे मानव यह देख ले कि यह नारीरत्न भी उचित मूल्यांकन एवं सदुपयोग किए जाने पर राम-रत्न की प्राप्ति में सहायक हो सकता है।

■

उपकरण ग्रन्थों की तालिका

वाल्मीकि रामायण
अध्यात्म रामायण
आनन्द रामायण
उत्तररामचरित
महारामायण
रघुवंश
प्रसन्नराघव
विवेकचूडामणि
वैष्णवमताब्जभास्कर और रामार्चन पद्धति
श्वेताश्वतरोपनिषद्
बृहदारण्यकोपनिषद्
ईशावास्योपनिषद्
पंचदशी
श्रीमद्भगवद्गीता
शंकराचार्य कृत प्रश्नोत्तरी
कुलार्णव तंत्र
श्रीमद्भागवत महापुराण
विष्णुपुराण
पद्मपुराण
मार्कण्डेयपुराण
देवी भागवत
भक्तिरसायन
मनुस्मृति
याज्ञवल्क्यस्मृति
नारदभक्तिसूत्र
शाण्डिल्यभक्तिसूत्र
हरिभक्तिरसामृत सिंधु
शुक्रनीतिसार

सौन्दरानन्द

कल्याण—वेदांक, उपनिषदांक, मानसांक, भक्ति अंक, योगांक,

रामचरितमानस, काशिराज संस्करण —पं० विश्वनाथप्रसाद मि॰

मानस पीयूष

'मानस' की विजया टीका —टीकाकार पं० विजयानन्द

'मानस' की अन्य टीकाएँ

विनयपत्रिका की अनेक टीकाएँ

विनयपत्रिका-टीका एवं भूमिका —वियोगी हरि

दोहावली-टीका एवं भूमिका —लाला भगवानदीन

वैदिक साहित्य —पं० रामगोविन्द त्रिवेदी

भारतीय दर्शन —पं० बलदेव उपाध्याय

गोस्वामी तुलसीदास —पं० रामचन्द्र शुक्ल

तुलसीदास —पं० चन्द्रबली पाडे

हिन्दी साहित्य का अतीत —पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र

तुलसीदास की जीवन भूमि —पं० चन्द्रबली पांडे

तुलसीदास और उनका युग —डा० राजपति दीक्षित

राम-कथा —फादर कामिल बुल्के

संत तुलसीदास और उनके संदेश —डा० राजपति दीक्षित

तुलसी-दर्शन —डा० बलदेवप्रसाद मिश्र

तुलसीदास —डा० माताप्रसाद गुप्त

गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना —डा० व्योहार राजेन्द्र सिंह

तुलसी के चार दल (१, २ भाग) —सद्गुरुशरण अवस्थी

तुलसी-ग्रंथावली —संपा० रामचन्द्र शुक्ल, —भगवानदीन, ब्रजरत्नदास

रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय —भगवतीप्रसाद सिंह

तुलसी —रामबहोरी शुक्ल

मानस की रूसी भूमिका —ए०पी० बारान्निकोव

गोस्वामी तुलसीदास —श्यामसुन्दर दास और डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्

तुलसी—व्यक्तित्व और विचार —हरिकृष्ण अवस्थी

भारतीय संस्कृति को गोस्वामी

तुलसीदास का योगदान —बलदेवप्रसाद मिश्र
रामचरितमानस की भूमिका —रामदास गौड़
मानस-मनोविज्ञान —डा० सच्चिदानन्द सहाय
गोस्वामी तुलसीदास —शिवनन्दन सहाय
तुलसीदास और उनका काव्य —रामनरेश त्रिपाठी
विश्व साहित्य मे रामचरितमानस —श्री राजबहादुर लमगोडा
हिन्दी साहित्य का इतिहास —पं० रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास —डा० रामकुमार वर्मा
मिश्रबंधु विनोद —मिश्रबंधु
पूर्वमध्यकालीन भारत का इतिहास —डा० अवधबिहारी पाडे
भारतीय मध्ययुग का इतिहास —डा० ईश्वरीप्रसाद
कबीर ग्रंथावली —संपा० श्यामसुन्दर दास
'बीजक आफ कबीर' —संपा० अहमदशाह
भक्तमाल —टीका० नारायणदास
सूरसागर —सूरदास
पदमावत —मलिक मुहम्मद जायसी
घनानन्द-कवित्त —संपा० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त अधोलिखित पत्रिकाएँ भी उल्लेखनीय हैं :—

नागरीप्रचारिणी पत्रिका—माधुरी, विशाल भारत, सरस्वती, आलोचना,

Women in Rigveda —Bhagawat Sharan Upadhyays
Women and Marriage in India —P. Thomas
Women in Ancient India —Bader Clarissa
The Women of India —J. Murdoch
Women of India —Datta
The Position of Women in Hindu Civilization —A. S. Altekar
The Way all Women —M. E. Harding
The Mother R Briffault

Title	Author
The Position of Women in Indian life.	—Her Highness Maharani of Baroda.
The Awaking of Asian Womanhood.	—E. Cousins Margaret
Ideals of Indian Womenhood	—P. Bhattacharya
Great Women of India (The Holy Mother Birth Centenary Memorial)	—Swami Madhavanand Ramesh Chandra Majumdar
History of Women	—Fullon
Purdah	—F. H. Das
The Theology of Tulasidas	—Carpentar
Ramayan of Tulasidas or Bible of Northern India.	—J. M. Macfie
Six school of Indian Philosophy	—Chatterji and Datta
Indian Philosophy	—S. Radhakrishnan
The Hindu View of Life	"
Vaishnavism Shaivism & Other Minor Sects.	—Bhandarkar
A Short History of Muslim Rule in India	—Ishwari Prasad
Social and Religious Life in the Grihya Sutras	—V. M. Apte
Medieaval Mystics of India	—Kshitimohan Sen
Indian Social Institutions	—P. H. Balvalkar
Shakti and Shakta	—John Woodroffe
History of Dharma Shastras	—P. V. Kane